श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचितः

तन्त्रसारः

नीर–क्षीर–विवेक हिन्दी भाष्य संवलित

द्वितीयः खण्डः

[८-२२]

卐

भाष्यकारः

डॉ० परमहंस मिश्रः

प्रकाशक

प्रत्यभिज्ञा परिषद्

ए ३६, बादशाहबाग

वाराणसी

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचितः

[नीर-क्षीर-विवेक हिन्दी भाष्य संवलितः]

तन्त्रसार

द्वितीयः खण्डः

[८—२२]

भाष्यकारः

डॉ० परमहंस मिश्रः

प्रकाशक

प्रत्यभिज्ञा परिषद्

ए ३६ बादशाहबाग

वाराणसी

प्रकाशक
प्रत्यभिज्ञा परिषद्
ए ३६ बादशाहबाग
वाराणसी

© भाष्यकारके आधीन

प्रथम संस्करण सन् १९८८
१००० प्रति

गंगादशहरा २०४५
मूल्य १५०) प्रति

मुद्रक
श्री रवीन्द्रनाथ द्विवेदी
देववाणी प्रेस, मलदहिया वाराणसी

बदरीनाथ शुक्ल

पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

शुभाशंसा

'तन्यते विस्तार्यते येन तत् तन्त्रम्' जिससे विस्तारका सम्पादन हो, वह तन्त्र है। विस्तारका सम्पादन वही कर सकता है, जिसमें विस्तार करनेकी निरपेक्ष क्षमता हो। एकसे अधिक होना ही विस्तार है, मूल-भूत एकके बाद जिसकी चर्चा हो सकती है, वह विस्तारके भीतर आ जाता है। अतः विस्तारके लिये जिसे अपेक्षणीय कहा जाता है, उसके भी विस्तारका घटक होनेसे उसका प्रवर्तक मूलतत्त्व उसके सम्पादनमें अन्यानपेक्ष होनेसे नितान्त निरपेक्ष विस्तारक तत्त्व है। इस तन्त्रकी प्रतिपत्ति, इसकी शास्ति, इसका प्रतिपादन और निरूपण जिस शब्द राशि-से हो, वह तन्त्र शास्त्र शब्दसे व्यपदेश्य है। सम्पूर्ण प्रापञ्चिक विस्तार-का परानपेक्ष निर्वर्तक होनेसे प्रकाश-विमर्शात्मक परमशिव ही तन्त्र है, उसके निरूपणार्थ प्रवृत्त समग्रशब्दराशि तन्त्र शास्त्र है—शिवशास्त्र है।

परममाहेश्वर श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्यका श्रीतन्त्रालोक परम शिवात्मकतन्त्रको आलोकित करानेके निमित्त ही निर्मित है। प्रस्तुत ग्रंथ तन्त्रसारमें तन्त्रालोककर्ताने ही उसके विस्तृत प्रतिपादनके सारतत्त्व-को संक्षिप्त और सुबोध भाषा एवं शैलीमें उपन्यस्त किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य और ध्यातव्य है कि, तन्त्रशास्त्रकी सीमा अत्यन्त व्यापक हो जाती है। उसकी परिधिमें वह सारा वाङ्मय आ जाता है, जिसमें प्रापञ्चिक विस्तार और उसके मूलसाधनका प्रतिपादन हुआ है। प्रसिद्ध षड्दर्शन तो निश्चय ही तन्त्रशास्त्रकी विधा जान पड़ते हैं क्योंकि उन सभीमें तन्त्रका, जगद्विस्तारके मूलसाधनका मूल प्रवर्तकका निरूपण हुआ है।

आचार्य अभिनवगुप्तने अपनी असाधारण प्रतिभा और निरतिशय साधनासे तन्त्रको—विस्तारके मूलभूत तत्त्वको अन्य दर्शनके आचार्योंकी अपेक्षा अधिक यथार्थरूपमें अवगत किया है और उसे लोक-हितके लिये भव्य तान्त्रिक भाषा एवं तान्त्रिक शैलीमें प्रतिपादित किया है। उन्होंने तन्त्रको—समस्त विस्तारके मूलकारणको, प्रकाशान्तर-निरपेक्ष स्वप्रकाश संविद्रूप प्रतिपादित करते हुए, चित् आनन्द, इच्छा,

ज्ञान और क्रियाकी पाँच शक्तियोंसे सम्पन्न बताया है। इन शक्तियोंमें आनन्द शक्ति ही स्वातन्त्र्य शक्ति है, वही मूलशक्ति-प्रधानशक्ति है, उसीसे त्रिकदर्शनोक्त छत्तीस तत्त्वोंका प्राकट्य होकर सम्पूर्ण विश्वका विस्तार होता है, जो विस्तारक प्रकाशतत्त्वसे भिन्न न होनेसे साराका सारा प्रकाशात्मक है। स्वतन्त्र प्रकाशात्मिका परमशिवरूपा संवित् सारे विस्तारमें अनुस्यूत होते हुए साथ ही अपने विश्वोत्तीर्ण रूपमें सतत प्रतिष्ठित है। उसमें और उसकी उक्त शक्तियोंमें किंचित् भी भेद नहीं है, दोनोंमें पूर्ण सामरस्य है।

जीव, जिसे तन्त्रशास्त्रको भाषामें पशु कहा गया है, प्रकाशात्मा परमशिवकी स्वातन्त्र्य शक्तिका ही उन्मेष है। वह मलविद्ध हो संसारी बन अपने मूलस्वरूपकी पहचान खो बैठा है। प्रत्यभिज्ञा ही उसके उद्धार का—मूलस्वरूपमें उसके प्रतिष्ठानका एक मात्र साधन है और वह साधन गुरुके कृपा कटाक्षसे प्राप्य शक्तिपातके माध्यमसे ही सुलभ होता है।

तन्त्रसारमें परम माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तने इन्हीं सब तथ्यों और तान्त्रिक रहस्योंका मनोरम ढंगसे प्रतिपादन किया है। यतः तन्त्रशास्त्र नामसे व्यवहृतवाङ्मयका अध्ययन-अध्यापन एक लम्बे समयसे मन्द पड़ गया है, अतः उसकी प्रक्रिया, उसकी परिभाषायें, उसकी प्रतिपादन पद्धति, उसमें वर्णित साधना दुर्ज्ञेय और रहस्यात्मक हो गयी है, इसलिये यह आवश्यक है कि, उसे अध्ययन-अध्यापनके क्षेत्रमें लाया जाय, नये निरूपक ग्रंथोंकी रचना द्वारा उसे सुबोध बनाया जाय। इस आवश्यक कर्त्तव्यकी ओर देश, विदेशके कतिपय विद्वानोंकी दृष्टि आकृष्ट हुई है तथा एतदर्थ कार्य भी होने लगा है।

आचार्य परमहंस मिश्रका संस्कृत शास्त्रोंके प्रतिभावान् परिनिष्ठित अध्येताओंमें उल्लेखनीय स्थान है। उन्हें प्रशस्त चिन्तन शक्ति, सहज कवित्वशक्ति एवं रचनाकी स्तुत्य प्रवृत्ति परम शिवके वरदान रूप में प्राप्त है। प्रसन्नताकी बात है कि, वह अपने वरदानका विनियोग तन्त्रशास्त्रको प्रकाशमें लानेके निमित्त कर रहे हैं। दो खण्डों में तन्त्रसारकी हिन्दी व्याख्या और नीरक्षीर-विवेक भाष्य तन्त्रशास्त्रके जिज्ञासुओंके लिये उनका एक अनुपम उपहार है। मेरी कामना है कि, मनीषी परमहंसकी लेखनी-कल्पलतासे तन्त्रशास्त्रके अध्ययनेच्छुओंको ऐसे उपहार निरन्तर उपलब्ध होते रहें।

बदरीनाथ शुक्ल

नीर-क्षीर-विवेक-विमर्श

तन्त्रसारके द्वितीय खण्डका नीर-क्षीर-विवेक-विमर्श महाभाष्य संविद् शक्तिका एक ललित उल्लास है। इसका प्रथम खण्ड चिदानन्दके चैतन्यकी मरीचियों से मण्डित होकर सारस्वत पुरुषका शृङ्गार हार हो रहा है। आज अपनी दार्शनिक दिव्यतासे संविद्विमर्शकी मनोषाके अनछुए रहस्योंको खोलनेके लिये यह द्वितीय खण्ड प्रस्तुत है।

यह बड़े ही आश्चर्यका विषय है कि, एक ही तत्त्व अपने मूलरूप में अविकारी भावसे रहता हुआ भी समस्त भुवन मण्डलमें अपनी समग्रता-के साथ विद्यमान है। वही परमकारण है। उससे ही कार्यकी परम्पराका सूत्रपात होता है। पारमार्थिक कारणका 'स्व' रूप क्या है? क्या वह कर्त्तृत्वमय है? क्या वह सर्वज्ञ है? पूर्ण है? अकालपुरुष है? सर्व व्यापक है? क्या वह इस अनुपम 'स्व' रूपका स्वयम् आच्छादन करता है? इससे उसके विराट् रूपका संकोच हो जाता है? क्या वह संकोच भी उसकी इच्छाका ही परिणाम है? क्या यह अज्ञान है? क्या अज्ञान ही मल है? पृथ्वी आदिकी तरह क्या मल भी वस्तु है? मलसे ग्रस्त शिव पशु बन जाता है। यह आणव मलका प्रभाव है। आणव मलसे कर्म-वैचित्र्यकी उत्पत्ति होती है। क्या कर्मवैचित्र्यकी इस परम्पराको रोका जा सकता है? अथवा यह प्रवाह शाश्वत है? अणुकी भोगवासनाकी सिद्धि करने वाला क्या अघोरेश शिव ही है? क्या इस अद्भुत उल्लास विलासकी परम्पराका नाम ही संसार है? यह सृष्टिका उल्लास चिद्, अचिद् या चिदचिद् रूपोंमें अवभासित क्या चितिशक्तिका ही ऐश्वर्य है? क्या यह जड़ है? जड़में अवभासनकी शक्ति नहीं होती। तो क्या यह किसी ऐसो शक्तिका चमत्कार है, जो स्वयम् उपादान बन कर कार्यमें परि-णत हो जाती है? क्या यह अशुद्ध है? अथवा शुद्ध अध्वाका ही यह अशुद्ध अध्यवसाय है?

ये सारे प्रश्न अपना शाश्वत समाधान चाहते हैं? सारे दर्शन इन्हीं प्रश्नोंकी उधेड़ बुनमें, इन्हीं ऊहापोहोंमें, इन्हीं तर्क वितर्कोंमें लगे हुए हैं। प्रस्तुत ग्रंथ इन तत्त्वों-तथ्योंकी गहराईसे छानबीन करता है। यह स्पष्ट

घोषित करता है कि, पञ्चमहाभूत, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ ,मूल, पुरुष, कञ्चुक और शुद्ध विद्यासे शक्ति पर्यन्त सारा प्रसार स्वात्म संविद्रूपो सिन्धुकी तरङ्गोंके प्रसारका एक विलक्षण उल्लास मात्र है।

इस दर्शनके अनुसार शिव, मन्त्रमहेश, मन्त्रेश, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल ये सात पुरुष हैं। इनको सात शक्तियाँ हैं। 'पाञ्चदश्य' सिद्धान्त के अनुसार प्रमातृ-गत भेदवादका उपवृंहण होता है और सोलह तुटियोंमें वेद्यके आवेशका आधार प्राण बन जाता है। परिणामतः विकल्पमें विश्रान्ति हो जाती है। अहंतासे आच्छादित इदन्ताके विकल्प कलापोंके प्रसारमें–भेदवादमें रत रहनेके कारण विमर्शकी वास्तविकतासे वंचित रह कर असावधान होना ही शैव महाभावसे दूर हो जाना है।

इस प्रकार भेदवादका यह भूधर चेतनाके ऊपर भार बन कर विराज मान है। इदम् इदम्, इदम् अहम् और केवल अहम् की क्रमिक अनुभूतियोंके कारण जब कोई भाग्यशाली साधक स्वात्म संविद्के विमर्शसे अनुप्राणित होता है—उस समय उसे तत्काल किसी अधिकारी गुरुकी आवश्यकता होती है, गुरु उसे प्रकाश पंथका पथिक बनाकर लक्ष्यका साक्षात्कार करा देता है। इसी प्रक्रियाका नाम दीक्षा है। 'दीक्षा' से शक्तिपात' का सीधा सम्बन्ध है। प्रस्तुत ग्रंथके ग्यारहवें आह्निकमें शक्तिपातका विशद विवरण है।

इसके बादके आह्निकोंमें दीक्षाके स्वरूपका निरूपण किया गया है। सर्वप्रथम चिन्मय आनन्द स्वरूप स्वात्ममें अन्य रूपके उच्छलनके अभिमानका निराकरण आवश्यक है। पारमेश्वर समावेशकी दृढ़ इच्छाशक्ति कैसे उत्पन्न हो; इसके लिये दीक्षाका सूत्रपात होता है। स्नान और शुद्धि, यागस्थान, मण्डप प्रवेश, न्यास, मालिनी और मातृका शक्तियोंका अनुसन्धान और एक आगमिक कर्म काण्डकी अभिनव शैलीका अनुसरण जिससे परमेश्वराभेदप्रतिपत्ति स्वभावतः जाग्रत हो जाय—यह सब दीक्षा विधि में अनिवार्यतः करणोय है।

दीक्षा की अनेक विधियाँ हैं। इनमें समय दीक्षा, सप्रत्यय दीक्षा, परोक्षदीक्षा, लिङ्गोद्धार, अभिषेक, श्राद्धदीक्षा; शेषवर्त्तन आदि दीक्षा विधियों की सोपान परम्परा है, जिसको अपना कर साधक तात्पदिव्यकाञ्चन बनकर निखर उठता है।

प्रथम खण्ड में विज्ञान भेद, अनुपाय प्रक्रिया, शाम्भव, शाक्त और आणवोपाय प्रक्रिया, कालाध्वा और देशाध्वा विषयोंका निरूपण किया गया था। इस द्वितीय खण्डमें शास्त्रके स्वरूप विवेचनके साथ ही साथ दीक्षा और शक्तिपातके प्रकारोंका दिग्दर्शन कराकर आगमप्रामाण्यका प्रतिपादन किया गया है।

तन्त्रसारके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें आये हुए प्राकृत श्लोकोंको संस्कृत छायाकी रचनामें मैंने यह ध्यान रखा है कि, भावके प्रकाशनमें कहीं अन्तर न आने पाये। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'तन्त्रसार' मूल ग्रन्थमें प्रत्येक आह्निकके अन्तमें प्राकृत श्लोक दिये गये हैं। ये माहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तके स्वरचित श्लोक हैं। इनकी संस्कृत छाया उन्होंने नहीं लिखी। तबसे इस पर कोई टीका भी नहीं की गयी। मैंने जव नीरक्षीर विवेक महाभाष्य लिखना शुरू किया—मेरे सामने यह समस्या थी कि, क्या उनका अर्थ मात्र कर दूँ या संस्कृतके अध्येताके सौविध्यकी दृष्टिसे इसकी संस्कृत छाया भी लिखनेका प्रयास करूँ? अन्तमें मैंने संस्कृत छायाकी रचना भी की। यद्यपि मैं प्राकृतका विद्वान् नहीं हूँ फिर भी इस प्रयासको आचार्योंका समर्थन मिला।

प्रथम खण्डमें श्रीठाकुर जयदेव सिंह द्वारा लिखित आमुखमें यह तथ्य स्पष्ट नहीं हो सका है। उससे यह भ्रम हो जाता है कि प्राकृत-श्लोकोंको संस्कृत छाया पहलेसे ही थी। मेरी पाण्डुलिपिको देखकर ही उन्होंने लिख दिया। मूलग्रन्थसे मिलान करनेपर वे ऐसा नहीं लिखते क्योंकि 'तन्त्रसारः' मूल ग्रन्थमें संस्कृत छायाका प्रश्न ही नहीं है। यह मेरा प्रयास है।

इसी सन्दर्भमें एक बात और कहनी है। हिन्दी साहित्यमें 'प्रसाद' पर मेरा विशेष अध्ययन है। प्रसाद पर प्रत्यभिज्ञादर्शनका प्रभाव हिन्दी साहित्यके इतिहासकार एक स्वरसे स्वीकार करते हैं। 'प्रसाद और प्रत्यभिज्ञा दर्शन' मेरे दार्शनिक स्वाध्यायका प्रकाश है। उसी सन्दर्भमें मैंने संस्कृत साहित्यके शाक्त शैवदर्शनसे सम्बन्धित 'श्रीतन्त्रालोकः' सदृश ग्रन्थोंका आलोडन किया। 'तन्त्रसार' पर नीरक्षीर विवेक महाभाष्य १९८४ मे ही पूर्ण हो गया था। इसको दो खण्डोंमें

प्रकाशित करना भी कलेवरकी दृष्टिसे आवश्यक था। यह दूसरा खण्ड सन् १९८८ में प्रकाशित हो रहा है—यह कालाध्वाके प्रमाताकी महती कृपा है। दोनों खण्डोंके प्रकाशमें यह त्रिकवर्ष का अन्तर षडर्ध दर्शनकी मान्यताके अनुकूल है। प्रथम खण्ड विश्वोत्तीर्ण खण्ड है और यह विश्वमय खण्ड। इस तरह शिववपुष्का रहस्य यहाँ भी अनुस्यूत है।

हिन्दी भारतीका भर्ग मेरी भाषामें किस प्रकार परिभाषित हुआ है—इस ओर मेरा ध्यान नहीं गया। मैंने स्वात्म संविद्की विभासे इसे आलोकित करनेका यह अभिनव और विनम्र प्रयास किया है। मेरा 'हंस' इस नीर-क्षीर-विवेक विमर्शके कैलाशकी यात्रामें आपको भी सहयात्री बनाकर आनन्दका अनुभव कर रहा है।

आचार्यवर्य श्रीमान् पं बदरीनाथ शुक्ल इस युग की सारस्वत विभूति हैं। उनका आशीर्वाद मुझे सदा प्राप्त है। उनके वात्सल्य पीयूषसे मेरा अस्तित्व आप्यायित है। तन्त्र दशनके रहस्य पक्षोंके उद्घाटनमें मेरो सफलताका कारण है-ऐसे विश्वविश्रुत अदूष्य-वैदुष्य विभूषित विद्वद्वरेण्यका वरदान। उनकी 'शुभाशंसा'में मेरी सारस्वत साधनाके भविष्य की आभा है। उन्हें शत शत प्रणाम।

प्रिय रवीन्द्र नाथ देववाणी प्रेसके संचालक हैं। इस ग्रंथका मुद्रण करना एक प्रयास साध्य कार्य रहा है। इसको मनोयोगसे पूरा करनेके लिये इन्हें मेरा आशीर्वाद।

अन्तमें मैं अपनो गुरु, अप्रत्यक्ष रहती हुई भी शाश्वत प्रत्यक्ष, प्रेरिका परमाम्बाके पदारविन्दकी अरुणिमामें अपने अस्तित्वको समाहित कर रहा हूँ—जय जय देवि शिवे!

विदुषां वशंवद-

परमहंस मिश्र

विषयानुक्रमः

शुभाशंसा—श्री पं० बदरीनाथ शुक्ल
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

नीर-क्षीर-विवेक विमर्श—भाष्यकार

अष्टममाह्निकम् [आठवाँ आह्निक] तत्त्वाध्वा निरूपण (तत्त्व स्वरूप प्रकाशन) पृ० १—५०

विभवात्मक भुवनजालका परमशिवरूपत्व १—२ तत्त्वकी परिभाषा और कार्य कारण भाव, पारमार्थिक और सृष्ट २ —४ 'कल्पित' और अकल्पित ४—६ पारमार्थिक कारण सामग्रीवाद, वस्तु स्वरूप निष्पत्ति और कार्यका विजातोयत्व ६—८संवेदन स्वातन्त्र्य स्वभाव परमेश्वर और कुम्भकार संविद्, मेरु-घटका दृष्टान्त ८—९ गोमय कीट ९-१० परमेश्वरकी पाँच शक्तियाँ—चित्प्राधान्यमें शिवरूपता, आनन्द प्राधान्यमें शक्तितत्त्वता, इच्छा प्राधान्य सदाशिव, ज्ञान-शक्ति प्राधान्य ईश्वर तत्त्व, क्रियाशक्ति प्राधान्य-विद्यातत्त्व १०—१२ तत्वेश्वर, अनुगतिविषय शुद्ध अध्वा, कर्त्ता शिव १२—१३ अशुद्ध अध्वाके सर्जक अनन्त-अघोरेश, अशुद्ध अध्वाके सृजनका उद्देश्य, अकर्मक अभिलाष, लोलिका, अपूर्णम्मन्यता रूप परिस्पन्द, कर्म और राग १३—१४ मल, परमेश्वरकी स्वात्मप्रच्छादनकी इच्छा, विज्ञान केवल, ध्वन्सोन्मुख मल १५ प्रलय केवल, संसार वैचित्र्य भोगका निमित्त मलोपोद्बलित कर्म, अघोरेशकी सृष्टि और उद्देश्य, मलका प्रक्षोभ और ईश्वरेच्छा, १६—१७ अणु, अणुका चित् और अचित् रूप, माया, जड़ और व्यापक तत्त्व १७—१८ कलादिधरान्त तत्त्वोंका द्वैरूप्य, माया—केवलान्वयी हेतु १९—२० सिद्ध, मायासे अक्रम और क्रम विश्वप्रसव २१ प्रत्यात्म कलादिवर्ग भिन्न २२—२३, कला मायाका कार्य, किंचित्कर्त्तृत्वप्रद कला २४ माया पुरुष विवेक, मायोर्द्ध्व स्थिति, प्रकृतिपुरुष विवेक, मल पुरुष विवेक, अज्ञका अकर्त्तृत्व २५—२७ अशुद्ध विद्या, बुद्धिप्रतिबिम्बित भाव, वैराग्य और अवैराग्य २७--२९ काल और नियतिके व्यापार, कलासे काल, विद्या, राग और नियतिकी

उत्पत्ति, पशु २९—३१ छःकञ्चुक, किंचिद्विशिष्टकर्त्तृत्व ३१—३३ सुख दुःख और मोह, प्रकृत सर्ग, कला तत्त्वायत्ता सृष्टि ३३—३४ क्रम और अक्रमावभास सृष्टि, प्रक्षोभगत गुण तत्त्व ३४—३६ सांख्यसे अपरिदृष्ट गुणतत्त्व ३६—३७ बुद्धितत्व, अहंकार, सांख्यदृष्टि और शैव दृष्टिमें भेद ३७—३९ करण स्कन्ध, प्रकृतिस्कन्ध, सात्विक राजस तामस तीन भेद मन और ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति, मन और बुद्धि इन्द्रियाँ, ३९—४० श्रोत्र, घ्राण, कर्त्रंश-अंहकार, विद्या कलाके सन्दर्भमें अन्ध और पङ्गुका उदाहरण, ४१—४२ कर्मेन्द्रियपञ्चक, करणका कार्य, क्रिया, काणादतन्त्रका गुण ४३—४४ अनुसन्धि, वागिन्द्रिय, राजसस्कन्ध का उपश्लेष ४६—४७ भोक्त्रंशके आच्छादक, तम प्रधान अहंकारसे तन्मात्रायें, अक्षोभात्मक प्राग्भावि सामान्य, शब्दतन्मात्र, नभ, वायु ४६—४७ तेज, अप, गन्ध, धरणी, गुणका उत्कर्ष, शक्तितत्व ४७—४९ विद्यादि शक्त्यन्त प्रसर, स्वात्म संवित्के प्रसरका प्रकार, सकल तत्व परिव्याप्त सकल तत्वोत्तीर्ण, पर्यन्तधाम सर्वव्यापक परमशिव ४९—५०

नवममाह्निकम् [नवाँ आह्निक] तत्त्वाध्वा—तत्त्वभेद निरूपण प्रकरण पृ० ५१—८३

सात शक्तिमन्त, उनकी सात शक्तियाँ, पञ्चदशत्व, अपरा, परापरशक्तियोंका अनुग्रह और इनका स्वात्मनिष्ठ शाक्त रूप ५१–५२ शक्तिमान् शिवका स्वरूप, प्रमातृभेद ५२–५३ शाक्तभेद ५३–५५ करणभेदका कर्त्तृभेदमें पर्यवसान, चित्स्वातन्त्र्यानन्दविश्रान्त एक प्रमाता, शिवशक्तिनिष्ठ और शिवस्वभावविश्रान्त विश्व ५६–५८ भावकी वेद्यता पर विचार ५८–५९ अनन्तप्रमातृसंवेद्य शिवका एक ही रूप, अर्थक्रिया प्रकाशविमर्शोदय और पञ्चदशत्व ६०–६२ पन्द्रह प्रमाताओंके भेद ६२–६५ धरा प्रमाता ६६–६८ धराप्रमाताओंका चातुर्दश्य, एक प्रमाताकी प्राणप्रतिष्ठाकी दृष्टिसे विवेचना, तुटियोंकी संख्या एवं पाञ्चदश्य सिद्धान्त ६८–७२ ग्राह्यग्राहक संवित्तिमें सावधानता ७२–७३ तुटिपात ७३–७५ स्वप्न जाग्रत् और सुषुप्ति ७५–७६ प्रमेयप्रमाण और प्रमाता ७७–७८ तुर्य और तुर्यातीत दशायें ७८–८० प्रत्यभिज्ञावादियोंका पञ्चपदत्व ८०–८१ स्वात्मसत्ताकी अधिगतिका उपदेश ८१–८३

दशमम् आह्निकम् [दसवाँ-आह्निक] कलाध्व प्रकाशन ८४–९५

कलाकी परिभाषा ८४ निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता कलायें, पार्थिव, प्राकृत, मायीय नामक अण्डचतुष्टय ८५–८६ शान्तातीता, ३६ तत्त्व ८६–८८ सैंतीस और अड़तीसतत्त्व, आत्मकला, विद्याकला, शिवकला रूप त्रितत्त्वविधि ८८–९० छः भुवन-तत्त्व-कला-पद-मन्त्र और वर्ण अध्वा ९०–९१ संग्रह श्लोक ९१–९३ प्राकृत श्लोकोंमें शिवतत्त्व निरूपण ९३—९५

एकादशमाह्निकम् [ग्यारहवाँ आह्निक] दीक्षा—शक्तिपात प्रकाशन प्रकरण ९६–११७

अज्ञानमूलक संसार और शक्तिपात ९६–९८ भेदवादियोंके तर्क ९८–१०० अणु १००–१०१ भोगोत्सुक, भोगमोक्षोभयोत्सुकके ऊपर शक्तिपात १०१–१०२ नवधा शक्तिपात १०३–१०४ यियासु दीक्षा १०५–१०८ शक्तिपातमें, तारतम्य १०८–११० गुरु ११०–११३ तिरोभाव ११३–११४ इच्छावैचित्र्य और शक्तिपात, स्वात्ममें पंचकृत्य-कर्तृत्व, अखण्डभाव ११५–११६ निरपेक्ष शक्तिपात, ११६–११७

द्वादशमाह्निकम् [बारहवाँ आह्निक] स्नानप्रकाशन प्रकरण ११८–१२५

दीक्षाके पहलेके कर्त्तव्य (स्नान) ११८ शुद्धि, कालुष्य ११८–११९ अशुद्धि और उसका व्यपोहन, भेद, परमेश्वर समावेश ११९–१२१ आठ स्नानोंके मुख्यफल १२१–१२२ वीरसाधन मन्त्रचक्रपूजन १२२ बाह्य और आन्तर स्नान १२३–१२४ परमानन्द निमज्जन ही स्नान १२४–१२५

त्रयोदशमाह्निकम् [तेरहवाँ आह्निक] समयदीक्षा प्रकाशन १२६–१६२

यागस्थान, ध्येय तादात्म्य, विक्षेपका परिहार १२६–१२७ यागस्थानके बाहर सामान्य न्यास, मालिनीशक्ति १२७–१३० पूजाका उद्देश्य, यज्ञ और यज्ञकर्त्ताका आधार, शुद्धिक्रम, परमेश्वर रूपता १३०–१३२ प्रोक्षण, न्यास विधिसहित पूजन, यागगृहप्रवेश १३२–१३३ मध्य, ऊर्ध्व और अधः दिक् १३३–१३४ मूर्त्तिकृत दिग्भेद १३४–१३६ देहभाव दाहन, छः प्रकारके न्यास १३७–१३८ न्यासमें कारण—अधिष्ठान, पूजन १३८–१४० शूलाब्जन्यास १४०–१४१

व्यापिनी, समना, उन्मनाका विश्वमय भेद, विश्वभावार्पण, पूजन, ध्यान, जप, होम, द्वादशान्त त्रिशूल खेचरताकी प्राप्ति, १४२–१४४ अन्तर्याग, बहिर्याग १४४ अधिवासन, भूमिपरिग्रह अन्य विधियाँ, पूजन·

पकरणयोग्यतार्पण, १४४–१४६ भूपरिग्रह, मन्त्रित कुम्भ १४६–१४७ द्वितीयकलश, कलशमन्त्र १४७ कर्मकाण्ड, शिवाग्नि भावन, तिल घी संस्कार १४८–१४९ स्रुव स्रुवा संस्कार, पूर्णाहुति मन्त्रचक्र सन्तर्पण १४९–१५० चरु, होम, बद्धनेत्र शिष्यका प्रवेश, पुष्पांजलि, मन्त्रसन्निधि १५०–१५२ शिष्यपाश दाह, गुरु शिष्यैक्यभाव १५२–१५३ स्वप्न, अस्त्रसे स्वप्ननिष्कृति, शिष्य शरीरमें प्राणक्रमसे प्रवेश, ४८ संस्कार, समयो १५४–१५६ मन्त्र (गुरुमन्त्र) गुरुभक्तिविधान १५६–१५८ शिष्यकर्त्तव्य १५८–१६० सामयिक विधि १६०––१६१ उपसंहार १६२

चतुर्दशमाह्निकम् [चौदहवाँ आह्निक] पुत्रकदीक्षा प्रकरण १६३–१७७, तन्त्रालोककी चर्चा और दीक्षाविधि १६३—१६५ अध्वा-न्यास और त्रिशूल, अरा और उनमें देवीका अधिष्ठान १६५--१६६ मध्य अरा-पूजन, पञ्चाधिकरण अनुसन्धि, वित्तशाठ्य निषेध, पशुबलि १६६—१६८ वपाहोम, परोक्षदीक्षा, भोगेच्छु मुमुक्षु विचार १६८—१७० गुरु शिष्य ऐक्य विश्रान्ति १७१—१७२ भोगेच्छुदीक्षा १७२—१७३ योजनिका क्रम, पूर्णाहुति, पुत्रकदीक्षाका उपसंहार १७३—१७४ शिवात्मभाव प्राप्ति १७५—१७६ भैरवभाव १७६—१७७

पञ्चदशमाह्निकम् [पन्द्रहवां आह्निक] सप्रत्यय (सद्यः समुत्क्रमण) प्रकरण १७८—१८३

शिष्य चैतन्य विधान, योजनिका पूर्णाहुति १७८—१७९ बुभुक्षु, शिवहस्तदानविधि १८०–१८२ निर्बीज दीक्षा, मर्मकर्त्तनविधि १८२–१८३

षोडशाह्निकम् [सोलहवाँ आह्निक] दीक्षा प्रकाशन १८४—१९४

परोक्षदीक्षाभेद—१—जीवित, २—मृत १८४—१८५ मृत दीक्षामें अधिवास आदि और चक्र प्रक्रिया, जाल नामक प्रयोग १८५—१८८ परमेश्वर ही गुरु रूप १८९—१९० मृतोद्धरण १९०—१९१ जीवित दीक्षाका क्रम १९१—१९३ परोक्षदीक्षाका अधिकारी गुरु १९३—१९४

सप्तदशमाह्निकम् [सत्रहवाँ आह्निक] लिङ्गोद्धार प्रकरण पृ० १९५—१९७

अनधिकृत अधर शासन, उनसे शिष्यका उद्धार, पूर्व स्वीकृत दीक्षाका जलमें प्रक्षेप, अन्य कार्य १९५—१९६ शिवीकृत अग्नि, मन्त्र और

जप तथा होम, लिङ्गोद्धार, अधिवास और दीक्षा १९६—१९८ अधरस्थ भी दीक्ष्य १९८—१९९ उपसंहार श्लोक १९९

अष्टादशमाह्निकम् [अठारहवाँ आह्निक] अभिषेक प्रकरण पृ० २००—२०४

अनुग्रहका अधिकार २००—२०१ छमाही विधि, दीक्षितको विद्या-व्रत, दीक्षितकी ज्ञानदानमें परीक्षा २०१-२०२ उपसंहार श्लोक २०४

एकोनविंशमाह्निकम् [उन्नोसवाँ आह्निक]—श्राद्ध दीक्षा प्रकाश प्रकरण पृ० २०५—२११

विंशमाह्निकम् (बीसवाँ आह्निक) शेषवर्त्तनप्रकाशन प्रकरण २१२—२४०

नित्य नैमित्तिक और काम्य शेषवर्त्तन, २१२–२१४ गुरुमुखसे शिष्यको मन्त्रार्पण, तन्मयोभावाभ्यास और अर्चन २१४–२१५ परमोपादेय हृदयका भाव २१६–२१७ देहसदनमें देवार्चन २१७–१८ स्थण्डिलयाग २१८–२१९ परमसंस्कार २१९–२२१ पर्वविधि २२१–२२३ अनुपर्व २२३–२२४ चक्रयाग में पूज्य २२४–२२५ नरशक्ति शिवात्मक त्रितयमेलक, तर्पण, चक्रभ्रमण २२५–२२६ भद्र, वेल्लितशुक्ति, वीरसंकरयाग २२६–२२८ मूर्त्तियाग, शक्तिपातमें गुरूपदेश २२८–२२९ पवित्रक विधि २२९–२३२ अनुयागमें विशेष कर्त्तव्य २३२ व्याख्याविधि २३३–२३५ समयनिष्कृति २३६–२३८ गुरुपूजाविधि २३८–२३९ उपसंहारश्लोक २३९–२४०

एकविंशमाह्निकम् (इक्कीसवाँ आह्निक) शेषवर्त्तन प्रकाशन प्रकरण २४१–२५१

आगम प्रामाण्य २४१–२४२ समस्त आगमोंका एकेश्वरकार्यत्वमें प्रामाण्य २४२–२४५ आगमप्रसिद्धिशास्त्रार्थ २४५–२४८ प्रसिद्धियाँ और परिणाम २४८–२४९ उपसंहार २५०–२५१

द्वाविंशमाह्निकम् (बाइसवाँ आह्निक) कुलयाग प्रकाशन प्रकरण २५२–२८३

कौलिक प्रक्रिया और उपासना २५२–२५४ प्राणसंविद् देहैक्यभाव २५४–२५६–बाह्यमंत्रोच्चारका कारण २५६—२५९ करणचक्रानुवेध,

देहचक्र, मन्त्रचक्र सर्वं संविन्मय २५९—२६३ बाह्ययाग २६३—२६४ चक्रानुचक्रपूजन २६४—२६७ शक्तिका लक्षण २६७—२६८ चक्रानुसन्धान २६८—२६९ संविद्चकानुप्रवेश २६९—२७० यामलशक्तिशक्तिमान् संघट्ट २७१—२७२ शान्तोदितविमर्श २७२—२७३ देवीचक्र और मन्त्रचक्र २७३—२७४ खेचरमुद्रा योगक्रम २७५—२७६ नादभैरव २७६—२७८ खेचरी मुद्रासे सिद्धि २७८—२७९ यामलयागपूर्णता २७९—२८१ सप्तम सर्वोत्तम कुलयाग २८१—२८२ उपसंहार श्लोक २८२—२८३

ओम् तत्सत् स्वात्मसंविद्वपुषे शंभवे नमः

अथ

तन्त्रसारः

श्रीमन्महेश्वराचार्यवर्यश्रीमदभिनवगुप्तविरचितः

[द्वितीयः खण्डः]

[८-२२]

अष्टममाह्निकम्

अथ तत्त्वाध्वा निरूप्यते

यदिदं विभवात्मकं भुवनजातमुक्तं गर्भीकृतानन्तविचित्र-भोक्तृभोग्यं, तत्र यदनुगतं महाप्रकाशरूपं तत् महासामान्यकल्पं परमशिवरूपम् ।

जो यह विभवात्मक भुवनोंका समूह वर्णित किया गया, (यह) अनन्त भोक्ता और भोग्यके वैचित्र्यको अपने गर्भमें (धारण किये हुए है)। इसमें व्याप्त महाप्रकाशरूप[1] (एक तत्त्व हैं) । वही महा सामान्य कल्प परमशिव है ।

इस संसारको देखने और समझनेका संसारी पुरुषोंका एक अलग ढङ्ग है, वे संसारको ठीक संसारके रूपमें देखते हैं। इसके वैभव, ऐश्वर्य, आकर्षण, चाकचिक्यसे चमत्कृत होते हैं। इसीको सत्य मान लेते हैं। यह ऐसा ही है, यह मान लेना एक आरोप है। यह सांसारिकता से प्रभा-वित है।

१—'नाप्रकाशः प्रकाशते'।

जब कोई मनुष्य इसके भीतर पैठकर इसकी वास्तविकताको जाननेका प्रयत्न करता है, तो उसकी आँखें खुलने लगती हैं। वह देखता है कि, इसमें बड़ा वैचित्र्य है। यह ऐश्वर्य उल्लासमय भोग्य है ! फिर वह सोचता है—इसका भोक्ता कौन है ? भोक्ताकी बात मनमें आते ही मर्त्यभोक्ताओं की पंक्तिकेसाथ एक अमर अपरोक्ष भोक्ताकी बात सामने आती है। उसे यह साफ झलकने लगता है कि, इसमें व्याप्त एक महाप्रकाश है। वह अणु-अणु कण-कणमें सामान्यतः समाया हुआ है। उसे शास्त्रकारोंने परम शिव कहा है।

इस भावनाके प्रौढ़ होते ही प्रथम आरोप (यह संसार है) का अपसारण हो जाता है। तत्त्व का साक्षात्कार होने लगता है। आरोप, अपसारण और तत्त्वदर्शन यही तीन क्रम है—जिसमें सारी साधना, सारी उपासना, सारे विचार, सारी मनीषा समाहित है। समस्त दर्शनोंके मूलमें यही विचारधारा काम करती है। यह भी स्पष्ट है कि—सत्य-दर्शनकी लालसा भी इसी क्रमसे पूरित होती है। परमेश्वरका स्वातंत्र्य और उसका यह विस्फार (भुवन), सब संविद्विमर्शके विषय हैं।

यत्तु कतिपय कतिपय भेदानुगतम् रूपं तत्तत्त्वं, यथा पृथिवी नाम धृति–काठिन्य–स्थौल्यादिरूपा कालाग्नि प्रभृति वीरभद्रान्तभुवनेशाधिष्ठित–समस्त–ब्रह्माण्डानुगता। तत्र एषां तत्त्वानां कार्यकारणभावो दृश्यते, स च द्विविधः पारमार्थिकः सृष्टश्च। तत्र पारमार्थिकः एतावान् कार्यकारणभावो यदुत कर्तृस्वभावस्य स्वतन्त्रस्य भगवत एवंविधेन शिवादि धरान्तेन वपुषा स्वरूपभिन्नेन स्वरूपविश्रान्तेन च प्रथनम्।

जो कतिपय कतिपय भेदानुगत रूप (दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है वह) तत्त्व है। जैसे पृथ्वी। इसमें तीन गुण हैं १–धृति, २–काठिन्य और ३-स्थौल्यादि। कालाग्निसे लेकर वीरभद्र तक भुवनेश्वरोंमें अधिष्ठित समस्त ब्रह्माण्डमें अनुगामितया विद्यमान पृथ्वी तत्त्व [सर्वमान्य है]।

कार्य कारण भाव दो प्रकार का होता है। (१) पारमार्थिक और सृष्ट (कल्पित)। कर्तृस्वभाव स्वतन्त्र भगवान्का धरासे शिव पर्यन्त रूपोंमें अपने रूपसे भिन्न अथवा अपने रूपमें विश्रान्त भावसे प्रथनही पारमार्थिक कार्य कारण भाव है।

इसका तात्पर्य कर्त्तृकर्मभावसे है क्योंकि कार्य आभासनक्रियाका विषय होता है। कर्म ही कार्य हो जाता है। जैसे बीज और अंकुर। अंकुर कार्य बीजमें ही विश्रान्त होता है।

यह विस्मयजनक विचारणीय विषय है कि, एक ही तत्त्व अपने मूल रूपमें अविकारी भावसे रहता हुआ भी समस्त भुवन मण्डलमें समग्रताके साथ विद्यमान है, वही पृथ्वी रूपसे भी परिदृश्यमान है। प्रश्न है— पृथ्वी क्या है। शास्त्र कहता है—'गन्धवती पृथ्वी'। गन्धके साथ ही साथ 'धृति' उसका विशेष गुण है। 'काठिन्य' अर्थात् ठोस (घन) होना उसका तीसरा गुण है। स्थूलता उसकी अनिवार्यता है।[1] उसमें १६ पुरोंका आकलन है। यह पार्थिवाण्ड है। कालाग्निसे लेकर वीरभद्र पर्यन्त भुवनेश इसमें अधिष्ठित हैं। इसकी सीमामें नरक, भूतल स्वर्ग पाताल सभी आते हैं। इनकी विशद चर्चा सप्तम आह्निकमें है। धृति आदिके कारण पृथ्वी ब्रह्माण्डका अन्तिम तत्त्व है।

कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है। कारणसे निष्पन्न विकार ही कार्य है। यही कार्य-कारण भाव[3] है। स्वर्णसे आभूषण बनता है। स्वर्ण कारण है। आभूषण उसीमें विश्रान्त रहता है। लोकप्रतीतिके अनुसार आभूषण कार्य है। इस प्रकार विश्वमें कार्यकारण भाव व्याप्त है। आन्तर, ग्राह्य और बाह्य भेदसे यह तीन प्रकार का होता हुआ भी वस्तुतः कार्यकारण भाव दो प्रकारका ही होता है—(१) पारमार्थिक और (२) सृष्ट।[२] पारमार्थिक कारण-स्वयं कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथाकर्त्तु समर्थ परमेश्वर परम शिव ही है। उसका 'स्व' भाव ही कर्तृत्व मय है। वही

१—तं० ९। ३ २—तं० ९।७ (शिवेच्छापरिकल्पितः)

३ काल्पनिकः नियत्यवस्थापितः कार्यकारणभावः।

सर्व-कारण-रूप है। वही सभी पदार्थोंका कारण है। कारण रूपसे सबमें भरा और रमा हुआ है। वही 'स्व' रूपसे भिन्न-पार्थक्य-प्रथाका प्रथन करता है। अतः वही पारमार्थिक कारण है।

वस्तुतः यह विश्व प्रकाश-परमार्थ ही है। तत्त्वोंकी पृथक् सत्ता अमान्य है। शिवके स्वातन्त्र्यके गुणके कारण ही इसमें ३६ तत्त्व[१] प्रतिभासित होते हैं। पृथ्वी ३६ तत्त्वोंमें अन्तिम तत्त्व है। पृथ्वी सेलेकर शिवपर्यन्त इस महाविस्तारका कार्यकारणभाव अत्यन्त विचारणीय विषय है। इसका पारमार्थिक कारण आदि महेश्वर ही है।

कल्पितस्तु कार्यकारणभावः परमेशेच्छया नियति प्राणतया निर्मितः । स च यावति यदा नियतपौर्वापर्यावभासनं सत्यपि अधिके स्वरूपानुगतम् एतावत्येव तेन योगीच्छातोऽपि अङ्कुरो बीजादपि, स्वप्नादौ घटादेरपीति। तत्रापि परमेश्वरस्य कर्तृत्वानपाय इति अकल्पितोऽपि असौ पारमार्थिकः स्थित एव ।

कल्पित कार्यकारण भाव परमेश्वरकी नियति प्राणवती इच्छासे निर्मित है। जहां और जब निश्चित पूर्वापरका अवभासन होता है, यह भाव वहाँ। कार्यगत] आधिक्यके रहते हुए भी स्वरूपके अनुगत [ही रहता है]। उतनेमें [कारणमें] ही [विश्रान्त रहता है]। पौर्वापर्यनियमात्मक कार्यकारण भावके परमेश्वरकी इच्छासे ही अवभासित होनेके कारण योगीकी इच्छासे निरुपादान अङ्कुर [निकल आता है] साथ ही बीजसे भी अंकुर होता है। स्वप्नमें घटसे भी अंकुर (निकल आता है) जागृति पर्यन्तघटाङ्कुरके अवभासन होनेसे भी] परमेश्वरका कर्तृत्व अक्षुण्ण है। इस प्रकार अकल्पित भी वह पारमार्थिक रूपसे स्थित है।

१—आमहाप्रलयस्थायि सर्वप्राण्युपभोगकृत्।
तत्त्वमित्युच्यते तज्ज्ञैर्नं शरीरघटाद्यतः ॥

अकल्पित कार्यकारणमें 'नाप्रकाशः प्रकाशते'का सिद्धान्त लागू होता है। तदनुसार विश्व, स्वातन्त्र्य-शक्तिका विस्फार मात्र है। प्रकाशके अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं। जो कुछ भी भासित है, वह प्रकाशानुयायी है। अतएव शिव है। शिवस्वरूपके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

कल्पित कारण (सृष्ट) में पूर्व-परके नियमसे अवभासन मान्य है। विश्वकी प्रतिष्ठाकी सिद्धि इसी मान्यताके आधारपर की जा सकती है। इसमें परमेश्वरकी इच्छा ही उपादान कारण हो सकती है।

उदाहरण रूपसे घटके निर्माणकी प्रक्रियाको लिया जा सकता है। मिट्टी, कुम्भकार, दण्ड, चक्र-चीवर आदि घट निर्माणमें कारण बनते हैं। मिट्टी तो उपादान कारण है। अन्य कुम्भकार आदि अधिक कारण हैं किन्तु घट निर्माणके अनुगत हैं। सहकारी हैं। इस प्रक्रियामें पूर्वापर भाव स्पष्ट है। पहले मिट्टी लाई गयी। कुम्भकारने उसे चक्रपर रखा। दण्डसे चक्र घुमाया। घट तैयार हुआ। जलसे उसे रंजित किया। सूत्रसे काटकर अलग किया। थापी, आवाँ आदि अनेक अवान्तर कारणों के द्वारा एकके बाद एक सभी कार्यकी उत्पत्तिमें अधिक कारण बनते हैं। पूर्व और परका पूर्ण भाव-चित्र यहाँ है। क्रम है। यह ध्यान देनेकी बात है कि, इन समस्त कारणोंका अन्वय मृत्तिकामें ही होता है। यह भी ध्यातव्य है कि, यह सारीकी सारी निर्मिति परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। वास्तविक है। इसी लिये इसे कल्पित माना गया है।

सिद्धयोगी अपनी इच्छा शक्तिसे विना बीजके अंकुर उत्पन्न कर देता है। बीजसे अङ्कुर खाद, पानी, हवा और मृत्तिकाके संयोगसे भी होता है। दोनों अङ्कुरोंमें समानता रहती है। पूर्व-अपर भावरूपी क्रम तो दोनों अवस्थाओंमें विद्यमान है। और यह साराका सारा अवभासन परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। यह नियति नियन्त्रित भी है।

कभी-कभी स्वप्नमें घड़ेसे भी अङ्कुर निकलता जान पड़ता है और और जागने तक उस अङ्कुरकी स्थिति बनी रहती है। यहाँ भी क्रम है और कल्पित सृष्टि है।

वास्तविक दृष्टिसे विश्लेषण करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि, कार्यकारणका यह तत्त्वगत पौर्वापर्य शिवके अतिरिक्त नहीं है और शिवकी इच्छासे ही उद्भूत है।

इस दृष्टिसे दोनों अवस्थाओंमें परमेश्वरका कर्त्तृत्व अक्षुण्ण है। कल्पित तत्त्वगत पौर्वापर्यमें परमेश्वरकी इच्छा तथा अकल्पित पौर्वापर्यमें शिवका स्वातन्त्र्य ! दोनों परमेश्वरके कर्त्तृत्वमें साधक ही हैं।

जहाँ, जितना, जिसरूपमें यह क्रमका नियम लागू होता है, वहाँ उतना ही, उसी रूपमें कारणता और कार्यता अबाध रूपसे सिद्ध है।

पर कल्पित अकल्पित ये सारे आभास चूंकि परमेश्वरमें ही विश्रान्ति प्राप्त करते हैं। इसलिये उसके अतिरिक्त कार्यकारण भावकी कल्पना भी नहीं की जा सकती है[1]।

पारमार्थिके हि भित्तिस्थानीये स्थिते रूपे सर्वम् इदम् उल्लिख्यमानं घटते न अन्यथा। अत एव सामग्र्या एव कारणत्वं युक्तम्। सा हि समस्त-भाव-सन्दर्भमयी स्वतन्त्र-संवेदन-महिम्ना, तथा नियत–निजदेशकाल–भावराशिस्वभावा प्रत्येकं वस्तुस्वरूपनिष्पत्तिसमये तथाभूता, तथाभूताया हि अन्यथाभावो यथा यथा अधिकीभवति तथा तथा कार्यस्यापि विजातीयत्वं तारतम्येन पुष्यति।

पारमार्थिक भित्तिस्थानीय स्थित रूपमें यह सारा उल्लिख्यमान घटित हो रहा है। [यदि यह पारमार्थिक भित्ति] न होती, तो नहीं [घटित होता]। इसीलिए कारणत्वमें समग्रताका भाव अपेक्षित है। सामग्री स्वतन्त्र संवेदनकी महिमासे समस्त भावमयी समस्तसन्दर्भमयी होती है। [एक प्रमातामें रहने पर उसके] अपने देश, काल भाव नियत होते हैं। [प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी निष्पत्तिके समय जैसी होती है, उस समय भी] वैसी रहती है। उसका जैसे जैसे विकार संवर्द्धन होता जाता है, वह बढ़ती जाती है और कार्योंमें भी विजातीयत्वकी वृद्धि क्रमशः होती जाती है।

---

१. तं० ९।१७-२९।

कार्य-कारण भावमें क्रमका नियम है। अकल्पित और कल्पित कार्य-कारण भावकी अतिरिक्त स्थिति ही इस दर्शनको मान्य है। बौद्ध आदि विचारक भी जितनेमें, जिस रूपमें बाधा रहित नियम होता है, उतनेमें और उसी रूपमें हेतु और फलका विचार करते हैं।

वस्तुतः कार्यकारण भाव और क्रममें पारमार्थिक कारण चिन्मय तत्त्व ही है। कुम्भकार सहित मिट्टी, दण्ड, चक्र, चीवर और सूत्र आदि जितने कारण दृष्टि पथमें आते हैं–सभी आभास मात्र हैं। इन सबकी विश्रान्तिका एकमात्र स्थान चिन्मय अनुत्तर तत्त्व ही है।

आचार्य क्षेमराजने भी प्रतिपादित किया है 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति'। प्रत्यभिज्ञा हृदयम्‌के इस सूत्रमें 'स्व' ही भित्ति-स्थानीय है। अभिनव गुप्त पारमार्थिक भित्तिकी बात करते हैं। मिट्टीका एक रूप है। कुम्भकारके हाथमें पड़कर, दण्ड, चीवर आदिके कारण वह घटत्त्वमें भासित होती है। मिट्टी उपादान कारण मानी जाती है।

अब आप 'स्व' का साक्षात्कार करें। वही 'स्व' चिन्मय स्वातन्त्र्यके कारण समस्त कल्पित कारणों और विश्व रूप कार्यमें परिणत हो जाता है। इस प्रकार 'स्व' रूप संवित् का चिन्मयत्व विश्वका उपादान कारण बन जाता है। गीला इन्धन धूमका उपादान कारण है। चन्द्रकान्त मणिसे द्रवित जलकी उपादान कारण चन्द्रमाकी किरणें हैं। उसी प्रकार पारमार्थिक चिन्मयत्व ही विश्वका उपादान कारण है। प्रकाश ही प्रकाशित हो सकता है। अप्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता। परमेश्वर प्रकाश रूप है। विश्व प्रकाशित है। अतः विश्वकी पारमार्थिक भित्ति प्रकाश ही है। अतः प्रकाश ही विश्वका उपादान कारण है। उसीमें यह सारी इदन्ता घटित है। अन्यथा इसकी उत्पत्ति असम्भव होती।

सामग्रीके शब्दार्थपर विचार करें। समग्र जब एक प्रमातामें विश्राम करता है, तो समग्रता एकत्र अनुस्यूत हो जाती है। समग्रकी एकत्र विश्रान्ति ही सामग्री है। घटके निर्माणमें भी सामग्रीको कारण माननेपर विभिन्न कार्य भो मानना पड़ेगा। क्योंकि एक कारणसे एक कार्यकी उत्पत्ति स्वाभाविक है। संविद्‌में स्वातन्त्र्य शक्तिके कारण सभी देश, काल और वस्तु मात्र को उसी-उसी रूपमें व्यक्त करनेकी क्षमता है। उसीमें सारी

वस्तु मात्रकी विश्रान्ति होती है। वही समस्त भाव, व्यापार और क्रियाकी नियोजिका है। वही स्वतन्त्र है। वही समस्त देश, काल और भाव-राशि को अपने अपने नियत रूपोंमें व्यक्त करनेमें समर्थ है। ऐसा उसका स्वभाव ही है। जब-जब जिस-जिस वस्तुकी जहाँ जहाँ निष्पत्ति करना चाहती है, तब तब उसी उसी वस्तुकी वहीं वहीं उसी रूपमें निष्पत्ति कर देती है। उसी रूपमें अपनेको ही व्यक्त कर लेती है। यही उसका स्वातन्त्र्य है।

देश काल, भाव पदार्थ रूपमें व्यक्त होनेका तात्पर्य उपचारकी भाषामें विजातीय रूपमें व्यक्त होना है। यही उसका अन्यथा भाव है। विश्व ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, शक्त्यण्ड आदिमें होने वाला उसका अनन्त विस्फार और विस्तार क्या है? यह उसका अधिक होना है। विजातीय रूपमें, कार्य रूपमें परिणत होना है। इससे तारतम्यकी पुष्टि होती है। इस तारतम्यमें कारण-कार्य भावकी अनुभूति उस प्रक्रियामें वैरस्य नहीं उत्पन्न कर सकती। उसकी सामग्री शक्तिका स्वारस्य ही परिभाषित करती है।

इत्येवं संवेदनस्वातन्त्र्यस्वभावः परमेश्वर एव विश्वभाव–शरीरो घटादेर्निमाता-कुम्भकारसंविदस्ततोऽनधिकत्वात् कुम्भकार-शरीरस्य च भावराशिमध्ये निक्षेपात् कथं कुम्भकार-शरीरस्य कर्तृत्वाभिमानः? इति चेत् परमेश्वरकृत - एवासौ घटादिवद् भविष्यति। तस्मात् सामग्रीवादोऽपि विश्वशरीरस्य संवेदनस्यैव कर्तृतायाम् उपोद्वलकः। मेरौ हि तत्रस्थे न भवेत् तथाविधो घटः।

इस प्रकार संवेदन-स्वातन्त्र्य स्वभाव परमेश्वर ही विश्वभाव शरीर [है। वही] घट आदिका निर्माता है। कुम्भकारका संवेदन परमेश्वर संविद्से अधिक (अतिरिक्त) नहीं है। कुम्भकारका शरीर भी विश्वभाव राशिमें निक्षिप्त है। कुम्भकारके शरीर का कर्तृत्वाभिमान (शङ्काका विषय नहीं है) वह भी परमेश्वर कृत ही है। घटकी तरह उसका अभिमान भी होगा। अतः सामग्रीवादभी विश्व शरीरके संवेदनके कर्तृत्वका उपोद्वलक है। मेरुके दूरस्थ रहने पर वैसा घड़ा नहीं बन सकता।

कार्यकी उत्पत्ति कारणसे होती है। जहाँ-जहाँ धूम दीख पड़ता है, वहाँ-वहाँ आग होती है। इसे उलट कर कहें कि, जहाँ धूम नहीं होगा, आगभी नहीं होगी। इन दो कथनोंसे धुँएँ और आगमें कार्यकारण भाव-का सिद्धान्त स्थिर होता है। प्रथमकथन 'अन्वय' शैली है। दूसरा कथन 'व्यतिरेक' शैली है।

घड़ेके निर्माणमें हाथ, दण्ड, चक्र, मिट्टी, सूत, थापी सभी अलग-अलग कारण नहीं हो सकते। यहाँ समस्त मिल कर ही कारण हैं। यही सामग्रीवाद है। इसके अनुसार 'दूरी', 'पास' और भावी भी कारण रूपसे मान्य हो सकते हैं।[1] यदि दण्ड आदि कारण हो सकते हैं, तो दूरी आदि क्यों नहीं ?

मेरु पर्वत अत्यन्त दूर है। वह मनुज, दनुज और देवों के लिये भी दुर्लभ है। बहुत बड़ा है। एक है। क्या मेरु भी कारण हो सकता है? उत्तर स्पष्ट है। देश और काल का नैयत्य (निश्चय रूपसे एक समय और स्थान पर रहनेका भाव) चक्रकीतरह आवश्यक है। जैसे चक्र एकस्थान पर घूमता है। उसका समय होता है। दण्ड उसे घुमाता है। इन कारणोंका सन्निकर्ष होता है। तब ये कारण बनते हैं। मेरुसे सन्निकर्ष नहीं हो सकता। मेरुकी दूरीके कारण उससे मनुष्य निर्मित घड़ेके सदृश घड़ा नहीं बन सकता। फिर भी सामग्रीवादमें अन्तर नहीं आ सकता क्योंकि मेरु भी उसी परमेश्वर प्रमातामें विश्रान्त है।

एवं कल्पितेऽस्मिन् कार्यत्वे शास्त्रेषु तत्त्वानां कार्यकारण-भावं प्रति यत् बहुप्रकारत्वं तदपि संगतं, गोमयात् कीटात् योगीच्छातो मन्त्रादौषधात् वृश्चिकोदयवत्।

इस प्रकार कल्पित इस कार्यत्वमें (कार्यत्वके सम्बन्धमें) शास्त्रोंमें (बड़ा मतभेद है) तत्त्वोंमें कार्यकारण भाव के प्रति अनेक प्रकार की (बातें कहीं गयीं हैं), वे सभी संगत हैं।

प्रत्यक्ष है कि, गोबर से कीटकी उत्पत्ति होती है। योगी अपनी इच्छासे उसे वृश्चिक बना देते हैं। इसमें मन्त्रका और औषध का प्रयोग भी होता है। (ये सभी कार्यकारणभावके पोषक हैं)।

१—तं० ९।३२-३३

सृष्टि स्वयम् एक कार्य है। चिति शक्ति 'स्व' भित्तिमें ही विश्वका उन्मीलन करती है।[1] कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार चित्ति शक्ति ही कारण है। चिति कारणसे विश्वोन्मीलन कार्य उत्पन्न होता है।

इस सम्बन्धमें सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद आदि कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। एक तत्त्व दूसरेको जन्म देता है और उसकी एक परम्परा-सी चल पड़ती है। ये सारे सिद्धान्तवाद सत्यके आधारपरही प्रतिष्ठित हैं। मनीषा की मनोज्ञताका मर्म ही मानो इन अनुभूतियोंमें प्रतिबिम्बित होता है। इसलिये ये सभी संगत ही हैं।

मन्त्रसे, औषधसे और योगियों की इच्छा[2]से गोमयकीटसे वृश्चिककी उत्पत्ति क्या सिद्ध करती है। वृश्चिकरूपी कार्यमें कौन कारण माना जाय ? पर कार्य तो होता ही है। मणि, मन्त्र और औषधियोंका प्रभाव अद्भुत होता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि, कार्यकारणभाव वस्तुतः परमार्थ-में ही पर्यवसित है।

तत्र निजतन्त्रदृशा तं कल्पितं दर्शयामः। तत्र परमेश्वरः पञ्चभिः शक्तिभिः निर्भर इत्युक्तम्। स स्वातन्त्र्यात् शक्तिं तां तां मुख्यतया प्रकटयन् पञ्चधा तिष्ठति चित्प्राधान्ये शिव-तत्त्वम्, आनन्द-प्राधान्ये शक्तितत्त्वम्, इच्छाप्राधान्ये सदाशिव-तत्त्वम्। इच्छाया हि ज्ञानक्रिययोः साम्यरूपाभ्युपगमात्मकत्वात्, ज्ञानशक्ति-प्राधान्ये ईश्वरतत्त्वम् क्रियाशक्तिप्राधान्ये विद्यातत्त्वम् इति।

(शास्त्रकी बहुप्रकारता की स्थितिमें) अपने तन्त्र (श्रीपूर्वशास्त्र) की दृष्टिसे इस कल्पित (कार्यकारणभाव) को दिखला रहे हैं। [इस संदर्भ में] यह उक्त है कि, परमेस्वर पाँच शक्तियोंसे निर्भर[1] (परिपूर्ण) है। वह 'स्वातन्त्र्य' शक्तिके बलसे उन-उन शक्तियोंको मुख्यरूपसे प्रकट करते हुए पाँच प्रकारसे विद्यमान है। चित्प्राधान्यमें शिवतत्त्व,

---

१—प्र० हृ० सूत्रम् १-४ २—तं० ९।२६, ९।४२-४३

आनन्दप्राधान्यमें शक्तितत्त्व, इच्छा-प्राधान्यमें सदाशिव तत्त्व, क्योंकि इच्छा—ज्ञान और क्रिया दोनोंके साम्य रूपकी, अभ्युपगमक है। ज्ञान शक्तिके प्राधान्यमें ईश्वरतत्त्व और क्रियाशक्तिके प्राधान्यमें विद्यातत्त्व होता है।

एकमात्र परम-प्रमाता परमेश्वर ही है। सारा सर्ग उसीमें समाहित है। वही सभी कारणोंका कारण है। सारा कार्यकारणभाव भी उसीके आभासनका परिणाम है। उसीका विवरण यहाँ द्रष्टव्य है।[1]

परमशिवकी पाँच शक्तियाँ—(१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा, (४) ज्ञान और (५) क्रिया हैं। इन शक्तियोंसे वह परिपूर्ण है। उसीका ऐश्वर्य ही इन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। वह चिन्मात्र स्वभाव वाला है। इसीलिए चित्प्राधान्य[२] की अवस्था शिवतत्त्वमय मानी जाती है। वह अपनी स्वातन्त्र्य[३] शक्तिसे अपनी शक्तियोंको विभिन्न-विभिन्न अवस्थाओंमें व्यक्त करता है। उसका यह अभिव्यंजन बाह्य उल्लासका अभिलाष है। इसे उल्लिलसिषा[४] कहते हैं।

उल्लास की इस इच्छाको परानन्दचमत्कारदशा कहते हैं। यह अकुल की कौलिकी अवस्था है[५]। इसमें 'अहम्' का परामर्श होता है। 'अहम् अस्मि' की इस विमर्श दशाको आनन्द-प्रधान अवस्था कहते हैं। इसमें शक्तितत्त्वका यामल संघट्ट रहता है।

इच्छाके[६] प्राधान्यमें सदाशिवतत्त्व माना जाता है। इसमें 'अहम्' के साथ-साथ 'इदम्' परामर्शका भी उदय हो जाता है। इदन्ता अभी क्षीण रहती है किन्तु परामर्शमें एक नई शाखा तो निकल ही आती है। 'अहमंश' शुद्ध चिन्मात्रका आधार है। उसीमें परमेश्वर 'इदमंश' को उल्लसित कर लेता है। अभी यह 'इदमंश' अस्फुट होता है, जैसे चित्रकार-के मनमें चित्रकी कल्पना उभरती हो! इच्छाकी प्रधानताके कारण इस को 'सदाशिव तत्त्व' कहते हैं। इसके परामर्शका रूप 'अहम् इदम्' है। आचार्य क्षेमराजने इसे 'अहन्ताच्छादित अस्फुटेदन्तामय' कहा है। यहाँसे

१—तं० ९।५१ २—तं० ३।७१-७२ पृ० ८२-८३

३—स्वातंन्त्र्यं हि विमर्श इत्युच्यते तं० ३ पृ० ७३ पं० ११-१२

४—तं० ९।पृ०-५० पं० २ ५—तं० ३।६८ ६—तं० ३।७१-७७

परापररूप विश्व-विलासका उपक्रम प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिये आचार्य जयरथ इच्छाको 'सिसृक्षात्मक परामर्श' कहते हैं। इसमें ज्ञान और क्रियाके सामानाधिकरण्यकी अनुभूति होती है।

ज्ञान शक्तिके प्राधान्यमें ईश्वर तत्त्व होता है। इदमंशमें अहमंशका निषेचन यहाँ हो जाता है। साथ ही साथ इदन्ता स्फुट हो जाती है। इसमें 'इदम्-अहम्' रूप परामर्श होता है।

'अहम्-अहम् इदम्-इदम्' यह परामर्श क्रियाशक्ति प्रधान विद्यातत्त्व-में होता है। भेद रूढ हो जाता है। पार्थक्यका प्रथन हो जाता है और इदमंश पूर्णतया स्फुरित हो जाता है। उसी स्फुरणके अवसर पर अहमंशका चमत्कार भी चैतन्यकी चारुताको रूपायित करता है।

परमशिवके बहिरौन्मुख्यमें शक्तितत्त्व क्रियाशील है। सदाशिव और ईश्वर तत्त्वके बहिरौन्मुख्यमें विद्यातत्त्व होता है।[1] ये सभी अवस्था-भेद हैं। इन अवस्थाओंमें भी शिवका प्राच्यरूप प्रच्युत नहीं होता।

अत्र च तत्त्वेश्वराः शिव-शक्ति-सदाशिवेश्वरानन्ताः—ब्रह्मेव निवृत्तौ, एषां सामान्यरूपाणां विशेषा अनुगति विषयाः पञ्च, तद्यथा—शाम्भवाः शाक्ताः, मन्त्र महेश्वराः, मन्त्रेश्वराः मन्त्रा इति शुद्धोऽध्वा। इयति साक्षात् शिवः कर्त्ता।

इन पाँचो तत्वोंके ५ तत्त्वेश्वर १–शिव २–शक्ति, ३–सदाशिव, ४–ईश्वर और ५– अनन्त हैं। 'निवृत्ति' एक कला है। ब्रह्मके सारे उपबृंहण उसीमें होते हैं। इसीके समान ये पाँचों तत्त्व भी हैं। ये सामान्य रूप हैं। इनकी अनुगतिके विषय विशेष भी १–शाम्भव, शाक्त, ३–मन्त्रमहेश्वर, ४–मन्त्रेश्वर और ५–मन्त्र ये पांच ही हैं। इतना शुद्ध अध्वा है। इनके साक्षात् शिव कर्त्ता हैं।

चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्राधान्यमें क्रमशः शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और अनन्त (शुद्ध विद्या) ये तत्त्वेश्वर शास्त्रमें निर्दिष्ट हैं। ये सभी ब्रह्म रूप ही हैं। निवृत्ति कलामें जैसे ब्रह्म विकसित है, उसी तरह चित् आदि तत्त्वमें तत्त्वेश्वर !

१—तं० ९।५१

ये सामान्य तत्त्वेश्वर हैं। इनको अनुगतिके (अनुप्रवेश) के भी विशेष प्रमाता हैं। शम्भव, शाक्त, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र नामक ये पाँच प्रमाता हैं। 'अनेकत्र एकरूपानुगमस्तत्त्वम्' के अनुसार इन शिव शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और अनन्त ५ तत्त्वोंका जहाँ आन्तर उद्रेक होता है, वह उनका एक ऐसा रूप है, जिसमें उनका अनुगमन होता है। वह उनका अपना 'गण' होता है। वह उनका तात्त्विक प्रमाता होता है। चित्-में शैव उद्रेकसे 'शाम्भव', आनन्दमें शक्तिके उद्रेकसे 'शाक्त', इच्छामें सदा-शिवके ऐश्वर्यके स्फुरणसे मन्त्र महेश्वर, ज्ञानमें शिवके उद्रेकसे मन्त्रेश्वर तथा क्रियामें अनन्तकी स्फुरतासे मन्त्र प्रमाताओं (गणों) का प्रादुर्भाव होता है[२]। यह शुद्ध अध्वाका[३] आकलन है। तत्त्व, तत्त्वेश्वर और उनके ऐश्वर्य, स्फुरणके अनुगत इन तीनोंका विलास-उल्लास शुद्ध अध्वामें होता है। इसमें पूर्ण कर्तृत्त्व स्वयं 'शिव' का ही है।

अशुद्धं पुनरध्वानमनन्तापरनामाघोरेशः सृजति। ईश्व-रेच्छावशेन प्रक्षुब्धभोग-लोलिकानामणूनां भोगसिद्ध्यर्थम्। तत्र लोलिको अपूर्णम्मन्यतारूपः परिस्पन्दः अकर्मकम् अभिलाष-मात्रमेव भविष्यदवच्छेदयोग्यतेति न मलः पुंसस्तत्त्वान्तरम्। रागतत्वं तु कर्मावच्छिन्नोऽभिलाषः। कर्म तु तत्र कर्म मात्रम्। बुद्धिधर्मस्तु रागः कर्मभेदचित्र इति विभागो वक्ष्यते।

अशुद्ध अध्वाका सृजन अघोरेश करते हैं। इनका दूसरा नाम अनन्त भट्टारक भी है, ईश्वरकी इच्छाके वशीभूत क्षुब्धलोलिक अणुओं-की भोग-सिद्धिके लिये (अशुद्ध अध्वाका सृजन होता है।) (ईश्वरका) अपूर्णम्मन्यतारूप परिस्पन्द ही लोलिका (है)। अकर्मक अभिलाषमात्र ही लोलिका है। अभिलाषमात्रमें भविष्यकी अवच्छेदकी योग्यता होती है। अतः मल पुरुषका तत्त्वान्तर नहीं है।[४]

---

१. प्र० हृ० सूत्रं ३तस्य भाष्यं च।

२. तं० ९।५२-४५। ३. तं० ९।६०। ४. तं० ९।६२-६३।

कर्मसे अवच्छिन्न अभिलाष राग तत्त्व है। (रागतत्त्वमें) कर्म कर्म मात्र है। बुद्धि-धर्म राग तो कर्म भेद (भूख-प्यास आदि) से चित्र विचित्र (होता है)। विभाग वक्ष्यमाण है।

अध्वा दो प्रकारका होता है—१. अशुद्ध और २. शुद्ध। शुद्ध अध्वाका उल्लेख हो चुका है। अशुद्ध अध्वा कला तत्त्वसे धरा तत्त्व पर्यन्त माना जाता है। इसके सृजन करने वाले अर्थात् सितेतर सृष्टि करने वाले 'अघोरेश हैं'[१]। ईश्वरकी इच्छा ही सृष्टिका मूल उत्स है।

स्वरूपकी अख्याति (अपूर्णंमन्यता) ही मल है। मलकी सहकारितामें उन्मुख वृत्तिको भोग लोलिका' कहते हैं। यह अभिलाषमात्र है। इससे युक्त होनेपर ईश्वर अणु हो जाता है। इसके मलको 'आणव' मल कहते हैं। अणुकी भोग वृत्ति क्षुब्ध रहती है। उसीके भोगके लिए इस सृष्टिका निर्माण अघोरेश करते हैं।

अणुओंकी इच्छाही लोलिका है। यह अकर्मक होती है। इच्छा मात्र ही इसका रूप होता है। क्रियाके अभावके कारण मलकी गणना किसी तत्त्वमें नहीं की जाती। अपूर्णंमन्यता रूप परिस्पन्दमें अवच्छेदकी योग्यता तो होती है किन्तु अकर्मक अर्थात् क्रिया रहित होती है। लोलिका ही रागरूपमें परिणत हो जाती है।

राग तत्त्वको दो प्रकारसे समझा जा सकता है। पहला-कर्मावच्छिन्न अभिलाष (कंचुकमें परिगणित रागतत्त्व) और दूसरा कर्मभेद विचित्र अभिलाष। पहली अवस्थामें कर्म कर्ममात्र अर्थात् अभिलाष मात्र होता है और दूसरी अवस्थामें कर्म स्पष्ट हो जाते हैं। दूसरे प्रकारका राग बुद्धिका धर्म बन जाता है। हम कह सकते हैं कि, अपूर्णंमन्यता अणुतामें अंकुरित होती है। रागमें मुकुलित होती है और बुद्धिमें पल्लवित, पुष्पित तथा फलवती हो जाती है[२]।

---

१. तं० ९। ६१ प्र० हृ० सू० ३ पृ० ५० पं०२–३।

२. तं० ९। ६४-६५।

सोयं मलः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छादनेच्छातः नान्यत् किंचित्, वस्त्वपि च तत्–परमेश्वरेच्छात्मनैव धरादेरपि वस्तुत्वात् । स च मलो विज्ञानकेवले विद्यमानो ध्वन्सोन्मुख इति न स्वकार्यं कर्म आप्याययति ।

परमेश्वरकी स्वात्मप्रच्छादनेच्छा[1]के अतिरिक्त मल कोई अन्य वस्तु नहीं है । यह प्रच्छादक होनेके कारण वस्तु भी है । पृथ्वी आदिके वस्तु माननेका कारण भी परमेश्वरकी इच्छा ही है । मल 'विज्ञानकेवल' में रहता हुआ ध्वन्सोन्मुख रहता है। परिणामतः अपने कार्य कर्मको आप्यायित नहीं करता ।

परमेश्वर सर्वज्ञ और सर्वकर्तृत्त्व सम्पन्न है । उसकी पूर्णज्ञानात्मकता और पूर्णक्रियात्मकताका मल ही प्रच्छादन करता है । परिणामतः संकोच का अवभासन होने लगता है । यह प्रच्छादन भी परमेश्वरकी इच्छासे ही होता है । संकोच अज्ञान मूलक है । अतः मलको अज्ञान भी कहते हैं[2] । प्रच्छादक होनेके कारण यह वस्तु भी है ।

यद्यपि परप्रकाशके अतिरिक्त कोई दूसरा रूप नहीं है, फिर भी पृथ्वी आदि वस्तु माने जाते हैं । उसीतरह मल भी परमेश्वकी इच्छा के कारण वस्तु भी हैं ।

मल विज्ञानाकल अवस्थामें रहता तो है पर वह अकर्मक होता है । मायाके ऊपर और शुद्धविद्यासे नीचे बीचका पद विज्ञानाकलका होता है । कर्म-वैचित्र्यको उत्पन्न करनेमें वह असमर्थ होता है । न वह ऊपर जा पाता है, न नीचे सरक पाता है । विज्ञानकेवल शुद्ध चिन्मात्रमें प्रतिष्ठित होता है । यही कारण है कि, आणव मल कर्म-वैचित्र्य पैदा करनेमें असमर्थ हो जाता है और कर्मको आप्यायित नहीं करता है ।

---

१. तं० ९ । ६६ ।

२. मलमज्ञानमिच्छन्ति मा० वि० तन्त्र १ । २३ ।

प्रलयकेवलस्य तु जृम्भमाण एवास्ते इति मलोपोद्बलितं कर्म संसार - वैचित्र्यभोगे निमित्तम्। इति तद्भोगवासनानुविद्धानामणूनां भोगसिद्धये श्रीमान् अघोरेशः सृजति इति युक्तमुक्तं, मलस्य च प्रक्षोभ ईश्वरेच्छा बलादेव, जडस्य स्वतः कुत्रचिदपि असामर्थ्यात्।

प्रलयकेवलका मल तो जृम्भमाण ही होता है। [मायाके क्षेत्रकी शून्यप्रमाता दशा प्रलयकेवली[1] की होती है] संसारके वैचित्र्य-भोगमें मलसे उपोद्बलित[2] कर्म ही निमित्त होता है। कर्मके वैचित्र्यभोग की वासनासे अणु अनुविद्ध होते हैं। उनकी भोगकी सिद्धिकेलिये ही श्रीमान् अघोरेश सृष्टि करते हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि, मल में प्रक्षोभ ईश्वरकी इच्छासे ही होता है। जडकी तो सर्वत्र असामर्थ्य ही है।

मल, निगल जाने के लिये मुँह बाये खड़ा है। मायाकी काजलकी कोठरीमें पहुँचा ईश्वर और वह प्रलयकेवली बनकर रह गया। मलसे प्रभावित, संवृत और संपादित कर्म संसारके अनुपम नित्यनूतन किन्तु पुरातन भोगके कारण बनते हैं।

अहंकी स्पष्ट चेतनाके न रहने के कारण अणु चेतना-शून्यसा रहता है और मलसे प्रभावित हो जाता है। संसारके चाकचिक्यमें फँस जाता है। भोगही उसका लक्ष्य बन जाता है। इस भोगमें कर्मही कारणरूपसे स्वीकृत हैं। इसके ऐसे कर्म मलसे तथा मलके संस्कारोंसे सर्वथा संवलित हो जाते हैं। उसमें (पशु-अणु-जीवमें) भोगकीवासना घर कर लेती है। अणुके भोगकी सिद्धि किसप्रकार हो, इसकी चिन्ता अघोरेश शिवको होती है। वह एतदर्थ संसारका सृजन कर देता है और एक अद्भुत उल्लास विलासकी परम्पराका प्रादुर्भाव हो जाता है।

प्रक्षोभ एक पारिभाषिक शब्द है। शान्त परमशिवकी इच्छाभी एक प्रकारका क्षोभ है। सृष्टिका सारा उल्लास, वासना का उद्बलन, भोग लोलिकाका कला-संकुल लालित्य, प्रक्षोभ ही है। शुद्ध अध्वाके बाद अशुद्ध अध्वाका अध्यवसाय प्रक्षोभ ही है।

---

१. प्र० हृ० सू ३ भाष्यम् २. उप+उद्+वल+क्त

इतना अवगम होनेके बाद भी यह बात ध्यान देने की है कि, कोई वस्तु किसी वस्तुका निर्माण नहीं कर सकती। यह ध्रुव सत्य है कि, सक्रियतापूर्ण सामर्थ्य चेतनका ही धर्म है। वस्तु प्रक्षोभका प्रतिफल है। और प्रक्षोभमें मूल कारण ईश्वरकी आकांक्षा ही है। विना उसकी इच्छाके किसी भी दशामें कोई कार्य सम्भव नहीं। जड़की क्या ताकत, जो किसी प्रकार कोई भी, या कहीं भी शक्तिका प्रयोग कर सके। शक्ति परमेश्वरका विमर्श है। विमर्श ही इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञान शक्ति है। समस्त सामर्थ्य उसीमें निहित है, जड़में कदापि नहीं।

अणुर्नाम किल चिदचिद्रूपावभास एव, तस्य चिद्रूपमैश्वर्य-मेव, अचिद्रूपतैव मलः। तस्य च सृजतः परमेश्वरेच्छामयं तत एव च नित्यं स्रक्ष्यमाणवस्तुगतस्य रूपस्य जडतया-भासयिष्यमाणत्वात् जडं, सकलकार्यव्यापनादिरूपत्वाच्च व्यापकं, मायाख्यं तत्त्वम् उपादानकारणम्, तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य माया नाम शक्तिस्ततोऽन्यैव।

चित् और अचित् रूपोंका अवभास ही अणु है। चिद्रूप उसका ऐश्वर्य है और अचिद्रूपता मल। 'माया' सृष्टिकर्त्ता परमेश्वरकी इच्छा-मय, नित्य स्रक्ष्यमाण वस्तुगत रूपके जडतापूर्ण आभासनके कारण जड, समस्त कार्योंमें व्याप्त रहनेके कारण व्यापक तत्व है। मायाकी यही उपादान कारणता है। इस माया नामक व्यापक तत्वके अवभासनमें समर्थ परमेश्वरकी माया नामक शक्ति एक दूसरी ही वस्तु है।

चिन्मय परमशिव और अचिद् रूप माया इन दोनोंका एक स्थानपर जहाँ सामञ्जस्य होता है—वही अणु होता है चिन्मयरूप तो ऐश्वर्यात्मक होता है। उसकी अचिद्रूपताको ही मल कहते हैं।[२] चिन्मय बीज होता है। अचिन्मय माया योनि होती है। बीज और योनिका सामञ्जस्य अनन्त रूपोंमें व्यक्त होता है।[३] अनगिनत रूपोंमें होनेवाला यह अवभासनही अणु है। दूसरी तरह यह कह सकते हैं कि, चिद्रूपता (चिन्मयता) ही पारमेश्वर ऐश्वर्य है। अचिद्रूपताही मल है। एक उपादेय है और दूसरा हेय है।

---

१. मायाणुसंयोगाद् व्यज्यते चेतना कला तं ९ पृ० ४७ पं० ६

२. तं० ९।६२-११८ ३. मा० वि० ३।१२-२५

परमेश्वरकी इच्छा ही इसमें मुख्य है।[१] इच्छासे स्वयंका प्रच्छादन हो जाता है। प्रकाशके ढक जानेका परिणामही अन्धकार है और इसी अवस्थाको मल कहते हैं!

मल वस्तु रूप है[२]। यह अपूर्णंमन्यताकी अवस्था है। शिवकी स्वतन्त्रतासे ही यह नित्य व्यापार चलता है। 'मा' का अर्थ है—विनाश रूप निषेध और 'या' का अर्थ है गति या प्राप्ति। स्वात्म-प्रच्छादन ही निषेध है क्योंकि इसमें प्रकाशमयताका निषेध हो जाता है। साथ ही साथ वस्तु रूपकी प्राप्ति हो जाती है। यह व्यापार नित्य होता है। अतः माया तत्त्व भी नित्य है—यह निश्चित है।

जो वस्तु निर्माणके योग्य है, निर्मेय है, सृजनके क्रममें है—उसमें जडत्वका अवभासन होता है। मायामें जड़ता अचिद्रूपताके कारण होती है। इस लिये माया तत्त्व अपेक्षाकृत जड़ है—माया तत्त्व व्यापक भी है। पृथ्वीसे लेकर शक्त्यंड तक यह सारा प्रपंच, यह सारा विस्तार-विस्फार कार्य है। कार्यमें माया व्याप्त है। अतः माया कारण भी है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट कि, मायासे १—बोध स्वातन्त्र्यकी हानि हो जाती है। २—स्वातन्त्र्यके बोधका भी अभाव हो जाता है। ३—वस्तुके व्यवच्छेदका, वस्तुसे वस्तुकी पृथकताका, पूर्णस्वरूपकी अनुभूतिके विनाशका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। ४—स्वात्मका प्रच्छादन हो जाता है। परमेश्वरका पूर्ण ज्ञान एवं क्रियात्मक रूप इससे ढक जाता है। ६—इसमें नित्यता, जड़ता और व्यापकताके गुण साथ ही साथ पाये जाते है। ७—अणु (जीव-पाशबद्ध पशु) को आवृत कर माया तत्त्व विराजमान रहता है।

ऐसा यह माया तत्त्व है। यह अणुताका उपादान कारण है[३]। समस्त विश्वके उल्लासका खेल खेलने वाले परमशिवके स्वातन्त्र्यके कारण ही भेदका अवभासन होता है। यही माया तत्त्व है। इसकी अपूर्णताके विस्तारकी प्रकाशिका मायाशक्ति मानी जाती है। यह परमेश्वरकी शक्ति है।

माया तत्त्वसे अलग इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। मायाशक्तिसे माया तत्त्वका यह पार्थक्य[४] अनुभूतिका विषय है।

---

१. तं० ९।६६। २. तं० ९।१५८। ३. तं० ९।१५४। ४. तं० ९।१४८

एवं कलादितत्त्वानां धरान्तानामपि द्वैरूप्यं निरूप्यम् । अत्र च द्वैरूप्ये प्रमाणमपि आहुरभिनवगुप्तगुरवः । यत्संकल्पे भाति तत्पृथग्भूतं बहिरप्यस्ति स्फुटेन वपुषा घट इव । तथा च माया-कलादि खपुष्पादेरपि एषैव वर्त्तनी इति केवलान्वयी हेतुः ।

इस प्रकार कलासे धरा तत्त्व तक सभी तत्वोंकी दो रूपोंकी सत्ता-निरूपणके योग्य है । इस द्विरूपताका प्रमाण गुरुपरम्परासे प्राप्त है । जो संकल्पमें आ जाता है, उसका पृथक् अस्तित्व हो जाता है । वह बाह्य रूपसे अवभासित होने लगता है । जैसे स्पष्टरूपसे घड़ा ।

माया कला आदिकी भी यही दशा है । घट दिक् और काल घेरता है । आकाश-कुसुम भी कल्पनामें अलग हो जाता है । दिशा-स्थान भी घेरता जान पड़ता है । इससे यह स्पष्ट है कि, यह केवलान्वयी हेतु है ।

कलासे लेकर धरा पर्यन्त सारे पदार्थ पारमार्थिक रूपसे शिव-शक्तिमय हैं । शिव स्वतन्त्र तत्त्व है । शक्ति उसकी आत्मरूपा शक्ति ही है । अभिन्नसे अभिन्न अभिन्न ही रहता है । इस नियमके अनुसार धरान्त प्रपञ्चके विषयमें कहा जा सकता है कि, ये भी शिवसे और शक्तिसे अभिन्न हैं । यह एक वास्तविकता है ।

इसका दूसरा रूप समझना है । शक्तिकी बहिर्मुखतामें अनन्तभावी विभाग, जो उसके गर्भमें ही रहते हैं-व्यक्त हो जाते हैं । मटरकी फलीको लें । पहले फूलसे 'पतुहा' निकलता है । वही विकसित होकर शिम्बिका (छिम्मी) बनता है । उसमें मटरके दाने पहले विन्दुरूपमें फिर स्थूल रूपमें पुष्ट होते हैं । दानाका पृथक् प्रकाश हो जाता है । यह पृथक् प्रतिभासन ही जड़का लक्षण है । जड़का स्वभाव होता है—'यह-यहाँ-इससमय इस-रूपमें भासित है' । वह पृथकताका प्रतिनिधि होता है । पृथक् अवभासन-में वह पदार्थ 'कार्य' बन जाता है । इसमें कारण माया है । माया यहाँ तत्त्व है ।

इस प्रकार मायाकी शक्तिरूपता और तत्त्वरूपता स्वतः सिद्ध है । फलतः कलासे धरातकके पदार्थोंकी द्विरूपताका स्वतः निरूपण हो जाता है ।[1]

---

१. तं० ९।१४७-१५२ ।

इस द्विरूपताका उदाहरण भी ग्रन्थकारने गुरुपरम्परानुसार प्रस्तुत किया है। पदार्थका एक संकल्पित रूप होता है। दूसरा व्यक्त रूप होता है। चित्रकार चित्रकी कल्पना करताहै। फिर फलकपर रङ्गोंका समायोजन करता है। चित्र बन जाता है। कुम्भकार पहले संकल्प करता है। फिर रूप प्रदान करनेकी प्रक्रिया अपनाता है। घड़ा बन जाता है।

जो संकल्पमें अलग अनुभूत होता है, वह बाहर भी है। जैसे—घड़ा। जो बाहर नहीं है, वह भासित नहीं होता। जैसे परमात्मा। तन्मात्रायें पृथक् भासित हैं। अतः बाहर हैं। परमात्मा भासित नहीं होता। अतः वह घड़ेकी तरह बाहर आभासित नहीं है।

'यत् संकल्पे भाति तत्पृथग्भूतं बहिरपि स्फुटेन वपुषा घट इव' इस अन्वय व्याप्तिके अनुसार तन्मात्रा आदि जितने तत्त्व हैं, वे पृथक् पृथक् भासित हैं।

व्यतिरेक व्याप्तिके प्रयोगसे 'जो बाहर नहीं हैं, वह पृथक् नहीं भासित होता, जैसे परमात्मा पृथक् भासित नहीं। यहाँ व्यतिरेक पद्धतिका परामर्श है। पर संकल्पमें भासित होता है। कहा गया है—सकृद्विभातोऽयमात्मा'। आकाश कुसुम-काल, दिक् और प्रमाता सापेक्ष नहीं है। क्योंकि दृष्टिगोचर नहीं होता।

व्यतिरेक दृष्टिसे जो दृष्टिगोचर नहीं होता, वह काल, दिक् और प्रमातृ-सापेक्ष नहीं होता। जैसे खपुष्प, पर 'ख' पुष्प संकल्पमें भासित होता है।

माया और कलामें भी अन्वय व्यतिरेक व्याप्तिका नियम लगाकर यदि परीक्षाकी जाय, तो सिद्ध हो जायगा कि—माया कारण है। कला कार्य है। पुनः कला भी कारण हो जाती है और विद्या कार्य हो जाती है।

यदि हम कहें—'माया कारणम्, कलारूपकार्य-जननात्' तो यह केवल अन्वय व्याप्ति हुई। जो कार्य है, वह कारण नहीं है-यह कथन यहाँ घटित नहीं होता क्योंकि कला कार्य भी है और अशुद्ध विद्याकी कारण भी।

इसलिये अनुमितिकी लिङ्ग परामर्शताके अनुसार यहाँ केवलान्वयी हेतु ही मानना शास्त्र संगत है।

अनेन माया-कला-प्रकृति-बुद्ध्यादि विषयं साक्षात्काररूपं ज्ञानं ये भजन्ते तेऽपि सिद्धाः सिद्धा एव । एवं स्थिते माया तत्वात् विश्वप्रसवः । स च यद्यपि अक्रममेव, तथापि उक्तदृशा क्रमोऽवभासते ।

(माया कला आदिकी तत्त्वरूपताके अतिरिक्त शक्तिरूपताकी मान्यताके कारण) माया, कला, प्रकृति बुद्धि आदि विषयके साक्षात्कार रूप ज्ञानको प्राप्त करने वाले सिद्ध भी सिद्ध ही हैं। ऐसी स्थितिमें मायातत्त्वसे विश्वका प्रसव होता है। यद्यपि वह बिना क्रमके ही (होता है) फिर भी ऊपर कथित दिग्दर्शनसे क्रमका अवभासन होता ही है।

साधनाकी भूमि मूलाधार है। यहाँ जिस बीजकी प्रतिष्ठा होती है, उसीमें पार्थिव-तत्त्व समाहित रहता है। यहाँ तक अहंकारकी सीमा है। उसके उपर बुद्धिका, प्रकृतिका, पुरुषका और कंचुकोंका क्षेत्र आता है, सबके ऊपर माया तत्त्वका साक्षात्कार जो साधक करता है, उसीका शुद्ध-विद्यामें अनुप्रवेश होता है। एक सिद्ध है, जो माया तत्त्व और माया शक्तिका साक्षात्कार कर लेनेमें सक्षम है और एक ऐसा है, जो शुद्ध-विद्यामें प्रवेश प्राप्तकर क्रमशः या गुरुकृपा या अक्रम शक्तिपातसे शिव साक्षात्कारकी सिद्धि प्राप्तकर लेता है। ग्रन्थकारका सम्मत है कि, दोनों प्रकारके सिद्ध सिद्ध ही हैं।

दोनों प्रकारके सिद्धोंकी यही अनुभूति है कि, माया तत्त्वसे विश्वका प्रसव होता है। विश्वका प्रसव क्रमपूर्वक होता है या अक्रमसे? यह यह प्रश्न यद्यपि असमाधेय है फिर भी मयूरके अण्डेमें सारा मयूर पहले-से ही विद्यमान होता है। उसमें पाँखोंके सारे रङ्ग होते हैं, पीपलके बीज-में सारा पीपल वृक्ष भरा रहता है फिर भी क्रमका भी आभास होता है। यही दशा यहाँ भी है। यहाँ भी पौर्वापर्यका अवभासन, काल प्रभाव और क्रमिकताका आभास आपाततः होता ही है।

सोऽपि उच्यते–तत्र प्रत्यात्म कलादिवर्गो भिन्नः। तत्कार्यस्य कर्तृत्वोद्दलनादेः प्रत्यात्मभेदेन उपलम्भात्। स तु वर्गः कदाचित् एकीभवेत् अपि ईश्वरेच्छया सामाजिकात्मनामिव, तत्र सर्वोयं कलादिवर्गः शुद्धः यः परमेश्वर–विषयतया तत्स्वरूपलाभानुगुण–निज–कार्यकारी,संसार–प्रतिद्वन्द्वित्वात्। स च परमेश्वर–शक्तिपातवशात् तथा भवति इति वक्ष्यामस्तत्प्रकाशने।

वह भी कहा जा रहा है। यहाँ (ध्यातव्य है कि) प्रत्येक आत्मगत कला आदि वर्ग भिन्न-भिन्न है। उसके कार्य और कर्तृत्वके उद्दलन (संस्फुरण) आदिकी प्राप्ति प्रत्यात्मभेदसे (भिन्न अनुभूत होती है।) कलादिवर्ग कभी अभिन्न हो, ईश्वरको इच्छासे सामाजिकोंकी तरह। (पर इसमें एक सोचनेकी बात है) वहाँ यह कलादिवर्ग शुद्ध (है) जो परमेश्वरके पूजन-अर्चन विषयक होनेके कारण स्व' रूप लाभके ही अनुगुण अपना कार्य (संसारसे मुक्ति) करता[2] है। क्योंकि (वहां) संसारका प्रतिद्वन्द्वी होता है। परमेश्वरके शक्तिपातसे ऐसा होता है, यह शक्तिपात प्रकरणमें कहेंगे।

विश्व विस्मयका कोष है। कलासे क्षितिपर्यन्त भोग-संहति[3] एक है। प्रत्येक आत्मामें दीख पड़ने वाला पार्थक्य सिद्ध करता है कि, यह भिन्न भिन्न भी है। यह वृहद् विरोधाभास अनादिकालसे चला आ रहा है—चलता रहेगा। एक ही साथ एक भी है और समस्त आत्मवर्गको कर्ममें प्रवृत्त कर भिन्न भिन्न भी भासित होता है। कोई सुखी और कोई दुःखी है। इन जागतिक द्वन्द्वोंका कारण भी यही है।

इस तथ्यको इस प्रकार समझें—१—कलासे क्षिति पर्यन्त तत्त्व प्रति आत्मामें भिन्न हैं, क्योंकि सुख दुःख आदिसे भेद भासित होता है। २—जो सुख दुःख आदि भेदवाला है, वह प्रत्यात्म भिन्न है। जैसे देह आदि। ३—जो प्रत्यात्म भिन्न नहीं है, वह सुख दुःख आदि भेदवादितासे

---

१. तं० ९।१६८। २. तं० ९।१७२। ३. तं० ९।१६८-१६९।

भासित नहीं है। जैसे माया। कला आदि तत्त्व सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे भावित हैं। अतः प्रत्यात्म भिन्न हैं। इस दशामें कार्यत्व और कर्तृत्व बुद्धिका भी स्फुरण होता है। सत्य यह है कि, आत्माका भेद ही अतात्त्विक है। तो फिर उसमें घट कैसे सम्भव है? इसी प्रश्नके उत्तरमें ग्रन्थकार कहते हैं—यह कलादि वर्ग एक ही है—जैसे नाटक देखते समय दर्शकों (सामाजिकों) को एकत्वका आकलन होता है, तो भी किसी सिद्धान्तमें अन्तर नहीं आ सकता।

यह कलासे लेकर पृथ्वी पर्यन्त सारा पारम्परिक प्रपंच दो प्रकारका है। १—शुद्ध और २—अशुद्ध। जब कला शुद्ध होगी, तो परमेश्वर विषयक बुद्धि उत्पन्न होगी। व्यक्तिमें पूजाकी अर्चाकी, उत्तम कार्य करनेकी भावना आयेगी। वह ऐसा कार्य करायेगी, जिससे 'स्व' रूपकी उपलब्धि हो सके। वहाँ संसार ही प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी हो जाता है। संसारमें रहते हुए भी वह परमेश्वर विषयक चिन्तनमें प्रवृत्त होता है। ऐसे साधकके लिए निश्चय ही मुक्ति करतलगत प्रतीत होने लगती है।

कला तत्त्वके शुद्ध होनेका कारण है। साधक जिस समय उपासनाके रससे सिक्त होता है, उस समय परमेश्वर शिवके सामरस्य रूपी अमृतसे वह अप्यायित हो जाता है। उसके ऊपर अनुग्रहकी वर्षा होने लगती है। इसे दर्शनकी भाषामें शक्तिपात कहते हैं। शक्तिपातसे पवित्रित साधकमें कला निष्कल बनने लगती है और ऐसे ही कार्य कराती है, जिससे परमेश्वरके कर्तृत्वका बोध हो जाता है और व्यक्ति मुक्त हो जाता है[1]। शक्तिपात प्रकरणमें यह तथ्य स्पष्टतया वर्णनका विषय बनेगा।

अशुद्धस्तु तद्विपरीतः। तत्र मायातः कला जाता, या सुप्त-स्थानीयम् अणुम् किंचित्कर्तृत्वेन युनक्ति। सा च उच्छूनतेव संसारबीजस्य मायाण्वोरुभयोः संयोगात् उत्पन्नापि मायां विकरोति, न अविकार्यम् अणुम् इति माया कार्यत्वमस्याः। एवम् अन्योन्यश्लेषात् अलक्षणीयान्तरत्वं पुँस्कलयोः।

---

१. तं० ९।१७२।

अशुद्ध वर्ग इसके विपरीत है। वहां मायासे कला उत्पन्न हुई। वह सुषुप्त अणुको किंचित्कर्तृत्वसे जोड़ती है। संसारके बीजकी वह कुछ विकसित अवस्था सी है। माया और अणु इन दोनोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली कला मायाको भी विकृत करती है। अविकारी अणुको नहीं। अतः सिद्ध है कि, कला मायाका कार्य है। इस प्रकार कला एवम् अणुके परस्पर आलिङ्गनसे (यह स्पष्ट है कि) दोनोंमें अन्तर अलक्षित (रहता है)।

अशुद्ध तत्त्वोंकी बातही कुछ दूसरी है। यदि शुद्ध कला परमेश्वर-कर्त्तृत्वका आकलन कराती है, तो अशुद्ध स्वयम् अणुमें किंचित्कर्तृत्वका बोध करनेकेलिए विवश कर देती है।[१] यह स्पष्ट है कि, मायासे कला उत्पन्न होती है।[२] एक जगह शिवसे अद्वयानुसंधान और दूसरी अवस्था-में द्वैतकी दिव्यताका दर्शन !

बीजका वपन होता है। बो देनेके अनन्तर खाद, पानी, हवा और मृत्तिकाके प्रभावसे उसमें उच्छूनता (अंकुरणकी पूर्वरूपता) होती है और अंकुर उग आता है। उसी प्रकार संसार बीजमें भी विकारका प्रथम स्पन्दन आविर्भूत हो उठता है।

यहाँ माया और अणु का परस्पर संयोग विश्वके उन्मेषका कारण बन जाता है। माया और अणुके संयोगसे कला उत्पन्न होती है। वह मायाको विकारिणी तो बना देती है किन्तु निर्विकार अणुको प्रभावित नहीं कर पाती।[३] नियम यह है कि, उपादान कारण, स्वरूपके विकार-की स्थितिमें भी कार्यमें विद्यमान रहता है। यहाँ पर भी यही बात है। मायारूपी उपादान कारण ही कलारूपी कार्यमें लक्षित है। अतः कलाका अणु उपादान कारण नहीं है। मायाही है। अतः कला कार्य है। जहाँ तक अणु और कलाका प्रश्न है, दोनोंकी एक दूसरेसे बड़ी सन्निकटता है। दोनों परस्पर आलिङ्गनबद्ध हैं। इतना कि, एक दूसरेका अन्तर लक्षित नहीं हो पाता।[४]

---

१. तं० ९। १७६ २. तं० ९। १७४ ३. तं० ९। १७७-१७९
४. तं० ९। १८४

मायागर्भाधिकारिणस्तु कस्यचिदीश्वरस्य प्रसादात् सर्वकर्मक्षये मायापुरुषविवेको भवति, येन मायोर्ध्वे विज्ञानाकल आस्ते, न जातुचित् मायाधः, कलापुंविवेको वा येन कलोर्ध्वे तिष्ठति।

प्रकृति-पुरुषविवेको वा येन प्रधानाधो न संसरेत्। मल पुरुषविवेके तु शिवसमानत्वं पुरुषपूर्णतादृष्टौ तु शिवत्वमेवेति। एवं कलातत्त्वमेव किंचित्कर्तृत्वदायि, न च कर्तृत्वमज्ञस्य इति।

मायागर्भाधिकारी अनन्तेश्वरके अनुग्रहसे समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेपर माया पुरुष विवेक होता है। परिणामतः मायाके ऊपर विज्ञानाकल रहता है। मायाके नीचे कभी नहीं। कला और पुरुष विवेकके कारण (विवेकी साधक) कलाके ऊपरी स्तर पर विराजमान रहता है। प्रकृति पुरुषके विवेकके कारण प्रधानसे नीचे नहीं आता है। पर मल और पुरुषके विवेक को अवस्थामें तो शिवसमानता (ही हो जाती है)। पुरुषमें पूर्णताकी दृष्टिसे तो (साक्षात्) शिवत्व ही (उपलब्ध हो जाता है)। इस विश्लेषणसे स्पष्ट है कि) कला तत्व ही किंचित्कर्तृत्व देने वाला है : अज्ञमें कर्तृत्वकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ?

माया और कलाकी अवस्थाओंको समझनेके बाद एक बार अणुकी अवस्थाका विश्लेषण करना आवश्यक हो गया है। अणुके दो रूप हैं। १. अविकारी (अविकार्य) और २. विकारी (अशुद्ध)। साधनाके सन्दर्भोंको, एक-एक सोपान परम्पराको, सीढ़ी दर सीढ़ी पार करता हुआ साधक उत्कर्ष प्राप्त करता है। उसके समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।[1] कर्मोंके क्षयमें 'अनन्त' भट्टारक परमेश्वरका प्रसाद ही कारण है। वे ही मायाके गर्भमें आवास करने वाले अणुओंके स्वामी हैं। यह उनका अधिकार क्षेत्र है। उनके प्रसाद (अनुग्रह) से ही अणुके कर्मोंका क्षय होता है। इसीको कृष्ण ज्ञानाग्निसे कर्मोंके भस्म होने की बात कहते हैं।[2] यही वह जगह है, जहाँ माया और पुरुषका विवेक होता है! अणु अपने पुरुष

---

१. तं० ९।१८५ २ श्रीमद्भगवद्गीता आ० ४।३७

रूपको पहचानने लगता है। यही मायासे ऊपरकी स्थिति है। यही विवेकका पहला स्तर है। जिस पुरुष (अणु) को यह विज्ञान लग जाता है, इसका आकलन हो जाता है—वह 'विज्ञानाकल' कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शनके ये मननीय स्थल हैं। जो मायाके ऊपर बैठा है, उसके मायाके नीचे सरकनेकी गुञ्जाइश कहाँ है?[1] अब जरा कलाको परखें। कला मायाका कार्य है। पहले माया—तब कला। कलाके स्तर पर भी अणुका सम्पर्क सृजनकी अनिवार्यता है। इस स्तर पर यदि विवेक उदित हुआ, तो भी सौभाग्य ही है। यहाँ भी कलाके ऊपरी स्तर पर ही पुरुषकी प्रतिष्ठा है। इसके अनुसार भी कलासे नीचे आना सम्भव नहीं।

सांख्य शास्त्रका पारिभाषिक शब्द है—प्रकृति। इसे प्रधान भी कहते हैं। केवला और मूल प्रकृति भी कहते हैं। सत्त्व, रजस् और तमस्-की साम्यावस्था-ही प्रकृति है। उस अवस्थामें यह विकृति-रहित होती है।[2] महत् (अन्तःकरण) अहंकार और पाँच तन्मात्रायें प्रकृति की ७ विकृतियाँ होती हैं। इसके १६ विकार होते हैं।

प्रकृति और विकृतिसे रहित पुरुष तत्त्व होता है।[3] वह कूटस्थ, नित्य और अपरिणामी होता है। सांख्यके नियमके अनुसार प्रकृति-पुरुष का यदि विवेक हो जाय, तो उस दशामें भी प्रधानके नीचे पुरुष नहीं आता। इस दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी मान्यतामें कोई अन्तर नहीं आता। वहाँ उसके नीचे न आवे, तो न आवे। यहाँ प्रकृति और प्रत्यभिज्ञा समर्थित पुरुषके विवेकमें भी मायासे नीचे आनेका प्रश्न ही नहीं उठता।[4]

विवेक शब्दको समझें—चित् सत्ता सबमें समायी हुई है। मायामें भी है। कला में भी है। इसमें यदि कर्तृत्वका अभिमान समा जाय, तो यह अविवेक कहलायेगा। कलामें भी विषयोंकी वृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं। वृत्तियोंके नष्ट होनेसे विकल्प रूप फलोत्पत्ति नहीं हो सकती। उस समय चित्की चिन्मयता में यदि वृत्ति रमे और चिन्मयतामें निष्कम्प दीप-

---

१. तं० ९।१८५ २. मूलप्रकृतिरविकृतिः सां० का० ३।२२ ३. सां० का० ३
४. तं ९।१८७

शिखाके समान प्रकाशकी 'लौ'का साक्षात्कार हो जाय, तो सारा अन्तर ही जल जायेगा। एक तादात्म्य बोधका उदय होगा। वही विवेक कहा जा सकता है। इसी स्तर यह समझ लेना है कि, विवेकमें 'चिन्मय ही कर्त्ता है' यह अनुभूति होती है। अविवेकमें स्वयंमें कर्त्ता का अभिमान होता है। अविवेक कासूक्ष्म स्तर कलासे प्रारम्भ हो जाता है और कला तत्त्व किंचित्कर्त्तृत्वका कारण बन जाता है। भला अज्ञमें कर्तृत्वकी शक्ति कभी आ सकती है ?

कला - पुरुष - विवेकमें कलाके ऊपरी स्तर पर अणुकी प्रतिष्ठा हुई। यह विवेकका दूसरा स्तर है। तीसरा स्तर है—मल और पुरुषके विवेकका। जब तटस्थ द्रष्टा बनकर उपासक यह समझ जाता है कि, मल (आवरण) अलग और पुरुष तत्त्व अलग है, तो फिर शिव सारूप्य तो तुरत प्राप्त ही हो गया। अभी शेष रह जाता है—यह देखना कि, मल किस प्रकार शान्त हो गया, उसके संस्कार कितने विगलित हुए और परम चित् सत्ताकी स्वतंन्त्रताका विमर्श कितना दृढ़ हुआ। इतना हो जानेकी दशाको पुरुष-पूर्णताकी दृष्टि कहते हैं। इस अवस्थाको शिवत्त्व कहते हैं।

किंचिज्ज्ञत्वदायिन्यशुद्धविद्या कलातो जाता। सा च विद्या बुद्धिं पश्यति, तद्गताँश्च सुखादीन् विवेकेन गृह्णाति। बुद्धेर्गुण-संकीर्णाकाराया विवेकेन ग्रहीतुम् असामर्थ्यात्। तस्मात् बुद्धि-प्रतिबिम्बितो भावो विद्यया विविच्यते। किंचित्कर्तृत्वं किंचि-द्रागसिद्धये क्वचिदेव कर्तृत्वम् इत्यर्थे पर्यवस्यति, क्वचिदेव च इत्यत्र भागे रागतत्वस्य व्यापारः। न च अवैराग्यकृतं तत्, अवैराग्यस्यापि अरक्तिदर्शनात्। वैराग्ये धर्मादावपि रक्ति-र्दृश्यते। तृप्तस्य च अन्नादौ अवैराग्याभावेऽपि अन्तःस्थरागान-पायात्। तेन विना पुनरवैराग्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात्।

कुछ-कुछ जाननेका भाव अशुद्ध विद्या देती है। यह कलासे उत्पन्न होती है। विद्या बुद्धिको देखती है। और बुद्धिगत सुख दुःख आदिको 'विवेक' पूर्वक ग्रहण करती है।[१] बुद्धि जब गुणोंसे संकीर्ण हो जाती है,

१. मा० वि० तं० १।२७-२८।

तो वह विवेकसे ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती है। फलतः बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित सभी भाव वर्ग विद्याके द्वारा विवेचित होते हैं। किंचित् कर्तृत्वके अर्थका पर्यवसान किसी (कार्यके) भाग (अंश) की सिद्धिके लिये कहीं (एकांश) में ही कर्तृत्व है, इस अर्थमें होता है।

क्वचित् एव (कहीं) (इस कथनसे व्यक्त) भागमें राग तत्त्वका व्यापार है। यह नहीं कहना चाहिये कि, यह अवैराग्यका व्यापार है। क्योंकि अवैराग्यमें भी अरक्तिका भाव दृष्टिगोचर होता है। वैराग्यमें भी धर्म आदिमें रक्ति (प्रवृत्ति) दीख पड़ती है। (जो) तृप्त है (उसका) अन्न आदिमे अवैराग्यके अभावमें भी भीतरी रागके अनपायका होना (ही इसमें प्रमाण है)। उसके विना अवैराग्यकी अनुपपत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

विद्या दो प्रकारकी होती है। १—शुद्ध विद्या और २—अशुद्ध विद्या। अशुद्ध विद्या कलासे उत्पन्न होती है। कला मायाका कार्य है और अशुद्ध विद्याकी कारण। शुद्ध विद्यामें अहंता और इदंताके समान अधि-करणका बोध उदित होता है। अशुद्ध विद्याके स्तरपर जीवको यह बोध होता है कि, मैं अमुक विषयका बड़ा विद्वान् हूँ। इसे किंचित्-ज्ञत्व कहते हैं। यह जानकारीका बोध ही बड़ा भारी अज्ञान है। शिवके स्तरकी सर्वज्ञता समाप्त हो जाती है और कुछ कुछ जाननेकी अविद्या घेर कर बैठ जाती है। यही अशुद्ध विद्या है।

यह अशुद्ध विद्या बुद्धिको देखती है। बुद्धिमें ही सुख-दुःख आदि प्रतिबिम्बित होते हैं। 'क्या सत् है, क्या असत् है, यह विवेक बुद्धि द्वारा नहीं होता है। विवेकके द्वारा तो अशुद्ध विद्या समस्त सुख दुःखादि द्वन्दोंको ग्रहण करती है। विद्या और बुद्धिकी इस स्थितिको समझना आवश्यक है। बुद्धि सत्त्व, रजस् और तमस् से संकीर्ण होती है। यही तीन गुण हैं। वह कभी सात्विक, कभी राजसिक और कभी तामसिक होती है। गुणोंसे प्रभावित होनेके कारण वह स्वयं विवेचनमें असमर्थ हो जाती है। ऐसी अवस्थामें स्वयं में ही प्रतिबिम्बित भावोंको स्वयं ही विविक्त करनेमें ही बुद्धि विद्याका सहारा लेती है। अथवा विद्या उसे कुछ-कुछ की सीमामें प्रतिफलित देखनेकी प्रेरणा देती है। इस प्रकार अशुद्ध विद्या और बुद्धिका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

सांख्यके अनुसार त्रिगुण-बुद्धि भी विवेकसे विषयोंको ग्रहण करती है पर इस दर्शनके अनुसार यह अमान्य है। रही किंचित्-कर्तृत्वकी बात। कुछ-कुछ कर लेनेकी शक्तिका भाव। सर्वकर्तृत्व शिवका गुण है। कुछ-कुछ कर गुजरनेका भाव तो पशु (पाशबद्ध जीव) में ही होता है। कुछ करनेका व्यापार भी किसी विषयकी सीमामें ही सम्भव है। किसी भागमें कोई क्रिया होती है। जिस भागमें क्रिया होती वहीं कर्तृत्व भी होता है। यही किंचित्कर्तृत्व कहलाता है। सर्व देश और सर्वकालमें शिव सर्वकर्तृत्व सम्पन्न होता है तथा किसी देश और किसी कालमें पशुद्वारा यह किंचित्कर्तृत्व ! 'क्वचित्' के भागांशमें जिस तत्त्वका व्यापार होता है, उसे 'राग' तत्व कहते हैं। १—यह राग तत्वका ही महत्व है कि, बुद्धिमें अनुराग विराग सब झलकते हैं।

वैराग्य एक भाव है। अवैराग्य उसका विरोधी भाव है। गृहस्थमें, सामान्य संसारी जीवमें अवैराग्य रहता है। यह कहना कि, किंचित्कर्तृत्व अवैराग्यसे प्रेरित है—ठीक नहीं; क्योंकि अवैराग्ययुक्त पुरुषमें भी राग-का अभाव दीख पड़ता है। जैसे—मालपूआके प्रति वैराग्य नहीं है—फिर भी ठूस-ठूस कर खा लेनेपर तुरत मालपूआ खानेमें अरक्ति हो जाती है। वैराग्यमें भी धर्म आदि कार्योंमें अनुराग रहता ही है। तृप्तिकी अवस्थामें अवैराग्यका अभाव अर्थात् वैराग्य दीख पड़ता है किन्तु हृदयमें मालपूआके प्रति घृणा नहीं होती अपितु उसके प्रति स्नेह रहता है। यह भाव बना रहता है कि, भोजन पच जानेपर इसे ग्रहण करना ही है। हृदयमें रागके रहने पर ही अरुचिरूप अवैराग्य उत्पन्न होता है। हृदयमें रागके न रहनेपर अवैराग्य कैसे हो सकता है ?[1]

कालश्च कार्यं कलयंस्तदवच्छिन्नं कर्तृत्वमपि कलयति, तुल्ये क्वचित्त्वे अस्मिन्नेव कर्तृत्वम् इत्यत्रार्थे नियतेर्व्यापारः। कार्यकारणभावेऽपि अस्या एव व्यापारः। तेन कलात एव एतच्चतुष्कं जातम्। इदमेव किंचिदधुना जानन् अभिष्वक्तः करोमि इत्येवं रूपा संविद् देहपुर्यष्टकादिगता पशुरित्युच्यते।

---

१. मा० वि० तं० १।२८।

काल कार्यका कलन करता है। कार्यका कलन करता हुआ तद-वच्छिन्न कर्तृत्वका भी कलन करता है। 'क्वचित्त्व' के तुल्य रहने पर भी इसी अंशमें कर्तृत्व है-इस अर्थमें नियतिका व्यापार है। कार्यकारण भावमें भी नियतिका व्यापार है।

इससे (स्पष्ट है कि) कलासे ही विद्या, राग, काल और नियति-चतुष्टयकी उत्पत्ति होती है। यही कुछ इस समय जानता हुआ अभिव्यक्त हो जाता है। 'मैं यह करता हूँ' इस प्रकारकी (परिमित) संविद् (उदित होती है) देह ज्ञानेन्द्रिय और अन्तःकरणमें (रहती है)। (इस प्रकार परिमितताका अशनभोग) करनेक कारण वह पशु कहलाता है।

अणु 'कला' के प्रभावमें आकर कुछ-कुछ करने वाला बन जाता है। विद्यासे अल्पज्ञ बन जाता है। 'राग' से अपूर्ण बन जाता है और विषयों-में आसक्त हो जाता है। 'नियति' से नियत वस्तुमें नियोजित होता है। कालसे उसकी क्या स्थिति होती है—इसीका उल्लेख यहाँ किया गया है।

काल कार्यका कलन करता है।[1] कालमें 'तुटि' 'पल' आदि समय-विभाजक क्षण आते हैं। क्षणोंमें ही कार्य सम्पन्न होते हैं। कार्यके साथ कर्त्ताका समवाय सम्बन्ध होता है। कार्यमें कार्यता होती है। कार्य लक्ष्य है और कार्यता लक्ष्यतावच्छेदक कहलाती है। कार्यता धर्म है। कार्य कार्यतासे अविच्छिन्न होता है। जो धर्म जिसका अवच्छेदक होता है, वह उस धर्मसे अवच्छिन्न होता है। यहाँ कर्त्तृत्व भी कालके कार्यकलयितृत्व धर्मसे अवच्छिन्न है।

कर्तृत्वका अर्थ इस दर्शनमें चेतनका स्वातन्त्र्य है। प्रश्न है कि, यदि वह नित्य अकाल पुरुष है, तो उसका अनित्य कालसे सम्पर्क ही क्या ? वस्तुतः कार्य दो प्रकारका होता है। शुद्ध और मायीय। शुद्ध अनव-च्छिन्न अहं परामर्शात्मक और स्वतन्त्र होता है। अशुद्ध घट-पट आदि बनानेसे सम्बन्धित है। ऐसे कार्योंकी ही कलना काल करता है। कर्त्तृत्व यहाँ कालके कार्यके आकलनरूपी धर्मसे अवच्छिन्न हो जाता है। काल कर्तृत्वका भी आकलन करता है।

१—तं० ९।२०१-२०२।

अवच्छिन्न कर्त्तृत्व परिमित प्रमातामें होता है। परिमित अर्थात् बद्ध अर्थात् मायासे प्रभावित। प्रमाताकर्त्ता। पाशबद्धजीव। यही अणु पुरुष है। इसमें कर्त्तापन तो है, पर मायीय है। अशुद्ध है। शुद्ध अहंपरामर्श उसमें नहीं है। इसीलिए कर्त्तापन कालके प्रतिक्षणके आकलन रूपी धर्मसे विभक्त माना जाता है।

स्थिति यह होती है कि, क्रियामें प्रवृत्त कर्त्ता कहीं कुछ स्वीकार करता है और कहीं कुछ त्याग करता है। दोनों स्थानोंमें आंशिक समानता है—दोनोंमें कर्त्तापन है किन्तु जिस विशिष्ट - कार्यके करनेमें कर्त्ता नियुक्त है; वहाँ उस अर्थ में (विषयमें) किसका व्यापार माना जाय? काल तो कर्त्तापनका आकलन मात्र करता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि, उस स्थानमें 'नियति' का ही नियोजन है।[1] कार्यकारणभावमें भी नियतिका ही व्यापार मान्य है। 'नियति' का ही यह नियम है कि, इसी कारणसे यही कार्य उत्पन्न होगा। यह सिद्धान्त है कि, कारणसे ही कार्य होगा। 'नियति' यही नियोजन कर देती है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, कलासे ही यह चारों तत्त्व (काल, विद्या, राग और नियति) उत्पन्न होते हैं।[2]

कर्त्तामें क्रियाकी जानकारी होती है। मायासे लेकर नियति तक की सारी तात्त्विकता यदि कर्त्ताको स्पष्ट हो जाय, तब तो वह अपने पशु भावसे ऊपर उठ सकता है। ऐसा होता नहीं है। उसकी जानकारीमें जो संविद् होती है, वह सीमित रहती है। वह सोचता है—'मैं ही शरीर हूँ। मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। मेरा अन्तःकरण है। मैं स्वयं स्वेच्छासे कर रहा हूँ।' यही कारण है कि, ऐसा कर्त्ता कर्ममें आसक्त रहता है। वही पशु कहलाता है।[3]

तदिदं मायादिषट्कं कञ्चुकषट्कमुच्यते। संविदो मायया अपहस्तितत्वेन कलादीनामुपरिपातिनां कञ्चुकवत् अवस्थानात्। एवं किंचित्कर्त्तृत्वं यत् मायाकार्यं तत्र किंचित्त्वविशिष्टं यत् कर्त्तृत्वं विशेष्यं तत्र व्याप्रियमाणा कला विद्यादिप्रसवहेतुः इति निरूपितम्।

---

१. तं० ९।२०२ २. स्व० ११।६३, तं० ९।२०३ ३. तं० ९।२०४-२०५

इस प्रकार माया कला काल विद्या राग और नियतिका जो छक्का है, वह छः कञ्चुक कहलाता है। संविद् मायाके द्वारा अपहस्तित हो जाती है।[१] परिणाम स्वरूप कला इत्यादि अणु कर्त्ताके ऊपर अपना आवरण डाल देते हैं-उनके ऊपर आ पड़ते हैं। जैसे कंचुक शरीरको आवृत करता है, उसी प्रकार आवृत करनेके कारण उक्त छः तत्व छः कञ्चुक कहलाते हैं।

किञ्चित्कर्तृत्व मायाका कार्य है। इसमें 'किञ्चित्' विशेषण है और कर्तृत्व विशेष्य है।[२] [विशेष्य विशेषणसे विशिष्ट होता है] किंचित्व विशिष्ट कर्तृत्व रूपी विशेष्यमें कला अपना व्यापार चालू रखती है। वहींसे विद्या आदिकी उत्पत्ति होती है। अतः कला ही विद्या आदिकी उत्पत्तिकी कारण कहलाती है।[३] इतना निरूपण हुआ।

माया, कला, राग, विद्या, काल और नियति ये छः कञ्चुक हैं।[१] इनसे अपरिमित शिव परिमित बन जाता है। परिणाम यह होता है कि, संविद् शक्तिका आनन्त्य मायाके द्वारा तिरस्कृत होता है। ज्ञानकी क्रिया-का, अपनेको ज्ञाता माननेका अशुद्ध अहङ्कार भेदवादिताके भवसागरमें गोता लगानेको लाचार कर देता है। ये मल आवारक होते हैं। कंचुक शरीरको ढक लेते हैं। ये छः कञ्चुक परम चरम व्यापकताको ढक लेते हैं। ढकनेके कारण ही ये कंचुक हैं।

किसी एक छोटी क्रियाको करनेके लिए जब कर्त्ता क्रियाकी ओर देखता है—कि, यह क्रिया कितनी है, कैसी है? फिर अपनी ओर देखता है कि, मैं ही इसको कर रहा हूँ। क्रियाका रूप छोटा होता ही है। उसमें 'कुछ' का भाव आ जाता है। वह 'कुछ' वस्तुतः विशेषता बताता है। इसलिये विशेषण है। इस विशेषणका विशेष्य 'कर्त्तापन' है। कर्त्तृत्व है। यह किंचित्कर्त्तृत्वका विश्लेषण है। यहाँ किंचित् (कुछ) भी है और कर्त्तृत्व (कर्त्तापन) भी है। यही कलाका क्षेत्र है। कर्त्ता-पन सबका नहीं वरन् 'कुछ' का है। कुछकी सीमामें कर्त्ता सीमित हो जाता है। उसका कर्त्तृत्व भी सीमित या संकुचित हो जाता है। कर्त्ता अपने

---

१. तं० ९।७४ पृ० ६६ पं० १५ पृ० ६७ पं० १४ २. तं० ९।२१३
३. तं० ९ पृ० १७१ पं० १-४, ९।२१७

को यह मानने लगता है कि, इस कामके करनेकी जानकारी मुझे ही है। यह जानकारी स्वभावतः सीमित रहेगी ही। इसी सीमित जानकारी को शास्त्रकी भाषामें विद्या कहते हैं। इस दशामें भेद व्यवहारका उल्लास हो जाता है। इन्द्रियाँ बुद्धिमें सुख-दुःख आदि विषयोंका अलग-अलग संस्कार भरने लग जाती है। जीव इस पचड़ेमें जकड़ने लग जाता है और वह अल्पज्ञ बन जाता है।[1] यह विद्याका काम है। कलासे ही यह उत्पन्न होती है।[2]

इदानीं विशेषण भागो यः किंचिदित्युक्तो ज्ञेयः कार्यश्च तं यावत् सा कला स्वात्मनः पृथक् कुरुते, तावत् एष एव सुख दुःखमोहात्मक–भोग्यविशेषानुस्यूतस्य सामान्यमात्रस्य तद्गुण–साम्यापरनाम्नः प्रकृतितत्त्वस्य सर्गः, इति भोक्तृभोग्ययुगलस्य सममेव कलातत्त्वायत्ता सृष्टिः।

किंचित् कर्तृत्वमें 'किंचित्' विशेषण भाग है। वह ज्ञेय और कार्य रूप होता है। उस विशेषण भागको कला स्वात्मसे पृथक् अभिव्यक्त कर देती है।[3] उसी समय सुख दुःख और मोहात्मक भोग्य विशेषसे अनुस्यूत सामान्यमात्र उन गुणोंके विभागसे रहित साम्यात्मक प्रकृति तत्वकी सृष्टि हो जाती है। भोक्ता और भोग्यकी अविभागात्मक परस्पर अवियुक्त युगल सृष्टि कला तत्वके अधीन होती है।[4]

इस प्रकरण में 'किंचित्' 'कर्त्तृत्व' भोग्य, भोक्ता, सामान्य विशेष और प्रधानतत्त्वके सन्दर्भको उजागर किया गया है। सर्व प्रथम 'कला' पर विचार आवश्यक है। कलाका लक्षण क्या है—यह भी सोचना है। 'किंचित्' का अर्थ कुछ होता है। कर्त्तृत्वका अर्थ है कर्त्तापन। दोनों शब्द एक साथ मिलकर कलाकी परिभाषा बनाते हैं। कलामें किंचित्कर्त्तृत्व होता है।

---

१. तं० ९।१९८   २. ९।२०३, मा० वि० १।२७
३. तं० ९।२१४   ४. तं० ९।२१५

एक बात ध्यान देने की है। भोक्ता और भोग्यमें अन्तर नहीं होता। भोग्य विना भोक्ताके व्यर्थ है और भोक्ता भोग्यके विना हो नहीं सकता। विशेषमें सामान्य भरा रहता है और विशेषण विशेष्यका ही अंश होता है। विशेष्यमें विशेष्यांश रूपसे कर्तृत्व अर्थात् भोक्तृत्व विद्यमान रहता है। कर्त्तृत्वके साथ 'किंचित्' विशेषण रूपसे भोग्य (ज्ञेय-कार्य) भी विद्यमान है।

जिस समय 'कला' 'भोग्य' अर्थात् वेद्य अर्थात् कार्यांशको अपनेसे पृथक् अभिव्यक्त करती है, उस समय एक नई सृष्टि हो जाती है। उसे प्रधान तत्त्व या प्रकृति तत्त्व कहते हैं। वह गुणोंकी साम्यावस्था होती है। सामान्य सर्वदा सुख, दुःख और मोहात्मक भोग्य विशेषों से रूई-सूत की तरह मिला रहता है। प्रधान तत्त्व वेद्य, सामान्यात्मक तथा भोग्य रूप ही होता है। 'कला' इसी प्रधान तत्त्वको बाह्यरूपसे अभिव्यक्त करती है अर्थात् उत्पन्न करती है।[1] भोक्ता और भोग्य दोनोंका एक साथ सृजन 'कला' तत्त्वके अधिकारकी बात है। इसके बाद तो वेद्यों, भोग्यों और कार्योंकी एक परम्परा ही चल पड़ती है। वैषम्यकी अनुभूति अणुको निरन्तर होने लगती है। प्रधान तत्त्व प्रत्येक भोक्ता (अणु) पुरुषके अनुसार पृथक्-पृथक् होता है। अव्यक्त होता हुआ भी यह कला तत्त्व की अपेक्षा स्थूल होता है तथा कला तत्त्वके अधीन होता है।

अत्र चैषां वास्तवेन पथा क्रमवन्ध्यैव सृष्टिरित्युक्तं, क्रमावभासोऽपि चास्तीत्यपि उक्तमेव। क्रमश्च विद्यारागादीनां विचित्रोऽपि दृष्टः। कश्चिद्रज्यन् वेत्ति, कोऽपि विदन् रज्यते इत्यादि। तेन भिन्न क्रमनिरूपणमपि रौरवादिषु शास्त्रेषु अविरुद्धं मन्तव्यम्। तदेव तु भोग्य-सामान्यं प्रक्षोभगतं गुणतत्त्वम्।

कला तत्वमें भोक्ता और भोग्यकी सृष्टिका कोई क्रम नहीं रहता। भोक्ता ही भोग्य है, यह वास्तविक तथ्य है। साथ ही यह भी तथ्य है कि, क्रमका अवभासन भी होता है। दोनो बातें पहले ही कही गयी हैं।

---

१. तं० ९।२१४

विद्या और रागमें विचित्र क्रम दीख पड़ता है। कोई अनुरक्त (आसक्त) रहते हुए तथ्य जान पाता है। कोई पहले जानकारी करता हुआ अनुरक्त होता है। इसलिये 'रुरु' आदि शैवशास्त्रोंमें जहाँ क्रम वर्णनमें भिन्नता दीख पड़ने की बात कही गयी है—उसमें कोई परस्पर विरोध नहीं है। यह भोग्य सामान्यात्मक प्रधान तत्त्व है। यही जब क्षुब्ध हो जाता है, तो गुण तत्त्वकी सृष्टि हो जाती है।

कार्योंमें क्रमकी अनुभूति स्वाभाविक है। 'नियति' कार्यकारण भावका नियमन करती है। पहले कारण फिर कार्य। 'काल' तत्त्व भी कृश और पुष्ट होनेके क्रमको तथा समयकी क्रमिकताको सिद्ध करता है। 'विद्या' भी अज्ञानके बाद 'ज्ञान' को क्रमिक रूपसे उत्पन्न करती है। 'राग' तत्त्व द्वारा विषय वस्तुओंकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। कला तो किंचिद् (कुछ) रूपता प्रदान करती है। इस प्रकार सामान्य रूपसे 'क्रम' का सर्वत्र अवभास होता ही रहता है।

किन्तु यह क्रमका निरूपण कहीं खण्डित भी हो जाता है। 'रुरु' नामक शैवागमका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें भी 'क्रम' दर्शनके सिद्धान्तका निरूपण है। ऐसी अवस्थामें भी अनुभव यह बताता है कि, 'क्रम-वाद विचित्ररूपसे भी सामने आ जाता है। जैसे 'विद्या और 'राग' तत्त्वोंपर यदि विचार किया जाय, तो यह प्रतीत होगा कि, क्रमका एक दूसरा रूप भी है। कोई वस्तु बहुत सुन्दर है। देख कर मन मचल उठता है। बादमें उसके अच्छे बुरे की जानकारी होती है। किसी वस्तुको पहले हम जान लेते हैं। तब उसके गुणके आधारपर अनुरक्ति होती है। यह क्रमका अनुकूल प्रतिकूल ढङ्गका चित्रण है।

अद्वैत दर्शनके अनुसार शिव ही विश्वमय है। 'कला' तत्त्व भी जिस 'वेद्य' को अभिव्यक्त करता है क्या वह कोई भिन्न वस्तु है? नहीं। शिव ही अणु बनता है और 'भोग' रूप वेद्य भी भोक्ताके अतिरिक्त कुछ नहीं है। सृष्टि तो अक्रम ही होती है। यह बात पहले ही निरूपित की जा चुकी है।[१]

---

१. तं० ९।२१९।

प्रकृतिके दो रूप होते हैं १-अक्षुभित और २-क्षुभित। अक्षुभितसे किसी प्रकारकी प्रवृत्तिका उदय नहीं होता। जब उसमें क्षोभ होता है, तो सत्त्व रजस् और तमस् (सुख, दुःख और मोह) रूपसे जगत्में विषमता दृष्टिगोचर होने लगती है[1]।

साम्यावस्थामें गुणोंका विभाग नहीं होता। इसे सामान्यात्मक अविभाग या भोग्य सामान्य कहते हैं। यह अक्षुभित अवस्था होती है। वही प्रधान तत्त्व है। क्षोभकी अवस्थाको 'गुण तत्त्व'के रूपसे जाना जाता है।

यत्र सुखं भोग्यरूपप्रकाशः सत्त्वम्, दुःखं प्रकाशाप्रकाशान्दोलनात्मकम्। अतएव क्रियारूपं रजः, मोहः प्रकाशाभावरूपस्तमः। त्रितयमप्येतत् भोग्यरूपम्। एवं क्षुब्धात प्रधानात कर्त्तव्यान्तरोदयः। न अक्षुब्धादिति। क्षोभः अवश्यमेव अन्तराले अभ्युपगन्तव्य इति सिद्धं सांख्यापरिदृष्टं पृथग्भूतं गुणतत्वम्।

जहाँ सुख है–वहाँ भोग्यरूप प्रकाश है। वही सत्त्व है। दुःख प्रकाश और अप्रकाशका आन्दोलन है। इसी लिये वह क्रिया रूप होता है। यही रजस् है। मोह प्रकाशके अभावको कहते हैं। वही तमस् है। सुख, दुःख और मोह ये तीनों भोग्य रूप हैं[1]। इस प्रकार (यह स्पष्ट है कि) क्षुब्ध प्रधानसे अन्य कर्त्तव्योंका उदय होता है। अक्षुब्ध प्रधानसे नहीं।

क्षोभ अन्तराल (मध्य) में होता है। ऊपर प्रकृति और नीचे बुद्धि इन दोनोंके बीचमें क्षोभ मानना ही पड़ेगा। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि, 'सांख्य' ने इस पृथग्-भूत गुणतत्वको समझा ही नहीं।[2]

सत्त्वरजस्तमसां सम्यावस्था प्रकृतिः[3] यह सांख्य दर्शनकी मान्यता है। प्रश्न यह होता है कि, यदि साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है, तो सुख दुःख और मोहसे सत्त्व, रज और तम रूप प्राकृतिक गुण कैसे उत्पन्न

---

१. तं० ९।२२०। २. तं० ९।२२१-२२२।
३. तं० ८।२५३-२५४। ४. सा० सू० १।६१।

होते हैं ? यहाँ इसी प्रश्नका उत्तर दिया गया है—प्रकाशका अंश होनेके कारण सुख ही सत्त्व रूपमें परिणत होता है। 'प्रकाशो ह्लाद उच्यते' अर्थात् 'प्रकाश ही आह्लाद है ? इस उक्तिके अनुसार ह्लाद रूप प्रकाश ही सुख है। सुख ही सत्त्व है। इसमें अहंका चमत्कार होता है।

प्रकाश और अप्रकाशके मिश्रगमें एक प्रकारका विचित्र कुछ अनुकूल और कुछ प्रतिकूल अस्थिरता उत्पन्न होती है। यहाँ कुछ ऐसा व्यापार होता है, जो दुःख कहलाता है। यही 'रज' है। इसमें भाव और अभावकी क्रियाका स्पन्दन होता रहता है। 'मोह' ही 'तम' है। यह आवरण करता है। सुख, दुःख और मोह ये तीनों भोग्य हैं। भोक्ताके आनन्दके लिये या उसके भोगके लिये ही ईश्वरेच्छासे प्रकृतिमें क्षोभ उत्पन्न होता है। क्षोभके उदय होते ही विभिन्न विभिन्न कार्योंका उदय हो जाता है।[1]

यह तथ्य है कि, विना वैषम्य आये, कार्यकी उत्पति नहीं होती। क्योंकि कारण ही उत्पन्न नहीं रहता[2]। जब वैषम्य उत्पन्न हो जाता है, तभी प्रकृति कारण बनती है[3]। इस लिये यह क्षोभ ही कार्य बन जाता है। क्षोभसे उत्पन्न कार्य ही सत्त्व, रज और तम हैं। क्षोभकी उत्पत्तिमें अनन्त क्षोभान्तरोंके जन्मकी अनवस्था रूपी दोष, सांख्य-दर्शनके अनुसार हो सकता है। जड़ कारण क्षोभके विना कार्यान्तरकी उत्पत्ति नहीं कर सकता। फिर गुणोंकी या बुद्धिकी भी उत्पत्ति कैसे हो पाती ? अतः सीधे प्रकृतिसे उत्पत्ति मानना बुद्धिमानी नहीं है। सांख्य दर्शनका गुणोंकी उत्पत्तिका सिद्धान्त भी इस विज्ञानसे शून्य ही है

स च क्षोभः प्रकृतेस्तत्त्वाधिष्ठानादेव, अन्यथा नियतं पुरुषं प्रति इति न सिद्ध्येत्। ततो गुणतत्त्वात् बुद्धितत्त्वं यत्र पुंप्रकाशो विषयश्च प्रतिबिम्बम् अर्पयतः। बुद्धितत्त्वात् अहंकारो येन बुद्धिप्रतिबिम्बिते वेद्यसम्पर्के कलुषे पुम्प्रकाशे अनात्मनि आत्माभिमानः शुक्तौ रजताभिमानवत्। अतएव

---

१. तं० ९।२२५। २. तं०८।२५४। ३. तं० ८।२५५।

कार इत्यनेन कृतकत्वमस्य उक्तं, सांख्यस्य तु तत् न युज्यते। स हि न आत्मनो विमर्शमयतामिच्छति, वयं तु कर्त्तृत्वमपि तस्य इच्छामः।

प्रकृतिमें यह क्षोभ तत्त्वके अधिष्ठाता तत्त्वाधिपति स्वतंत्रेश श्रीकण्ठके द्वारा होता है।[1] यदि ऐसा न होता, तो प्रतिनियत पुरुषके प्रति भी यह न होता। पश्चात् गुणतत्त्वसे बुद्धि तत्त्व निष्पन्न होता है। उसमें परमपुरुषका प्रकाश और विषय दोनों (अपना-अपना) प्रतिबिम्ब अर्पित करते हैं।[2] बुद्धितत्त्वसे अहंकार (उत्पन्न होता है)। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित वेद्य सम्पर्कके कारण पुरुषका प्रकाश कलुषित हो जाता है। (परिणामतः) अनात्ममें आत्मभाव (जागृत हो जाता है)। ठीक उसी तरह जैसे शुक्तिमें रजत की (बुद्धि उत्पन्न हो जाती है)। इसीलिये (अहङ्कारमें रहनेवाले) 'कार' शब्दसे कृतकत्व ही उक्त है। सांख्य को दृष्टिसे यह युक्ति संगत नहीं। वह आत्ममें विमर्शमयताको भी स्वीकृत नहीं करता है। हमारे मतसे उसमें न केवल विमर्शमयता है, अपितु कर्त्तृत्व भी है।

प्रकृतिमें क्षोभ अपने आप नहीं होता अपितु परमेश्वरकी इच्छासे ही उत्पन्न होता है। पुद्गल पुरुषके भोक्तृत्वको तृप्त करनेके लिये भोग्यकी आवश्यकताकी पूर्ति वही पूर्ण परमेश्वर करता है। यही कारण है कि, अणु पुरुषोंके प्रतिनियत व्यक्तिको वे भोग आकृष्ट करते हैं। बद्ध पुरुषकी तरह मुक्त पुरुषको प्रकृति अपने विकारोंसे मुग्ध नहीं कर पाती क्योंकि वह निर्विकार होता है। प्रवृत्त्यात्मक स्वभाव उसमें नहीं होते। इस दर्शनमें यही सिद्धान्त मान्य है।[3]

शिवेच्छासे ही गुणतत्त्वसे बुद्धितत्त्व उत्पन्न होता है।[4] यह बुद्धि-तत्त्व भी बड़ा निर्मल होता है। इसमें परमेश्वरके प्रकाशका पुट होता है। साथ ही साथ इसमें वेद्यमात्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है। वेद्य ही विषय है।

---

१. तं० ८।०५७, ९।२२५ २. तं० ८।२५८, ९।२२७ ३. तं० ९ पृ० १८१ पं० १-१४।
४. तं० ९।२२७

विषयका प्रतिबिम्ब बुद्धिमें दो प्रकारसे पड़ता है। (१) इन्द्रियोंके द्वारा और (२) कल्पना द्वारा। इन्द्रियों द्वारा प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष होता है और कल्पना द्वारा पड़ने वाला अध्याहृत होता है—उत्प्रेक्षित होता है[1] स्वप्न आदिमें होता है।

बुद्धितत्त्वसे अहङ्कार तत्त्व उत्पन्न होता है। बुद्धिमें पुंप्रकाश रहता ही है। उसी प्रकाश संवलित और वेद्यसे कलुषित बुद्धिमें अहमात्मक अभिमान उत्पन्न होता है। 'मैं करता हूँ' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रकारका मनन होने लगता है। वास्तवमें यह बुद्धिका ही बोध है। यह विचित्र बात है कि, वेद्य विषय इदन्ताके आधार होते हैं। बुद्धि वेद्य प्रतिबिम्बसे कलुषित रहती है, फिर उसमें अहंताका बोध कैसे होता है। इसका कारण केवल पुरुषके प्रकाशका प्रतिबिम्ब ही है। सीपीमें चाँदीका अभिमान भी ऐसा ही होता है। 'अहं' तो एकही शुद्ध 'अहं' तत्त्व है। अनात्म रूप बुद्धिमें आत्मभावका उदय 'कार' शब्दकी क्रियाशीलतासे व्यक्त हो जाता है।[2] इसीलिये इसे 'अहंकार' कहते हैं क्योंकि यह कार्य है। इसमें कृत्रिमता है ही।

आत्मामें या शिवमें प्रकाश और विमर्श दो गुण तो होते ही हैं, साथही उसमें सर्वकर्त्तृत्व भी शाश्वत रूपसे रहता है। यदि सांख्य दर्शनके अनुसार उसमें विमर्शमयता नहीं मानी जाती है, तो यह उसकी अपनी मनीषाका प्रश्न है। इस दर्शनमें पूर्णत्व, नित्यत्व सर्वव्यापकत्व और सर्वज्ञत्वके साथही साथ कर्त्तृत्व भी सर्वमान्य सिद्धान्त है। विमर्शमयता तो उसका धर्म ही है, उसकी शक्ति ही है।

तच्च शुद्धं विमर्श एव अप्रतियोगि स्वात्मचमत्काररूपोऽहमिति। एषोऽस्य अहङ्कारस्य करणस्कन्धः। प्रकृतिस्कन्धस्तु तस्यैव त्रिविधः सत्त्वादिभेदात्। तत्र सात्त्विको यस्मात् मनश्च बुद्धीन्द्रियपञ्चकं च। तत्र मनसि जन्ये सर्वतन्मात्रजननसामर्थ्ययुक्तः स जनकः।

---

१. ९।२२८   २. तं० ९।२३२

वह शुद्ध विमर्श ही है। वह अप्रतियोगी होता है। वही स्वात्मचमत्काररूप 'अहम्' है। यह अहङ्कार उससे विशिष्ट है। यह अनात्म बुद्धिमें अभिनिविष्ट है। यह इस अहङ्कारकी इन्द्रियात्मकता हुई। उसका एक दूसरा स्कन्ध भी है। वह है प्रकृति स्कन्ध! यह सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका होता है। सात्त्विक प्रकृतिस्कन्धसे मन और ज्ञानेन्द्रियाँ बनती हैं। इनमें मन रूपी कार्यमें समस्त तन्मात्राओंको उत्पन्न करनेकी शक्ति है। वही अहङ्कार इसका जनक भी है।

बुद्धिसे अहङ्कार तत्त्वकी उत्पत्तिके प्रसङ्गमें यह ध्यान देना आवश्यक है कि, वेद्य सम्पर्कसे पुरुषका प्रकाश कलुषित (अशुद्ध) हो जाता है। परिणामतः अशुद्ध अहम्की उत्पत्ति होती है। अनात्ममें आत्माभिमान हो जाता है। अशुद्ध अहम्का विमर्श भी अशुद्ध ही होगा। शुद्ध 'अहम्' से अशुद्ध 'अहम्' का यही अन्तर है। शुद्धविमर्श आत्माका प्रधान गुण है। 'चैतन्यमात्मा' सूत्रमें चैतन्यके पर्यायके रूपमें अनवच्छिन्नविमर्शशब्दका प्रयोग किया गया है। विमर्श अर्थात् विशुद्ध उपाधिहीन अव्यवहित ज्ञान और क्रियाशक्ति। ईश्वर शुद्धज्ञान और शुद्धक्रिया शक्तिवाला है। ज्ञानशक्तिसे सारी वस्तुओंका प्रकाशन और शुद्ध क्रियाशक्तिसे सारे संसारका निर्माण होता है। इसीलिये इस दर्शनको 'वस्तुवादी प्रत्ययवाद' कहते हैं।

शुद्ध अहम्, विमर्श और कर्त्तृत्वसे विशिष्ट होता है। उसका कोई प्रतियोगी नहीं होता। वह अपने समान स्वयं है। स्वात्मचमत्कार रूप इस अहम्की अनुभूति साधनाकी उच्च भूमि पर स्वतः होने लगती है। अहंका चमत्कार ही आह्लाद है।[1]

अशुद्ध 'अहम्' की गणना अन्तःकरण रूपमेंभी की जाती है। यह एक प्रकारकी इन्द्रियरूपता ही है। प्रकृतिस्कन्धकी दशामें अशुद्ध 'अहम्' कारण भी बनता है। यह तीन प्रकारका होता है। १-सात्त्विक 'अहम्' २-राजस 'अहम्' और ३-तामस अहम्। सात्त्विक 'अहम्'से मन और ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। मनका सम्बन्ध सभी विषयोंसे होता है। सभी तन्मात्राओंको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे संवलित अशुद्ध 'अहम्' जनक बन जाता है।[2] कारण बन जाता है।

---

१. तं० ९।२२२ पृ० १७८ पं० १ २. तं० ९।२३५

श्रोत्रे तु शब्द-जननसामर्थ्यविशिष्टः इति, यावत् घ्राणे गन्धजननयोग्यतायुक्त इति, भौतिकमपि न युक्तम् 'अहं शृणोमि' इत्याद्यनुगमाच्च स्फुटम् आहङ्कारिकत्वम्, कारणत्वेन च अवश्यं कत्रंशस्पर्शित्वम्, अन्यथा करणान्तरयोजनायाम् अनवस्थाद्यापातात्। कत्रंशश्च अहङ्कार एव, तेन मुख्ये करणे द्वे पुंसः ज्ञाने विद्या, क्रियायां कला, अन्धस्य पङ्गोश्च अहन्तारूपज्ञानक्रियानपगमात्।

श्रोत्रेन्द्रियमें शब्दको उत्पन्न करनेकी शक्ति भी अशुद्ध 'अहम्' की है, घ्राण (नासिका) में गन्धको उत्पन्न करने की शक्ति भी उसीकी है। पार्थिव होनेके कारण नासिका गन्धको ही ग्रहण कर सकती है, रस आदिको नहीं। 'इन्द्रियाँ भौतिक हैं' यह कहना ठीक नहीं। 'मैं सुनता हूँ' इस अनुगमके कारण इनमें आहंकारिकता है, (भौतिकता नहीं)। जहाँ करणत्व है, वहाँ अवश्य ही कर्मांशका स्पर्श है। अन्यथा करणान्तरकी योजना होने लगेगी और अनवस्थाका दोष आ जायेगा। कर्त्रांश पुरुष अहंकार ही है। इसलिये मुख्य करण दो हो जाते हैं। १-ज्ञानमें विद्या और २-क्रियामें कला। जैसे अन्धे और पङ्गुमें क्रिया अहंकार रूप ही है। इनका अनुभव होता है। अभाव नहीं होता।

शब्दको उत्पन्न करनेकी शक्ति अहंकारकी है। श्रोत्र इन्द्रियमें शब्दका श्रावण-प्रत्यक्ष होता है। अहङ्कार इसको उत्पन्न करता है। अहङ्कारमें अहमात्मक अभिमान होता है।[१] 'मैं सुनता हूँ' इस वाक्यमें आहङ्कारिकता स्पष्ट है।[२] इसी प्रकार घ्राण इन्द्रियमें अहङ्कार ही गन्धको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे संवलित है। 'मैं सूँघता हूँ' इस वाक्य प्रयोगमें अहङ्कारकी योग्यता साफ प्रतीत होती है।

प्रश्न यह है कि, इन्द्रियाँ भौतिक हैं या आहंकारिक? आँख रूप ग्रहण करती है, रूपवान्को अर्थात् पृथ्वी, अग्नि और जल जो महाभूत हैं, उनको नहीं! इसी तरह घ्राण इन्द्रिय गन्धको ग्रहण करती है—पृथ्वी

१. तं० ९।२३६ २. ९।२४१

या जलवायुको नहीं। इससे यह स्पष्ट है कि, आहंकारिकता का स्पर्श होनेके कारण अहमात्मक परामर्श होता है और करणमें कर्त्रंशका प्रभाव होता है। क्रिया कर्त्ताके द्वारा होती है। क्रियामें 'करण' अनिवार्य है। विना 'करण'के क्रिया नहीं होती। यदि करण रूपी इन्द्रियोंको दो प्रकार का १—आहंकारिक और २–भौतिक माना जायगा, तो इससे बड़ी अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी। जो प्रेरणाका विषय होता है, वह प्रेर्य होता है। प्रेर्य कर्म होता है। कर्त्ता प्रेरक होता है। कर्त्ताका अलग करण और प्रेर्यका अलग करण मानना अनवस्थाको उत्पन्न करनेके समान होगा। इसलिये यह सिद्धान्त बनता है कि, स्वतन्त्र शक्तिके कारण कर्त्ता परिमित प्रमाता बनकर कर्मका स्पर्श करने वाले अपने अंशोंको 'करण' का रूप प्रदान कर देता है। संकुचित प्रमाता अणु ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको इतना अभिन्न मानने लगता है कि, अत्यन्त अलग कुल्हाड़ी आदिको भी साधकतम मानने लगता है। स्वतन्त्र कर्त्ताके स्वातन्त्र्यका ही यह प्रभाव है कि, वह अपने कर्त्रंशको इतना पृथक्-पृथक् रूप प्रदान कर क्रिया सम्पन्न करता है।[1]

कर्त्रंश निश्चय ही अहंकार ही है। इसीलिये परिमित प्रमाताकी स्थितियोंके अनुसार दो करण प्रतीत होते हैं। ज्ञानकी स्थितिमें अशुद्ध विद्या करण बन जाती है। क्रियाकी स्थितिमें कला करण बन जाती है। प्रमाताका कर्तृत्व ही करणत्वका प्रयोजक होता है। इसीलिये विद्या और कलामें मुख्यतया करणता आ जाती है।

सामान्यतया वेद्यमें इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसे आँख वाले पंगु और अन्धे दोनोंको मङ्गल ग्रहमें स्थित पदार्थोंके प्रति समान ही अवभास हो सकता है। अर्थात् अन्धेमें भी रूपका अवभास सामान्यतया आँख वालेकी तरह हो जाता है। लंगड़ेको भी गतिका अवभास हो जाता है। अवभासनकी यह अनुभूति कर्त्रंशके स्पर्श विना नहीं हो सकती। इतने विश्लेषणसे यह सिद्ध हो जाता है कि, करणमें केवल भौतिक होने की मान्यता ठीक नहीं। सर्वत्र अहंकृतिकी प्रभाव-शालिता ही करणकी प्रेरिका है।

---

१. तं० ९।२४२-२४५।

उद्रिक्त-तन्मात्र-भागविशिष्टात् तु सात्त्विकादेव अहंकारात् कर्मेन्द्रियपञ्चकम् । 'अहं गच्छामि' इति अहङ्कारविशिष्टः कार्य-करणक्षमः पादेन्द्रियं, तस्य मुख्याधिष्ठानं बाह्यम् अन्यत्रापि तदस्त्येव इति रुग्णस्यापि न गतिविच्छेदः । न च कर्त्तव्य-सांकर्यम् उक्तादेव हेतोः क्रिया करणकार्या, मुख्यं च गमना-दीनां क्रियात्वं न रूपाद्युपलम्भस्य तस्य काणादतन्त्रे गुणत्वात् तस्मात् अवश्याभ्युपेयः कर्मेन्द्रियवर्गः ।

उद्रिक्त-तन्मात्र - भाग - विशिष्ट सात्विक अहंकारसे कर्मेन्द्रिय-पञ्चक (का निर्माण होता है) 'मैं जाता हूँ' इस अहंभावसे विशिष्ट कार्य करनेमें समर्थ पैर (नामक) कर्मेन्द्रिय है। उसका मुख्य अधिष्ठान बाह्य है। यह अन्यत्र (असमर्थमें) भी है। इसीलिये रुग्ण व्यक्तिमें भी गतिका विच्छेद नहीं होता। इसी हेतुवश कर्त्तव्य सांकर्यकी शङ्का अनुचित है क्योंकि क्रिया करणका कार्य है। मुख्य रूपसे जाना, कहना, स्वीकार करना, छोड़ना, विसर्जन करना और चलना आदि क्रियायें ही हैं। जाने आदिमें रूपआदिकी उपलब्धि तो नहीं होती है। (काणाद तन्त्र) वैशेषिक दर्शनमें बोधको गुण मानते हैं। इसलिये कर्मेन्द्रिय वर्गको (इसी रूपमें कार्यक्षम अर्थात् अहंकार रूपमें ही) स्वीकार करना चाहिये।

सत्त्व प्रधान, राजस प्रधान और तामस प्रधान तीन प्रकारके स्कन्धोंवाले अहंकार होते हैं। इनके वर्णन प्रसङ्गमें यह स्पष्ट हो चुका है। सत्त्वप्रधान अहंकारमें भी तन्मात्रका उद्रेक होता है, जिससे ज्ञानेन्द्रियाँ रूप-रसआदिका ग्रहण करती हैं। प्रस्तुत प्रकरणमें यह स्पष्ट किया गया है कि, तन्मात्राओंके उद्रेकसे युक्त सात्त्विक अहंकारसे ५ कर्मेन्द्रियोंका भी सृजन होता है। 'मैं जाता हूँ' इस वाक्यमें जानेकी क्रिया भी हो रही है। उसका ज्ञान भी हो रहा है। एक वचन और उत्तम पुरुषका भी बोध हो रहा है। पैरसे चलनेका भी बोध हो रहा है। कार्य करनेकी क्षमता पाद इन्द्रियमें है—इस अहंकारका भी बोध हो रहा है।

प्रश्न है कि, कर्मेन्द्रिय रूप पादका अधिष्ठान कहाँ है ? उत्तर स्पष्ट है। अहंक्रिया सारे शरीरमें अधिष्ठित है। पादेन्द्रियमें व्यवहार रूपसे अधिष्ठित गमन रूपी क्रिया है। यह पैरसे स्वभावतः होती है। नासिकासे गन्धकी प्राप्ति भी क्रिया है। यह क्रिया करण (नासिका) से होती है। कोई भी क्रिया विना करणकी होती ही नहीं। अत, यह पूछना कि, कर्मेन्द्रिय रूपी पैरका अधिष्ठान कहाँ है—स्वतः उत्तरित हो जाता है कि, कर्त्रंश रूप अहंकार ही उसका अधिष्ठान है। जिस पङ्गुके पास पैर नहीं है—गमन क्रिया और उसके साथ होने वाले सारे बोध भी उसे होते ही हैं। रोग ग्रस्त होने पर भी गतिमें बाधा नहीं होती।

यहाँ यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि, क्रियाओंमें साङ्कर्य हो रहा है क्योंकि क्रियायें करणसे ही सम्पन्न होती हैं।[1] कोई क्रिया अकरणिका नहीं होती। मुखसे हम भोजन करते हैं। पर भोजन हाथसे उठाया जाता है। जिसके हाथ नहीं हैं–वह हाथका ही काम मुखसे करता है। तो करणता कहाँ हुई ? स्पष्ट है कि, मुख अवयव तो हो सकता है पर करण तो हाथ ही हो सकता है।

जानेमें गमन क्रियाकी मुख्यता है। रूप आदिकी प्राप्ति या जानेका बोध आदि ज्ञान होना मुख्य क्रियायें नहीं हैं। वैशेषिक दर्शनमें उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन यह पाँच क्रियायें[2] मान्य हैं। बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और भावना ये ९ गुण माने जाते हैं। इस दृष्टिसे ज्ञा धातुमें 'जानना' गुण है—(बुद्धि धर्म है) या क्रिया है—क्या माना जाय ? 'जाने' में गति और अन्यकर्मोंका उपलम्भन (दर्शनात्मक ज्ञान–अहंकारात्मक बोध) होता ही है। क्रियामें हेतुकी अनवस्थाके कारण वैशेषिकका यह मत मान्य नहीं है। इसलिये कर्मेन्द्रियोंका मानना अनिवार्यतः आवश्यक है। देखना चक्षु-सापेक्ष है। क्योंकि क्रिया है। 'गमन'को वैशेषिक दार्शनिक क्रिया कहते हैं। प्रश्न है कि, उसका करण क्या है ? इस तरह दोनों क्रियाओंमें साधकतम करणके सम्बन्धमें बड़ी उलझन खड़ी हो जाती है।

---

१. तं० ९। २५९ २. तं० ९। २५८।

स च पञ्चकः, अनुसन्धेस्तावत्त्वात् । तथाहि बहिस्तावत् त्यागाय वा अनुसन्धिः, आदानाय वा । द्वयाय वा, उभयरहितत्वेन स्वरूपविश्रान्तये वा । तत्र क्रमेण पायुः, पाणिः, पादः, उपस्थ इति । अन्तः प्राणाश्रय-कर्मानुसन्धेस्तु वागिन्द्रियम् । तेन इन्द्रियाधिष्ठाने हस्तेन यद्गमनं तदपि पादेन्द्रियस्यैव कर्म इति मन्तव्यम् तेन कर्मानन्त्यमपि न इन्द्रियानन्त्यमावहेत्, इयति राजसस्य उपश्लेषकत्वम् इत्याहुः ।

और कर्मेन्द्रियाँ ५ हैं क्योंकि अनुसन्धियाँ भी उतनी ही हैं। जैसे कि (त्याग और आदानके अनुसंधानमें यह प्रश्न होता है कि) यह अनुसन्धि त्यागके लिये है (हेय है) ? आदानके लिये है (उपादेय है) ? क्या दोनोंके लिये है ? अथवा हेय और उपादेय भावसे रहित स्वरूपमें विश्रान्तिके लिये है ? (इस दृष्टिसे) क्रमशः पायु, पाणि, पाद, और उपस्थ ये चार कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। जब भीतर प्राणाश्रित कर्मका अनुसंधान होता है, तब वाक् इन्द्रियका उदय होता है। इस तरह इन्द्रियोंके अधिष्ठानमें 'हाथसे जो गमन होता है—यह भी पादेन्द्रियका ही काम है, यह मानना चाहिये। इससे कर्मकी अनन्ततासे इन्द्रियोंकी अनन्तता नहीं हो सकेगी। यहाँ राजस अहंकारका स्कन्ध है—यह (आचार्यगण) कहते हैं।

कर्मेन्द्रियोंकी संख्याके विचारमें कर्मानुसंधानका बड़ा महत्त्व है। पहला अनुसन्धान त्यागका होता है। क्या हेय है ? यह कर्मानुसन्धि 'पायु' इन्द्रियको जन्म देती है। कर्म भेदके कारण अनुसन्धान बदल जाता है[1]। फलतः आदानके अनुसन्धानमें (ग्रहणकी अनुसन्धिमें 'पाणि' का सृजन हो जाता है।) हाथ द्वारा ही उपादान होता है। हान और उपादान दोनों अनुसन्धानोंकी दशामें 'पाद' का उदय होता है। गतिमें कुछ त्याग और आगेका ग्रहण दोनों कार्य साथ-साथ होते हैं। जहाँ न ही हानका और न तो उपादानका ही अनुसन्धान होता है—वहाँ 'उपस्थ' इन्द्रियका उदय होता है। वहाँ 'स्व' रूपमें विश्रामके आनन्दकी उपलब्धि होती है। ये चार बाह्य कर्मानुसन्धानके परिणाम हैं।

---

१. तं० ९।२६५।

जब अन्तः अर्थात् अन्तःकरणमें ही प्राणका आश्रय लेकर कर्मानुन्धान होता है, तब 'वाक्' इन्द्रियका प्राणाधिष्ठानमें उदय होता है। इन्द्रियोंका वास्तविक अधिष्ठान अहंकार है। हाथसे जब 'गमन' क्रिया हो, तो इन्द्रियाधिष्ठान हाथमें हो जायगा और वह पादेन्द्रियका काम माना जायेगा। भले अनन्त कर्म हों पर कर्मानुसन्धानकी पञ्चधा (४ बाह्य + १ आन्तरिक) प्रवृत्तिके कारण पाँच ही कर्मेन्द्रियाँ मान्य हैं—यह निश्चय है। यहाँ तक राजस अहंकार-स्कन्धका प्रभाव स्पष्ट है।

अन्ये च राजसान्मन इत्याहुः। अन्ये तु सात्त्विकात् मनो राजसाच्च इन्द्रियाणि इति। भोक्त्रंशाच्छादकात् तु तमःप्रधानाहंकारात् तन्मात्राणि वेद्यैकरूपाणि पञ्च। शब्द विशेषाणां हि क्षोभात्मनां यदेकम् अक्षोभात्मकं प्राग्भावि सामान्यम् अविशेषात्मकं तत् शब्दतन्मात्रम्। एव गन्धान्तेऽपिवाच्यम्। तत्र शब्दतन्मात्रात् क्षुभितात्अवकाशदानव्यापारं नभः। शब्दस्य वाच्याध्यासावकाशसहत्वात्। शब्दतन्मात्रं क्षुभितं वायुः, शब्दस्तु अस्य नभसा विरहाभावात्।

दूसरे (विद्वान्) राजस स्कन्धसे ही मनका उदय मानते हैं। दूसरे सात्त्विकसे मन और राजससे इन्द्रियोंका जन्म मानते हैं। भोक्ता (कर्त्ता) का अंश भोक्त्रंश कहलाता है। वही कत्रंश कहलाता है। उसका आच्छादक तमः प्रधान अहंकार, वेद्य मात्र तन्मात्राओंको जन्म देता है। ये पाँच होती हैं। क्षोभात्मक शब्द विशेषोंका जो एक अक्षोभात्मक विशेषात्मक प्रथमपूर्वभावी सामान्य है, वह शब्द तन्मात्र है। इसीप्रकार गन्धतकके सम्बन्धमें कहना चाहिये। क्षुभित शब्द तन्मात्रसे अवकाश दान व्यापार वाला आकाश उत्पन्न हुआ। शब्दका जो भी वाच्यार्थका अध्यास है—इसके अवकाशको नभ ही सम्भालता है। क्षुभित शब्द तन्मात्रसे वायु उत्पन्न होता है। वायुका आकाशसे विरह नहीं होता। वायु शब्द-धर्मी और स्पर्श धर्मी भी है।

मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें मतभेद भी है। कुछ लोग मनमें रजोगुणकी अनुभूतिके कारण उसे राजस ही मानते हैं। कुछ लोग सात्त्विक मानते हैं। कुछ इन्द्रियोंको ही राजस मानते हैं। 'अन्य' शब्दके प्रयोगसे यह स्पष्ट है कि, इन मतोंमें ग्रन्थकारका स्वारस्य नहीं है।

जहाँ तक तन्मात्राओंका प्रश्न है—ये ५ पाँच होती हैं। पांचों वेद्य मात्र हैं। तमः प्रधान अहंकार स्कन्धसे इनकी उत्पत्ति होती है। 'तम' में यह विशेषता है कि, वह कर्त्ताके अंशका आच्छादन कर देता है[1]। यह प्रकाश्य और ग्राह्यमात्र रह जाता है। इसमें ग्राहकता, प्रकाशकता अथवा वेदकतारूप भोक्ताके, भावका सर्वथा अभाव हो जाता है। इसीलिये उन्हें वेद्य कहते हैं।

'सभी विशेष अविशेष-निष्ठ होते हैं' यह सिद्धान्त है। अविशेष ही सामान्य होता है। वह अक्षोभात्मक होता है। उसमें कार्यके प्रति उन्मुखता नहीं रहती। कार्यके प्रति उन्मुख अर्थात् क्षोभात्मक जितने भी विशेष-विशेष शब्द हैं—वे सभी उसी अक्षोभात्मक पहलेसे विद्यमान सामान्य शब्द तत्त्वसे निष्पन्न हैं। यही शब्द-सामान्य शब्द-तन्मात्र है।

इसी प्रकार पृथिवीमें सामान्य गन्ध गन्ध-तन्मात्र है। जब शब्द तन्मात्र कार्योन्मुख होता है—उस समय आकाशकी उत्पत्ति हो जाती है। आकाशका यह धर्म है कि, वह आकाशरूप है। वह शब्दके प्रसारको खाली जगह देता है। यही उसका व्यापार भी है। शब्दके समस्त वाच्यार्थोंका विस्तार आकाशकी अवकाशतामें ही होता है। जैसे शब्द अपनेमें वाच्याध्यासको अवकाश देता है, उसी प्रकार आकाश भी अपनेमें सबको स्थान देता है।[2] आकाशका और वायुका कभी वियोग नहीं होता। वायु शब्द-तन्मात्रके कार्योन्मुख होनेसे बनता है तथा स्पर्शवान् होता है।[3]

रूपं क्षुभितं तेजः, पूर्वगुणौ तु पूर्ववत्। रसः क्षुभित आपः, पूर्वे त्रयः पूर्ववत्। गन्धः क्षुभितः धरा। पूर्वे चत्वारः पूर्ववत्। अन्ये शब्दस्पर्शाभ्यां वायुः, इत्यादि क्रमेण पञ्चभ्यो धरणीति

---

१. तं० ९।२७९। २. तं० ९।२८३-२८४। ३. तं० ९।२८

मन्यन्ते। गुणसमुदायमात्रं च पृथ्वी। नान्यो गुणी कश्चित्। अस्मिंश्च तत्व–कलापे ऊर्ध्वोर्ध्वगुणं व्यापकं, निकृष्टगुणं तु व्याप्यं। स एव गुणस्य उत्कर्षो, यत् तेन विना गुणान्तरं न उपपद्यते। तेन, पृथ्वीतत्वं शिवतत्वात् प्रभृति जलतत्वेन व्याप्तम् एवं जलं तेजसा इत्यादि यावत्शक्तितत्त्वम्।

रूप क्षुभित होकर तेज (बनता है) इसमें भी शब्द और स्पर्शके गुण पूर्ववत् विद्यमान हैं। रस क्षुब्ध होकर जल रूपमें परिणत होता है। शब्द, स्पर्श और रूप पूर्ववत् हैं। गन्ध क्षुभित होकर पृथ्वी बन जाता है। कुछ दूसरे विद्वान् कहते हैं कि, शब्द और स्पर्शसे वायु बनता है। इसी रूपके पाँच गुणोंसे धरणीकी उत्पत्ति मानते हैं। गुण समुदाय-रूप धरा है। गुणी नहीं।

तत्वोंके इस समूहमें ऊपर-ऊपरके गुण व्यापक होते हैं और बादके व्याप्य। गुणका यही उत्कर्ष है कि, उसके विना गुणान्तरकी उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार पृथ्वी तत्त्व शिव तत्त्वसे लेकर जलतत्त्वसे व्याप्त है। जल भी तेजसे इत्यादि शक्ति पर्यन्त-विस्तार है।

रूपके साथ ही शब्द और स्पर्श भी प्रक्षुब्ध हो जाते हैं। परिणामतः शब्द और स्पर्श तो उसमें रहते ही हैं। तेजमें एक अन्य गुण भी आ जाता है—वह आलोक है। गन्धके कार्योन्मुख होनेसे पृथिवी होती है। इसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस रूप चार गुण पहले से ही उपचरित हैं। गन्ध तो प्रधान गुण है। इसप्रकार पृथ्वी—सर्वगुण सम्पन्न तत्व है।

मतभेदोंकी चर्चा ग्रन्थकार यहाँ भी करते हैं। वे कहते हैं—शब्द और स्पर्शसे वायु और इसी क्रमसे धराकी उत्पत्ति होती है। इसमें भी ग्रन्थकारका स्वारस्य नहीं।

पृथ्वी गुण समुदाय मात्र है। पाँचों गुण इसमें ओतप्रोत हैं। इन पाँचों गुणोंके अतिरिक्त गुणी अर्थात् धर्मी यहाँ कौन है? कोई नहीं।[1] शिवसे लेकर पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्वोंका यह समूह यहाँतक विश्लेषित हुआ।

---

१. तं० ९।२९३

इसमें जो तत्व जिसके पहले है, वह नीचेके तत्वमें व्याप्त रहता है। जैसे शक्तिमें शिव व्याप्त है। शिव व्यापक तत्व है और शक्ति व्याप्य-तत्त्व। उसीतरह ऊपर-ऊपर वाले कारण तत्त्व व्यापक हैं और कार्य तत्त्व व्याप्य।

यह गुणकी महत्ता है कि, उसके विना गुणान्तर अर्थात् दूसरे गुणोंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती—यह स्पष्ट है। शिव तत्वसे लेकर जल पर्यन्त ३५ तत्वोंसे पृथ्वी व्याप्त है। अतः पृथ्वी व्याप्य है और कारण रूप ऊपरके पैंतिसों तत्त्व पृथ्वीकी अपेक्षा व्यापक।[1] पृथ्वीसे ऊपर क्रमशः ध्यान देने पर यह सिद्ध हो जाता है कि, जल तेजसे व्याप्त है। तेज वायुसे, वायु आकाशसे इत्यादि। यह क्रम शक्ति तत्त्व तक चलता है। और सबमें व्यापक शिवतत्त्व अन्तिम तत्त्व है।

भूतानि तन्मात्रगणेन्द्रियाणि,
मूलं पुमान् कञ्चुकयुक् सुशुद्धम्।
विद्यादि शक्त्यन्तमियान् स्वसंवित्—
सिन्धोस्तरङ्ग-प्रसरप्रकारः ॥१॥

सअलतत्त परिउण्णउ, सअलतत्त उत्तिण्णउ।
परिआणह अत्ताण्णउ, परमसिवेण समाणउ ॥२॥

संस्कृतछाया—

सकल तत्त्व परिव्याप्तः, सकलतत्वोत्तीर्णः।
पर्यन्तधामा सः सर्वत्र व्यापकः परमशिवेन समानः ॥२॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे
तत्वस्वरूपप्रकाशनं नाम अष्टममाह्निकम्।

पञ्चमहाभूत, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ— मूल, पुरुष कञ्चुक, और शुद्ध विद्यासे शक्तिपर्यन्त सारा प्रसार, स्वात्म संवित् रूपी सिन्धुकी तरङ्गोंके प्रसारका एक विलक्षण प्रकार ही है ॥१॥

---

१. तं० ९।३०३-३१०

वह परमशिव तत्त्व है। वह सभी ३६ तत्त्वोंकी अन्तिम सीमा है। वह विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी है। पर्यन्त धाम वाला वह सर्वव्यापक तत्त्व है। वही अपने समान है।

परात्रिशिका ग्रन्थके अनुत्तर प्रक्रिया प्रकरणमें यह सारा तत्व प्रसार विवृत किया गया है। इस दर्शनमें दो अध्वा मान्य हैं। १-अशुद्ध और २—शुद्ध। पृथ्वीसे लेकर शक्ति पर्यन्त जितना भी प्रसार है, वह इन्हीं दो अध्वाओंका उल्लास है। उसकी उत्प्रेक्षा ऐसे समुद्रसे की जा सकती है, जो अतलान्तक महासागरकी तरह लहरा रहा हो। यह शैव संवित् समुद्र है। इसका इतना प्रसार ही इसकी महातरङ्गें हैं। इस विचित्र विलक्षण उल्लास प्रसारके प्रकारको कोई साधक ही समझ सकता है।

वह परमशिव स्वयं अपने ही समान है। अनन्वय है किन्तु सान्वय भी है। सबमें व्याप्त होकर विद्यमान है। विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी है। यह सारा जगत् जो इदं रूपसे दृष्टिगोचर हो रहा है, उसमें अहम् का सर्वतोभावेन समन्वय है। जो इदमात्मक है, वह मिथ्या नहीं है, वरन् अहन्तासे उद्भासित है। यही इस विश्वका वैलक्षण्य है। उपासकोंकी अनुभूतिका विषय है। किं बहुना यह ध्रुव सिद्धांत है कि, वह परमशिव परमशिव ही है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित 'तन्त्रसार'के तत्त्वस्वरूपप्रकाशन नामक अष्टम आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र 'हंस' विरचित नीर-क्षीर-विवेक भाष्य शुभंभूयात्।

नवममाह्निकम्

अथ तत्त्वानां भेदो निरूप्यते

स च सप्तधा षडर्धशास्त्र एव परं परमेशेन उक्तः। तत्र शिवाः, मन्त्रमहेशाः, मन्त्रेशाः, मन्त्राः, विज्ञानाकलाः, प्रलयाकलाः, सकला इति सप्त शक्तिमन्तः। एषां सप्तैव शक्तयः। तद्भेदात् पृथिव्यादिप्रधानतत्त्वान्तं चतुर्दशभिर्भेदैः प्रत्येकं स्वं रूपं पञ्चदशं। तत्र स्वं रूपं प्रमेयतायोग्यं स्वात्मनिष्ठम्-अपराभट्टारिकानुग्रहात्। प्रमातृषु उद्रिक्तशक्तिषु यत् विश्रान्तिभाजनं तत् तस्यैव शाक्तम् रूपम् श्रीमत्परापरानुग्रहात्। तच्च सप्तविधं, शक्तीनां तावत्त्वात्।

षडर्ध(त्रिक) दर्शनमें परमेश्वरने परतत्त्वको सात प्रकारका कहा है–शिव, मन्त्रमहेश, मन्त्रेश, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल ये सात शक्तिमान् हैं। इनकी शक्तियां भी सातही हैं। (शक्ति +शक्तिमान्के) इस भेदसे पृथ्वीसे लेकर शक्ति पर्यन्त १४ भेदोंसे युक्त प्रत्येकका अपना रूप १५ होता है। इस प्रकार प्रमेयताके योग्य अपना रूप स्वात्मनिष्ठ ही होता है, अपरा भट्टारिकाके अनुग्रहके कारण। उद्रिक्तशक्ति प्रमाताओंमें जो विश्रान्तिका पात्र है, वह उसी का शक्तिरूप है। श्रीपरापरा शक्तिका अनुग्रह ही इसमें हेतु है। शाक्तरूप सातप्रकार का होता है। क्योंकि शक्तियाँ भी सात ही होती हैं।[1]

सारा संसार प्रमेय है। इसकी प्रमा प्रमाताको होती है। प्रमाताओं को शैवदर्शनने सात भागोंमें विभक्त किया है। वे हैं—१-शिव, २–मन्त्रमहेश, ३–मन्त्रेश, ४–मन्त्र, ५–विज्ञानाकल, ६-प्रलयाकल और ७–सकल। ये सभी शक्तिमान् हैं। शक्तिमान् शक्तिसे सम्पन्न होता है। यहाँ पृथ्वीसे प्रधानतत्त्वके सन्दर्भमें तान्त्रिक दृष्टिकोण प्रस्तुत कर

---

१. तं० १-१-७८।

रहे हैं। शक्ति और शक्तिमान् भेदसे धरातत्त्व भी भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है। और अपने रूपके सहित यह पन्द्रह प्रकार का हो जाता है।[1] स्वयं अपना रूप प्रमेय होता है। प्रमेयकी प्रमा प्रमाताको होती है। तत्त्वतः प्रमेयकी पृथक् सत्ताका प्रश्न ही नहीं उठता। वह अपनेमें ही स्थित होता है। इसके मूलमें अपरा भट्टारिका ही है। उसकी कृपासे ही ऐसा होता है। इस स्थिति को अपरांश स्थिति कहते। इसमें जड़ताका प्राधान्य होता है—शक्ति और शक्तिमान्का यहाँ विचार भी नहीं उठता।

शक्तिका उद्रेक एक स्वाभाविक क्रिया है। यह क्रिया प्रमातामें होती है। प्रमातामें विश्रान्ति भेद और अभेद अनुभूति-मूलक होती हैं। दर्पणमें रूप दीख पड़ता है, यह स्वयं विश्रान्ति है। रूपकी दृष्टिसे भेद भी है और प्रमाता ही उस रूपमें है—इस दृष्टिसे अभेद भी है। यह व्यापार परापरा शक्तिकी कृपाका परिणाम है। यह प्रमाणांशकी अवस्था है। विश्रान्ति भाजनका यह शाक्तरूप होता है। चूँकि शक्तियाँ सात प्रकारकी होती हैं। इसलिये यह सात प्रकारका ही होता है।[2]

शक्तिमद्रूपप्रधाने तु प्रमातृवर्गे यत् विश्रान्तं तच्छक्तिमच्छिवरूपं श्रीमत्पराभट्टारिकाऽनुग्रहात्, तदपि सप्तविधं— प्रमातॄणां शिवात् प्रभृति सकलान्तानां तावताम् उक्तत्वात्। तत्र शक्ति भेदादेव प्रमातॄणां भेदः। स च स्फुटीकरणार्थं सकलादिक्रमेण भण्यते।

शक्तिमद्रूप प्रधाने = शक्तिमान् रूप के प्रधान होने पर। तु = तो। प्रमातृवर्गे = प्रमातावर्गमें। यत् = जो। विश्रान्तं = विश्रान्त है। तत् = वह शक्तिमत् = शक्तिमान्। शिवरूपम् = शिव रूप है। श्रीमत्पराभट्टारिकानुग्रहात् = श्री समन्वित परा भट्टारिका की कृपा से। तदपि = वह सप्तविध = सात प्रकार का है। प्रमातॄणां = प्रमाताओं की

---

१. शक्तिमच्छक्तिभेदेन धरातत्त्वं विभिद्यते।
स्वरूपसहितं तच्च विज्ञेयं दशपञ्चधा। मा० वि० २।२

२. तं० १०।८-९

शिवात् प्रभृति—शिवसे लेकर। सकलान्तानां—सकल प्रमाताओं तक को तावतां—उतनी (संख्या) उक्तत्वात्—कहने के कारण। तत्र—वहाँ। शक्ति भेदादेव—शक्ति भेद से ही। प्रमातृणां—प्रमाताओं का। भेद—भेद है। स च—और वह। स्फुटीकरणार्थं—स्पष्ट करने के लिये। सकलादिक्रमेण—सकल [1] आदि के क्रमसे। भण्यते (उच्यते) कहा जा रहा है।

प्रमातावर्गमें जब शक्तिमान् रूपका प्राधान्य होता है, तब उसमें शक्तिमान् शिव रूपही विश्रान्त होता है। यह परा भट्टारिकाकी अनुकम्पा-का परिणाम है। यह सात प्रकारका होता है। क्योंकि शिवसे सकल पर्यन्त ७ सातही प्रमाता कहे गये हैं। प्रमाताओंमें भेदका दीख पड़ना शक्तिके ऊपर निर्भर है। जैसा जितना शक्ति-भेद होगा, वैसा उतना प्रमाताओंमें भेद होगा। इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है। सकलसे प्रारम्भ कर शिव पर्यन्त इस भेदवादिता पर विचार किया जा रहा है।

यह ध्यान देनेकी बात है कि अपरा, परापरा और परा शक्तियोंके अनुग्रहका उल्लास ही यह विश्व है। प्रमाता, प्रमेय, प्रमा और प्रमाणको स्वरूपापत्ति का मौलिक कारण शक्ति है। शक्तिमान् शक्तिसे नित्य समन्वित है। एक ही वह प्रमेयताकी योग्यता प्राप्तकर आणव-जडत्वको वरणकर लेता है। कहीं वह शाक्त रूप ग्रहण करता है और कहीं शक्ति-मान् शिव रूप प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इसकी संख्या सात हो जाती है। प्रकरण वश यहाँ उसका ही वर्णन क्रमिक रूपसे किया जा रहा है।

तत्र सकलस्य विद्याकले शक्तिः, तद्विशेषरूपत्वात् बुद्धि-कर्माक्षशक्तीनां, प्रलयाकलस्य तु त एव निर्विषयत्वात् अस्फुटे। विज्ञानाकलस्य त एव विगलत्कल्पे तत्संस्कारसचिवा प्रबुद्धय-माना शुद्धविद्या मन्त्रस्य तत्संस्कारहीना सैव प्रबुद्धा मन्त्रे-शस्य। सैव इच्छाशक्तिरूपतां स्वातन्त्र्यस्वभावां जिघृक्षन्ती मन्त्रमहेश्वरस्य। इच्छात्मिका स्फुटस्वातन्त्र्यात्मिका शिवस्य इति शाक्तभेदाः सप्त मुख्याः।

---

१. तं० १०।१७७

सकलस्य—सकल पुरुष की। विद्याकले—विद्या और कला। तद्विशेष रूपत्वात्—उसके विशेष रूप होने के कारण। बुद्धिकर्माक्ष-शक्तीनां ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के। प्रलयाकलस्य–प्रलयाकलका। त एव—वही दोनों। निर्विषयत्वात्—विषयों (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द) से रहित होने से। अस्फुटे—अस्पष्ट। विज्ञानाकलस्य—विज्ञा-नाकलका। विगलत्कल्पे विनष्ट सदृश। तत्संस्कारसचिवा—उनके संस्कारकी सहायिका। प्रबुद्धचमाना जागृत हो रही। शुद्धविद्या मन्त्रस्य—मन्त्रकी शक्ति शुद्ध विद्या। तत्संस्कारहोना—उन संस्कारों से रहित। सैव-वही। प्रबुद्धा--जागृत। मन्त्रेशस्य--मन्त्रेश की। सैव--वही इच्छाशक्तिरूपतां—इच्छा शक्तिकी रूपताको। स्वातन्त्र्य-स्वभावां--स्वातन्त्र्य स्वभाववालीको। जिघृक्षन्ती--ग्रहण करनेकी इच्छा वाली। मन्त्रमहेश्वरस्य--मन्त्रमहेश्वरकी। स्फुट-स्वातन्त्र्यात्मिका इच्छात्मिका--स्वातन्त्र्यकी स्फुटतासे युक्त इच्छा रूप शक्ति। शिवस्य—शिवकी। इति शक्ति भेदा सप्त मुख्या--ये शक्तिके मुख्य सात भेद हैं।

विद्या और कला ये दोनों सकल पुरुषकी शक्तियाँ हैं। विद्या इसके कर्मका विवेचन करती है।[1] कलाके योगसे ही पुरुष सकल (कला सहित) होता है। ज्ञानेन्द्रियोंसे कर्मकी विशेषता ज्ञात होती है। कर्मेन्द्रियाँ कुछ-कुछ काम करतो हैं। ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंमें विद्या और कलाकी विशेष-तायें स्पष्ट प्रतीत होती हैं। यहाँ पूर्णतया स्वात्म प्रच्छादन हो जाता है। विद्या और कलाका ही यह दुष्प्रभाव है। जब विद्या और कला दोनों शक्तियाँ अस्फुट रहती हैं और उनमें प्रायः विषयोंकी सम्पर्क-शून्यता रहती है; मानो सांप सो गया होता है! उस अवस्थामें ये दोनों प्रलया-कलकी अस्फुट शक्तियाँ मानी जाती हैं। और अज्ञान रहता है। अज्ञान मल है। मल ही संसारको अंकुरित करता है।

जिस अवस्थामें इन दोनोंके विगलनकी प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय वे तनु (क्षीण) सी हो जाती हैं। विज्ञानाकल पुरुषकी वही विद्या और कला दोनों विगलत्कल्प शक्तियाँ हैं। इस अवस्थामें मल-ध्वन्सोन्मुख रहता है। इसमें कर्म तृप्त नहीं होता। अर्थात् सांसारिक कर्मकी तृप्ति नहीं होती। विरक्तिका उदय होता है।

---

१. मालिनी वि० तंत्र १।२८, तं० १०।१०–१७

पुरुषका 'सकल', 'प्रलयाकल' और 'विज्ञानाकल' अवस्थाओं तक क्रमशः उत्कर्ष होता है। पहली अवस्थामें पूर्णतया आत्माका आच्छादन रहता है। दूसरी अवस्थामें विद्या और कलाका ह्रास होने लगता है। विषयात्मकता प्रलीन होने लगती है। तीसरी अवस्थामें मानों विद्या और कला दोनों क्षीण हो रही हों—ऐसा हो जाता है। यह तीनो अवस्थायें अशुद्ध अध्वाकी सीमामें आती है। इनमें पतनकी सम्भावना बनी रहती है। पुरुष साधनाके बलपर आगे बढ़ता है। उसके संस्कार जागृत होने लगते हैं। संस्कारोंको परिष्कृत करनेमें सचिवका कार्य 'शुद्ध विद्या' करती है। जागरणका भाव उदित होता है। यह 'मन्त्र' पुरुषकी शक्ति है। जब संस्कारकी बात समाप्त हो जाती है और परिष्कार पूर्ण हो जाता है, तब शुद्धविद्या मन्त्रेश्वरकी शक्ति कहलाती है।

'शुद्ध विद्या' प्रबुद्ध हो चुकी। अब वह परमेश्वरके स्वातन्त्र्य रूप इच्छा शक्तिका रूप और स्वभाव ग्रहण करनेकी प्रवृत्तिसे समन्वित हो जाती है। जिस समय 'शुद्ध विद्या' का यह रूप स्फुट होने लगता है, उस समय वह मन्त्रमहेश्वरकी शक्ति बन जाती है। इसके बाद ही उत्कर्ष की ओर उन्मुख हुई शुद्ध विद्या नितान्त स्फुट होती है। वह एक तरहसे 'इच्छा' शक्तिके रूपमें परिणत हो गयी होती है या स्फुटस्वातन्त्र्यको प्राप्तकर चुकी होती है अर्थात् 'इच्छा' शक्तिही हो जाती है। उस समय वह शिवकी 'शक्ति' कहलाती है।

इस प्रकार उक्त सात प्रकारके (सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकल मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और शिव) पुरुषोंकी सात शक्तियाँ मानी जाती हैं :—१–विद्या कला (विशेषरूपा) २–निर्विषया, ३–विगलत्कल्पा, ४–शुद्धविद्या (प्रबुद्ध्यमाना) ५–प्रबुद्धा, ६–इच्छा रूपताको जिघृक्षन्ती और ७–स्वातन्त्र्यात्मिका इच्छा। ऊर्ध्वकी ओर चलने पर उत्कर्ष और अधः की ओर चलने पर अधःपात। अतः साधककी सजगताके लिये यह शास्त्र-ज्ञान अत्यन्त अनिवार्य है। यह ध्यान देनेकी बात है कि, सामान्य शक्तिके रूपमें विद्या और कलाका ही परिगणन किया गया है। यही दोनों विभिन्न प्रवृत्तियोंके मूलमें रहती हैं। अन्य शक्तियाँ इनकी सहकारिणी होकर ही विचित्रविचित्र कार्यकलापोंको जन्म देती हैं।

तदुपरागकृतश्च शक्तिमत्सु प्रमातृषु भेदः, करणभेदस्य कर्त्तृभेद-पर्यवसानात्, शक्तेरेव च अव्यतिरिक्तायाः करणीकर्त्तुं शक्यत्वात् न अन्यस्य, अनवस्थाद्यापत्तेः। वस्तुतः पुनरेक एव चित्स्वातन्त्र्यानन्दविश्रान्तः प्रमाता, तत्र पृथिवी स्वरूपमात्रविश्रान्ता यदा वेद्यते तदा स्वरूपमस्याः केवलं भाति चैत्रचक्षुर्दृष्टं चैत्रविदितं जानामीति, तत्र सकलशक्तिमद्रूपकृतं स्वरूपान्तरं भात्येव। एवं शिवान्तमपि वाच्यं, शिवशक्तिनिष्ठं शिवस्वभावविश्रान्तं च विश्वं जानामि इति प्रत्ययस्य विलक्षणस्य भावात्।

उसके उपराग अर्थात् सम्पर्कके कारण (ग्रहणजन्य परिणामकेकारण) शक्तिमान् प्रमाताओंमें भेद होजाताहै। करणभेदके कर्त्तृभेदमें पर्यवसान होनेके कारण। अव्यतिरिक्त शक्तिकेही करणीकरण सामर्थ्यके फलस्वरूप अनवस्था आदि अन्य दोषों की सम्भावना होनेके कारण।

वस्तुतः चित्—स्वातन्त्र्यानन्द विश्रान्त एक ही प्रमाता है। ऐसी स्थितिमें जब अपने स्वरूपमें विश्रान्त होकर वह वेद्य बन जाती हैं, उस समय उसका केवल स्वरूप भासित होता है। चैत्र का (व्यक्ति वाचक संज्ञा का प्रतिनिधि) किसी व्यक्तिसे देखा हुआ, किसी व्यक्ति द्वारा जाना हुआ स्वरूप मैं भी जानता हूँ, यह अनुभूति होती है (साथ ही)सकल शक्तिसे सम्पादित या सकल शक्तिमान् द्वारा सम्पादित (जो) स्वरूपान्तर (वह भी) प्रतिभासित होता ही है। इस प्रकार शिव तक जितने पुरुष और जितनी शक्तियाँ हैं–उनके सम्बन्धमें भी यही बात है। शिव शक्तिनिष्ठ और शिवस्वभावमें विश्रान्त विश्वको जानता हूँ—इस प्रत्यय का वैलक्षण्य (ही) इसमें कारण है।

उपराग ग्रहणको कहते हैं। शक्तियोंका शक्तिमान् विग्रहोंके साथ परस्पर समावेशकी दशामें भी यह उपराग स्वभावतः होता रहता है। परिणामतः शक्तिमान् प्रमाताओंमें भेद भी होते ही हैं।'करण' आणव समावेशका दूसरा

तत्त्व है ।[1] । करण देवियाँ शरीर मात्र रूपी पीठमें अधिष्ठित रहती हैं ।[2] उनके भेदसे प्रमातामें स्वतः भेद होता है। जैसे समुद्रमें तरङ्गों और सरिताओंके प्रवाहसे भेद दृष्टिगोचर होता है, उसीतरह इन्द्रियोंके द्वारा संविद्विकल्पोंकी उत्पत्ति होती है और कर्त्ताकी अवस्थाओं में भेद उत्पन्न हो जाता है। शक्तियाँ ही इन्द्रियोंका आकार ग्रहण करती हैं। इसमें कर्त्ताका स्वातंत्र्य भी हेतु है। उसीकी इच्छासे कर्मांशका स्पर्श उससे होता रहता है और शक्तियाँ करण रूप में परिणत होती रहती हैं। यह सिद्धान्त है कि, अकरणिका क्रिया नहीं होती। इसलिये शक्तिके अतिरिक्त किसी दूसरे करणकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इससे अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। स्पष्ट बात यह है कि, स्वातन्त्र्य शक्तिके कारण प्रमाता परमेश्वर अपनी शक्तियोंको करण रूप में परिणत करता है। **'करणं शक्तिरुच्यते' कहा भी है।**

यह वास्तविकता है। चित् और आनन्द ये महेश्वरके दो रूप होते हैं। कहते ही हैं कि, तस्य स्वातन्त्र्यम् आनन्द शक्तिः। तस्य प्रकाशरूपता चित्शक्तिः[3]। स्वातन्त्र्यमें और प्रकाश रूपतामें महेश्वर रूप शिव प्रमाता विश्राम करता है। वस्तुतः वह एक ही है।

पृथिवीका दृष्टान्त इस प्रसङ्गमें व्यावहारिक है। पृथ्वी अपने पार्थिवरूपमें विश्रान्त है। इस रूपमें यह वेद्य बन जाती है। इसका गन्धवत् रूप प्रतिभासित हो रहा है। लोक लोचनसे यह देखी जा रही है। लोकके द्वारा यह ज्ञात है। इसको इस रूपमें मैं भी जानता हूँ—यह अनुभूति निरन्तर होती है।

पहले सात प्रमाताओंका वर्णन किया गया है। उनमें सकल प्रमाता और सकल प्रमाताकी शक्ति दोनोंसे किया हुआ स्वरूपान्तर स्पष्ट है। इसी तरह शेष सभी प्रमाता अर्थात् शिव पर्यन्त प्रमाताओं और उनकी शक्तियों से सम्पन्न होने वाला स्वरूपान्तर भी अनुभूति का विषय है।

---

१. मा० वि० २।२१ २. म० म० ३४ त ९।२४४

३. तंत्रसार आ० १ पृ० ६ पं० १०–१२

विश्वास की एक विलक्षण अनुभूति प्रायः सबमें समान रूपसे रहती है। विश्वमें तो हम रहते ही हैं। 'यह शिवकी शक्तिमें ही अधिष्ठित है। शिवके 'स्व' भावमें यह विश्रान्त है[1]।' इस प्रकारका ज्ञान सबमें है। सभी कहते हैं कि, मैं इस विश्व को जानता हूँ। इस प्रकार सकलसे शिवपर्यन्त यही शक्ति-व्यापार व्यवस्थित है, यह सिद्ध हो जाता है।

ननु भावस्य चेत् वेद्यता स्वं वपुः तत्सर्वान्प्रति वेद्यत्वं, वेद्यत्वमपि वेद्यम् इत्यनवस्था, तया च जगतोऽन्धसुप्तत्वं सुप्रकाशमेव, तया च वेद्यत्वावेद्यत्वे विरुद्ध धर्मयोग इति दोषः ? अत्र उच्यते-न तत् स्वं वपुः स्वरूपस्य पृथगुक्तत्वात्, किं तर्हि प्रमातृशक्तौ प्रमातरि च यत् विश्रान्तिभाजनं यत् रूपं खलु तत्, तत् स्वप्रकाशमेव तत् प्रकाशते न तु किंचिदपि प्रति इति सर्वज्ञत्वम् अवस्थाविरुद्धधर्मयोगश्च इति दूरापास्तम्।

यदि यह कहा जाय कि, भावकी वेद्यता ही उसका अपना शरीर है तो (फल यह होगा कि) वेद्यत्व सबके प्रति होगा और वेद्यता भी वेद्य (हो जायेगी) इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी। यह मानने पर जगत् में अन्धत्व और मूर्छितत्व स्पष्ट मानना पड़ेगा। इससे वेद्यत्वके अवेद्यत्व में विरुद्ध धर्मोंका योग होगा, यह दोष है ? यहाँ कहते हैं–स्वरूप के पृथक् उक्त होनेके कारण वह वपु नहीं है। तो क्या प्रमातृशक्तिमें और प्रमातामें जो जो विश्रान्ति भाजन रूप है, वह वही है ? अपने प्रकाशको ही वह प्रकाशित करता है, कुछ अन्य नहीं। इस प्रकार सबकी सर्वज्ञता, अनवस्था तथा विरुद्धधर्म योगके कारण यह दूरतः अपास्त है।

शिवके 'स्व' भावमें यह विश्व विश्रान्त है—इस अनुभूतिके सन्दर्भमें यहाँ नवीन वैचारिक मन्थन प्रस्तुत करते हैं। भावका रूप क्या है ? वेद्यता क्या है ? क्या वेद्यता भी वेद्य बनती है ? क्या वेद्यता अवेद्य है ? यह कुछ प्रश्न हैं, जिनका समाधान आवश्यक है। यदि वेद्यता को अवेद्य माना जाय, तो उसमें संविद् शक्ति कैसे मानेंगे ? संविद्के अभावमें वेद्यता हो नही

---

१. तं० आ० १०।२६ तं० १०।२३-२५

सकती। यदि वेद्यताको वेद्य ही माना जाय तो फिर और गड़बड़ी होगी क्योंकि किसी पदार्थकी वेद्यता ही नहीं रह जायगी। फलतः पूरा विश्व अन्ध, मूर्छित और सुषुप्तकी तरह हो जायगा। वेद्यता और वेद्यमें परस्पर विरुद्ध धर्मोका संयोग होने लगेगा।

कुमारिलके अनुसार ज्ञान भी एक क्रिया है। फलसे उसका अनुमान होता है। फल विषयका वह धर्म है। जिसके माध्यमसे वस्तुमें प्रकटता आती है। यह प्रकटता ही वेद्यता है। मूलतः भावका धर्म पदार्थमें दीख पड़ता है। यह नीला है—यह पीला है--लाल है—ये धर्म हैं। यह सबके प्रति समान रूप से स्पष्ट है।

चैत्र एक व्यक्ति है। उसने एक पदार्थ देखा। जो गुण या जो धर्म उस पदार्थमें थे, वही दीख पड़े थे। यदि पदार्थ नीला है, तो नीला दीख पड़ेगा, यदि दूसरे रङ्गका है, तो वैसा दीख पड़ेगा। प्रश्न होता है कि, क्या वह नील आदि धर्म ठीक नील आदि रूपमें अनुभूत है या चैत्रकी वेद्यतासे विशिष्ट रूपमें अनुभूत है? दो स्थितियाँ यहाँ हैं। १— मैं नील वस्तुको देखता हूँ। २—चैत्रसे वेद्य नील वस्तुको देखता हूँ। चैत्रवेद्यता नीलमें है या प्रमाता चैत्रमें? ध्यान देने की बात है— विशेषण और विशेष्यका सामानाधिकरण्य होता है। यदि वेद्यताको प्रमाता चैत्रमें मानेंगे, तो विशेष्य विशेषणका समान अधिकरण नहीं रहेगा। यदि वेद्यता नीलमें है, तो समान अधिकरण रहेगा और इसी अवस्थामें वेद्यता 'स्वं वपुः' हो सकती है।

थोड़ा और मनन करें तो एक नया विचार सामने आता है। 'ता' और 'त्व' दोनों भाववाचक प्रत्यय हैं। भावका अर्थ है सत्ता। यह दो प्रकारकी होती है। १—स्वरूप सत्ता और २—समवायिनी सत्ता। समवायिनी सत्ता[1] प्रकाश सत्ता है। प्रकाशही प्रकाशित होता है। इसलिये सिद्धान्ततः प्रकाश विश्रान्तिमयी वेद्यताही स्वीकार्य है। जैसे स्वातन्त्र्य धर्मके कारण शिवसे भेद भासित होता है। उसीप्रकार नील आदि पदार्थोंसे वेद्यताका धर्मभी पृथग् आभासित होता है। इस सिद्धांतके समक्ष सभी अन्यविचार त्याज्य ही हैं।

---

१. तं० १०।७१-७३

अनन्त प्रमातृसंवेद्यमपि एकमेव तत् तस्य रूपं तावति तेषामेकाभासरूपत्वात् इति न प्रमात्रन्तरसंवेदनानुमानविघ्नः कश्चित् । तच्च तस्य रूपम् सत्यम् अर्थक्रिया कारित्वात् तथैव, परदृश्यमानां कान्तां दृष्ट्वा तस्य समीर्ष्यति, शिवस्वभावं विश्रान्तिकुम्भं पश्यन् समाविशति समस्तानन्त प्रमातृविश्रान्तं वस्तु पश्यन् पूर्णीभवति नर्त्तकीप्रेक्षणवत्, तस्यैव नीलस्य तद्रूपं प्रमातरि यत् विश्रान्तं तथैव स्वप्रकाशस्य विमर्शस्योदयात्— इति पञ्चदशात्मकत्वम् पृथिव्याः प्रधानतत्त्वपर्यन्तम् ।

अनन्त प्रमाताओंमें संवेद्य होनेपर भी उसका एकही रूप है । समस्त रूपोंमें एकाभास होनेके कारण । इससे अन्य-अन्य प्रमाताओं द्वारा जो भिन्न-भिन्न संवेदन होते हैं—उनके अनुमानकी आवश्यकता भी नहीं होगी । अनुमानकी बात तो विघ्नही है । उसका वह रूप सत्य है । अर्थ-क्रिया-कारित्वके कारण संवेदन उसीप्रकार होतेही हैं । परिदृश्यमान कान्ताको देखकर उसके लिये ईर्ष्या करता है । शिवस्वभाव विश्रान्ति-कुम्भको देखकर उसमें समाविष्ट होता है, समस्त अनन्तवस्तुओंको जो प्रमातामें विश्रान्त हैं, उन्हें देखकर पूर्ण होता है—नर्त्तकीको देखनेकी तरह । उसी नीलका जो रूप प्रमातामें विश्रान्त है, उसीप्रकार स्वप्रकाशके विमर्शके उदय होनेसे पृथिवीसे प्रधानतक पञ्चदश (रूप मानना उचित है ।)

वेदक वेद्य वस्तुको अपनी संवित्तिसे जानता है । चाहे वह चैत्र हो चाहे मैत्र हो, शर-प्रयोक्ता हो, कुविन्द हो, स्वामी हो, प्रेरक हो, एक हो या अनन्त हो; प्रमाताका संवेदनही भावकी स्थितिका बोधक होता है । ज्ञानही अर्थ प्रकाशक होता है । जैसे दीपक रूपका प्रकाशक है[1] वस्तु चाहे चैत्रवेद्य हो या मैत्रवेद्य हो एकही है । यह वस्तु नीला है, मैत्र उसे देखता है । उसी वस्तुको चैत्र देखता है । वह नीलापन ही दीख पड़ता है । वस्तु

---

१. तं० १०।३३

पीला नहीं हो जाता। अतएव यह सिद्धांत बनता है कि, अनन्त प्रमाताओंसे संवेद्य होनेपर भी वह एक ही है। उसका रूप भी एकहो है, वही है। चैत्रदृष्ट घट मैत्रदृष्ट पट नहीं बन सकता।[1]

संवेदन चाहे प्रभाकरके मतानुसार हो, चाहे कुमारिलके मतानुसार हो, संवित्तिमें, वेद्यतामें, भावमें, वस्तुमें, किसीप्रकार की गड़बड़ो नहीं पड़ती है। प्रकाशमान अर्थ प्रमाताओंके भेदके कारण भिन्न नहीं होते। संवित्ति प्रमाताका धर्म है। वह प्रकाशमान अर्थसे अपना नाता नहीं तोड़ती।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, जैसे वस्तुमें नील पीत आदिधर्म होते हैं, उसीतरह वेद्यताभी एक भावधर्म है। वही उसका सच्चा स्वरूप है।[2] वेद्यताके सम्बन्धमें दो उदाहरण पर्याप्त हैं। १—चोर चोरी कर रहा है। उसने सोचा-मुझे चैत्रने देखलिया ! तुरत वह स्तब्ध हो जाता है, ठिठक जाता है। उसे भय दबोच लेती है। दुःखका पहाड़ उसपर टूट पड़ता है। वस्तुको वह ग्रहण नहीं करता ! २—कामुक व्यक्ति देखता है—मेरी वह प्राणप्रिया प्रियतमा मुझे लगातार कटाक्षोंसे विद्धकर रही है। वह अमृतसे नहाये हुएकी तरह परमसुखका अनुभव करता है। वह सुखसमुद्रकी उत्ताल तरङ्गोंमें लहराने लगता है।

इन दो उदाहरणोंके अनुसार वेद्यता अर्थक्रियामें भेदप्रदर्शित करती है। वेद्यता ही अर्थका विनिवेश करनी है। अपनी प्रियाको दूसरा कोई क्यों देख रहा है? क्या प्रियाका कोई उससे गुप्त सम्पर्क है? यह सन्देह होते ही उसके प्रति ईर्ष्या करता है। मूर्ख कामुक ऐसा सन्देह करता है। वह प्रिया प्रिया नहीं रह जाती !

विश्रान्ति कुम्भ रहस्यात्मक, चर्यामें व्यवहर्यमाण और कामशास्त्रका विषय है। उसमें समावेशकी अनुभूति दार्शनिक, सहृदय तथा रसिक व्यक्तियोंको होती है। साधकभी शिवके 'स्व' भावमें समावेशकी सिद्धि प्राप्त करता है। इसी तरह नर्त्तकीके सतृष्णदर्शनकी स्थितिमें भी अन्य वेद्योंका विगलन हो जाता है, कामुक समझता है—वह मुझे—केवल मुझे ही प्यार करती है! अनन्त प्रमाताओंसे देखी हुई और उनमें विश्रान्त

---

१. तं० १०।२८३० २. तं० १०।१९, ११६७, १०।९१, १०।७८, १०।७०

वस्तुको देखते हुए भी अपनेको पूर्ण मानने लगता है। नाटक आदिमें जो विगलित वेद्यान्तर तादात्म्य होता है, वही दूसरेकी अपेक्षासे रहित उसका परामर्श उसे पूर्ण बना देता है। यह सब वेद्यताका ही विलास है।

परप्रमाता कालाग्नि रुद्रमें नीलिमाका गुण सर्वविदित है। वह नीलत्व धर्म रुद्रमें विश्रान्त है। नीलका वही नीलत्व उसका सच्चा रूप है। वह नीलता चैत्रमें नहीं आ सकती। रुद्रप्रमातामें विश्रान्त धर्म चैत्र प्रमाताका धर्म नहीं हो सकता। सिद्धान्ततः परप्रकाशरूप परमशिव ही नील आदिरूपोंमें प्रकाशित होता है। इसप्रकार हम कह सकते हैं कि, प्रकाशही अपनी शक्तिके विस्फाररूप विभिन्न अर्थोंमें प्रकाशित होता है। इसतरह प्रकाश और अर्थका अभेद सिद्ध हो जाता है।[१] साथही नील अर्थकी नीलताकी तरह प्रकाशमानता भी उसका स्वरूप-गत धर्म है—यह भी स्पष्ट हो जाता है।

दीपक अपनी प्रभाके प्रभावसे पदार्थका प्रकाशक प्रसिद्ध है। प्रभाकर इस प्रकटताको अर्थगत मानते हैं। संवित्ति प्रमाताका धर्म होते हुए भी अर्थगत भी रहती है। अर्थका वेदनभा प्रमातृधर्म है। इसलिए वेद्यता अर्थक्रिया कारिका मानी जाती है।

यह सारा विचार प्रकाश और विमर्शका चमत्कार है। प्रकाशही अर्थ है। विमर्शही संवित्ति है। अर्थकी सत्ता होती है। उसीमें प्रकटता उसीमें वेद्यताका विकल्प विकसित होता है। वेद्यता और अर्थक्रिया दोनोंकी स्थिति भावांशको पीठिका पर निर्भर है।[२] वेद्यताही भावधर्म बनती है। वही अर्थक्रिया करनेवाली बनती है तथा विमर्शके रूपसे प्रकाशमें परिस्फुरित होती है। प्रकाशका विमर्शोदय ही पृथ्वीसे प्रधानतत्त्व पर्यन्त धारणाओंके आधारपर १५ प्रकारका रूप ग्रहण करता है।[३]

तावत्युद्रिक्तरागादिकञ्चुकस्य सकलस्य प्रमातृत्वात् सकलस्यापि एवं पाञ्चदश्यं, तस्यापि तावद्वेद्यत्वात् वितत्य चैतत् निर्णीतं तन्त्रालोके।

---

१. तं० १०।५५–५७ २. तं० १०।५७–६२

३. तं० १०।९७, १०१, १०२, १६७, १८४, १८७, मा० वि० २।२, १२।२६–३८

पुंसः प्रभृति कलातत्त्वान्तं त्रयोदशधा। सकलस्य तत्र प्रमातृयोगेन तच्छक्तिशक्तिमदात्मनोः भेदद्वयस्य प्रत्यस्तमयात्। तथा च सकलस्य स्वरूपत्वमेव केवलं, प्रलयाकलस्य स्वरूपत्वे पञ्चानां प्रमातृत्वे एकादशभेदाः। विज्ञानाकलस्य स्वरूपत्वे चतुर्णां प्रमातृत्वे नव भेदाः

सकलमें वेद्य प्राधान्य होने पर भी कला, विद्या और राग आदि कञ्चुकोंका उद्रेक होता है। फलतः वेद्यके अतिरिक्त उसमें प्रमातृत्वका भी वैशिष्ट्य है। इसलिये इसे भी १५ मानते हैं। विस्तारसे 'तन्त्रालोकमें इसका निर्णय किया गया है।

पुरुष [तत्त्व] का कला तत्व तक १३ प्रकार है। सकल का प्रमातृ योग [नहीं होता है।] इससे शक्ति और शक्तिमान् रूप इसमें अस्तमित हैं। और सकल का 'स्व रूपत्व ही केवल (मान्य है) प्रलयाकलमें पाँचों के प्रमातृत्व की [अवस्था] में ११ भेद होते हैं। विज्ञानाकलके 'स्व रूपतामें चारोंके प्रमातृत्वमें ९ भेद होते हैं।

भेदका उद्रेक वेद्यता और प्रमातृताके वैशिष्ट्यमें व्यक्त हो रहा है। सकलप्रमाताकी वेद्यताके उद्रेकके कारण षट् कंचुक हैं। धरासे लेकर कलापर्यन्त सकल प्रमाताका क्षेत्र है।[1] इसी क्षेत्रको संसारमंडल कहते हैं।[2] भोगकी सिद्धिकेलिए परमेश्वरकी इच्छासे इसकी सृष्टि होती है[3]। इसमें छः कञ्चुकोंका उद्रेक होता है[4]। देह आदि वेद्यका इसमें प्राधान्य होता है। ज्ञान और क्रियाकी इसमें उत्तेजना होती है। ऐसा यह सकल प्रमाता मालिनी विजयोत्तार तंत्रमें वर्णित धारणाओंके अनुसार ही १५ प्रकारका भी होता है। यह सब तंत्रालोक नामक श्रीमदभिनव गुप्त पादाचार्यके विश्वविश्रुत ग्रंथमें विस्तारपूर्वक वर्णित है। यहाँ उसीका संक्षेप है। यह विशेषतः ध्यान देनेकी बात है कि, पांचदश्यकी कल्पना अपने शुद्धरूप केसाथ १४ धारणाओं परही निर्भर करती है। प्राणशक्ति स्थित तत्त्वजालकी प्राणगामिनी प्रक्रियाके अनुसारभी पन्द्रह भेदोंकी स्थिति मान्य

---

१. मा० वि० १।३५ २. मा० वि० १।३३-३४ ३. मा० वि० २।३
४. तं० १०।९९

है।[1] एकदूसरे दृष्टिकोणके अनुसार त्रायोदश्य भेदका भी निरूपण है।[2] ६ प्रमाता + २ शक्ति-शक्तिमान् + १ स्वरूप = १३ भेदमें त्रायोदश्य निरूपित हो जाता है। सकल प्रमाताका केवल एक अपना रूप प्रधान है।[3] शक्ति और शक्तिमान् रूप भेदका द्वैतचिन्तन यद्यपि अनावश्यक है, फिर भी सकल पुरुषकी यह विवशता है।

जहाँतक प्रलयाकल पुरुषका प्रश्न है–उसके ११ भेद निर्दिष्ट हैं। इसमें कंचुकोंका उद्रेक नहीं होता है। मायामें ही उनका विनिवेश होता है। ये सभी कञ्चुक अनुद्रिक्त अवस्थामें रहते हैं। इसका दृष्टान्त सोये हुए साँपकी अवस्थासे दिया जाता है। विद्या और कलाकी दोनों शक्तियाँ यहाँ सोई हुई लगती हैं। मायामें विनिवेशके कारण अज्ञान तो इसमें रहता है पर साँपके जहरके समान निष्क्रिय! इस अवस्थासे साधकोंको ऊपर उठना बड़ा सरल हो जाता है। इसमें चार प्रमाता होते हैं।

विज्ञानाकल पुरुषकी अवस्था विकसदवस्था होती है। इसमें मल ध्वन्सकी ओर उन्मुख हो जाता है। इसके ९ भेद होते हैं। माया में निविष्ट अकलही विज्ञानाकल पुरुष होता है।[4] सबमें सबप्रमाता × शक्ति और शक्तिमान्, इसप्रकार १ + (४ × २) = ९ भेद सिद्ध होते हैं।

मन्त्रस्य स्वरूपत्वे त्रयाणां प्रमातृत्वे सप्त। मन्त्रेशस्य स्वरूपत्वे द्वयोः प्रमातृत्वे पञ्च। मन्त्रमहेशस्य स्वरूपत्वे भगवत एकस्यैव प्रमातृत्वे शक्तिशक्तिमद्भेदात् त्रयः। शिवस्य तु प्रकाशैकचित्स्वातन्त्र्यनिर्भरस्य न कोऽपि भेदः, परिपूर्णत्वात्।

एवम् अयं तत्त्वभेदः एव परमेश्वानुत्तरनयैकाख्ये निरूपितः भुवनभेद वैचित्र्यं करोति। नरक-स्वर्ग-रुद्रभुवनानां पार्थिवत्त्वे समानेऽपि दूरतरस्य स्वभावभेदस्य उक्तत्वात्। अत्र च परस्परं भेद कलनया अवान्तरभेदज्ञानकुतूहली तन्त्रालोकमेव अवधारयेत्।

---

१. तं० १०।१०३–१०४, १८६–१९

२. तं० १०।१०६ ३. तं० १०।१०६ ४. तं० १०।१०९

मन्त्रके स्वयं अपने रूप तथा तीन प्रमाताओंके छः, कुल मिलाकर सात भेद (होते हैं)। मन्त्रेशका 'स्वरूप और दो प्रमाताओंके चार भेद मिलाकर ५ (भेद होते हैं)। मन्त्र महेश्वरका स्वरूप और एक प्रमाताके शक्ति+शक्तिमान्के (स्वरूपके) [योगसे] तीन भेद [होते हैं]। प्रकाश, एक, चित् और स्वातन्त्र्य-निर्भर शिवका कोई भेद नहीं होता [क्योंकि] वह परिपूर्ण है।

इस प्रकार यह तत्वोंका तात्त्विक भेद है।[1] इसका निरूपण परमेश्वर के अनुत्तर-नयैक ग्रन्थमें किया गया है। यही भुवन भेद-वैचित्र्य कारक है।[2] नरक-स्वर्ग रुद्र आदि लोक भी पार्थिव ही हैं, पर इनमें दूरतर स्वभाव भेद है।[3] इनकी भेद की कलनामें कुतूहल वाला अध्येता 'तन्त्रालोकसे ही निर्णय करे।

'सर्वं सर्वात्मकम्'[4] सिद्धान्तके अनुसार तथा 'अधराधरतत्त्वेषु स्थिता पूर्वस्थितिः' मतानुसार भेदोंकी कल्पना की गयी है। मन्त्रके सात भेद निर्दिष्ट हैं। मन्त्रका 'स्व' रूप १+तीन प्रमाताओंके शक्ति+शक्तिमान् ६=७ भेद होते हैं। मन्त्रेशका 'स्व' रूप+दो प्रमाताओंके चार मिलाकर ५ भेद, मन्त्र महेशके 'स्व' रूपके १ और प्रमाताके शक्ति-शक्तिमान् भेदको मिलाकर तीन भेद होते हैं। केवल शिवही प्रकाशमात्र स्वभाव वाला है। एक है। चित्रूप है। स्वातन्त्र्य सम्पन्न है। परिपूर्ण है। इसलिये उसमें भेदकी परिकल्पना नहीं की जाती है।

भेदके इस वैचित्र्यसे ही विश्व वैचित्र्यका चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। मालिनी विजयोत्तर तंत्र[6] 'अनुत्तरनय' आदि पूर्व शास्त्रोंमें इन विषयोंका पूर्ण निरूपण किया गया है। नरक-स्वर्ग और रुद्र आदि जितने लोकोंकी कल्पनाकी गयी है—सब पार्थिव लोकही हैं। समीपता और दूरता यह भी भेदका परिणाम है। भेद विभेदमय अवान्तर भेदोंकी कलना शैव साधक स्वतः कर लेता है।

इन विषयोंका विस्तार पूर्वक वर्णन 'तन्त्रालोक' के दशम आह्निकमें किया गया है। स्वाध्यायशील व्यक्तिको विस्तृत ज्ञानके लिये 'तन्त्रालोक' का भी अध्ययन कर इन विषयोंका पूर्ण निर्णय करना चाहिये।

---

१. तं० १०।९८–१५०   २. तं० १०।१५१   ३. तं० १०।२१४
४. १०।१५५   ५. ई० प्र० ८२   ६. २।२७–३५

एवम् एकैकघटाद्यनुसारेणापि पृथिव्यादीनां तत्त्वानां भेदो निरूपितः। अधुना समस्तं पृथिवीतत्त्वं प्रमातृप्रमेयरूपम् उद्दिश्य निरूप्यते—यो धरातत्त्वाभेदेन प्रकाशः स शिवः। यथा श्रुतिः 'पृथिव्येवेदं ब्रह्म' इति। धरातत्त्वसिद्धिप्रदान् प्रेरयति स धरामन्त्रमहेश्वरः, प्रेर्यो धरामन्त्रेशः, तस्यैवाभिमानिकविग्रहतात्मको वाचको मन्त्रः, सांख्यादिपाशवविद्योत्तीर्णशिवविद्याक्रमेण अभ्यस्तपार्थिवयोगो अप्राप्तध्रुवपदः धराविज्ञानाकलः। पाशवविद्याक्रमेण अभ्यस्तपार्थिवयोगः कल्पान्ते मरणे वा धराप्रलयकेवलः। सौषुप्ते हि तत्त्वावेशादेव चित्रस्य स्वप्नस्य उदयः स्यात् गृहीतधराभिमानस्तु धरासकलः।

इस तरह एक एक घट आदिके अनुसार पृथ्वी आदि तत्त्वोंका भेद निरूपित (हुआ)। जब सारा पृथ्वी तत्त्व [जो] प्रमातृ प्रमेय रूप है, वही निरूपित किया जा रहा है:—

१—जो धरातत्त्वसे अभिन्न प्रकाश है, वह शिव है। जैसे श्रुति है—पृथिवी ही यह ब्रह्म हैं २—धरातत्त्व सिद्धि प्रदोंका प्रेरक 'धरा मन्त्र-महेश्वर है। ३—प्रेर्य धरामन्त्रेश है। ४—प्रेर्यका ही आभिमानिक विग्रहरूप वाचक मन्त्र है। ५—सांख्य आदि पाशव विद्याओंके क्रमसे-अभ्यस्त पार्थिवयोग, अप्राप्त ध्रुवपद 'धराविज्ञानकल' है। ६—पाशव विद्याओंके क्रमसे अभ्यस्त पार्थिवयोग पुरुष कल्पान्तमें या मरणमें 'धराप्रलयकेवल' है। ७—सुषुप्तिसे उत्पन्न सौषुप्तभावमें तत्त्वावेशके कारण विचित्र स्वप्नोदयमें गृहीत धराभिमान 'सकल' है।

पृथिवी आदितत्त्वोंकी भेदवादिताका निरूपण 'एकघटाख्या' दशाके अनुसार किया गया है।[1] अनेक घटाख्य दशाओंमें तो अनन्त भेद हो सकते हैं। वे अवर्णनीय हैं। यहाँ घट घड़े अर्थमें नही, अपितु व्यक्ति अर्थका प्रतीक है। रचनाकी एक इकाईके रूपमें प्रयुक्त है। वेदकके साथ

---

१. तं० १०।१६४

वेद्यके तादात्म्यकी अवस्थामें वेद्यता रहती है और एक शरीरकबोध होता है। प्रमातासे वेद्य अर्थ प्रमातामय ही होता है—यह सिद्धान्त है। सकल वेद्य घटभी सकल ही है। इसी दृष्टिकोणसे 'पाञ्चदश्य' दशाका (१५ भेदों-का) निरूपण किया गया है।

अब प्रमाता-प्रमेय रूपसे सामस्त्य भावापन्न पृथिवी तत्त्वका निरूपण किया जा रहा है। वेदमें कहा गया है—'पृथ्वी ही यह ब्रह्म है'। इसके अनुसार समस्त धरा तत्त्व ब्रह्म ही है।[1] पृथ्वी शिव सामस्त्यसे प्रकाशित है। इसी दृष्टिकोणसे यहाँ भेद दिखलाये जा रहे हैं—शक्ति और शक्तिमान् भेदसे इस विद्याके अनुसार सात प्रमाताओंके १४ भेद होते हैं। वे प्रमाता इस प्रकार हैं—

१—शिव-धरा तत्त्वसे अभिन्नरूपसे प्रकाशित।

२—धरामन्त्रमहेश्वर—धरातत्त्वगत सिद्धियोंको देनेकेलिये उद्यत गुरुजनोंको प्रेरित करनेवाला प्रमाता।

३—धरामन्त्रेश—जो प्रेरित होता है—वह प्रेर्य कहलाता है। शिव-की इच्छासे प्रेर्यही धरामन्त्रेश है। विशिष्ट मन्त्रोंसे वाच्य शतरुद्र आदि भी धरामन्त्रेश ही हैं।

४—धरामन्त्र—वाच्योंके वाचक धरामन्त्र हैं। इसका विग्रह-आभि मानिक होता है।

५—धराविज्ञानाकल–इस दर्शनके अनुसार सांख्य और वैष्णव आदि आगमशास्त्र 'पशुशास्त्र' माने जाते हैं। पशुशास्त्रोंकी भेद दृष्टिको पार करके भी जिन्होंने ध्रुवधाम प्राप्त नहीं किया है, ये धरा-विज्ञानाकल हैं।

६—धराप्रलयकेवल—धरादि तत्त्वोंके उपभोगके बाद कल्पान्तमें लयको प्राप्त (अप् तत्त्वमें)

७—धरासकल—तत्त्वमें लीन अवस्था ही सौषुप्त है। धरातत्त्वमें लीनको पर्वतारोहणका विचित्र स्वप्न हो सकता है। 'अच्छी नींद लगी' इस स्मृतिमें भी सौषुप्तमें लीनता का अनुमान होता

१. तं० १०। १६८

है। उसीप्रकारसे धरातत्त्वमें लीन होकर भी धराभिमान सम्पन्न पुरुष 'धरासकल' है।[1] यही सप्तक ग्राह्यग्राहक भेदमें भी विभक्त माना जाता है।[2]

अत्रापि शक्त्युद्रेकन्यग्भावाभ्यां चतुर्दशत्वम् इति प्रमातृतापन्नस्य धरातत्त्वस्य भेदाः, स्वरूपं शुद्धं प्रमेयम् इति, एवम् अपरत्रापि ; अथ एकस्मिन् प्रमातरि प्राणप्रतिष्ठिततया भेदनिरूपणम्—इह नीलं गृह्णतः प्राणः तुटिषोडशकात्मा वेद्यावेशपर्यन्तम् उदेति। तत्र आद्या तुटिरविभागैकरूपा, द्वितीया ग्राहकोल्लासरूपा, अन्त्या तु ग्राह्याभिन्ना तन्मयी, उपान्त्या तु स्फुटीभूतग्राहकरूपा, मध्ये तु यत् तुटिद्वादशकं तन्मध्यादाद्यं षट्कं निर्विकल्पस्वभावं विकल्पाच्छादकम्।

यहाँ भी शक्तिके उद्रेक और न्यग्भावके कारण चौदह [भेद होते हैं] ये प्रमातृभावको प्राप्त धरातत्वके भेद हैं। 'स्व' रूप शुद्धप्रमेय होता है। यही नियम अन्यत्र भी लागू है।

"अब एक प्रमातामें प्राणप्रतिष्ठाकी दृष्टिसे भेदका निरूपण किया जा रहा है। पुरुष नीलका ग्रहण करता है। उसका प्राण १६ तुटियों वाला होता है[3] और वेद्यमें आवेशपर्यन्त उद्रिक्त रहता है। इनमें (तुटियों में) पहली तुटि अविभागैकरूपा होती है। दूसरी ग्राहकोल्लासरूपा होती है। अन्तिमा ग्राह्यसे अभिन्न और ग्राहकमयी होती है। अन्तिमाके पास वाली उपान्त्या अर्थात् पन्द्रहवीं स्फुटीभूत ग्राहकरूपा होती है। मध्यकी १२ तुटियाँ होती हैं। उनम दो षट्क होते हैं। पहलाषट्क निर्विकल्प स्वभाववाला और विकल्पका आच्छादन करनेवाला होता है।

ग्रंथकार धरा तत्त्वके प्रमेय और प्रमातासे सम्बन्धित भेदोंके प्रकरणमें ही उपसंहारात्मक विचार प्रकट कर रहे हैं। धरातत्त्वमें भी शक्तिका कभी उद्रेक होता है और कभी उसका ह्रास होता है। जैसे समुद्रमें ज्वार होता

---

१. तं० १०।१६८–१७७ २. तं० १०।१७८–१८१

३. तं० १०। १८७, १९७

है और फिर भाटा हो जाता है। धराशिवसे धरासकल पर्यन्त सप्तकमें उद्रेक और न्यग्भावके कारण ही १४ भेद होते हैं। इन सबमें प्रमाताका भावही है। 'स्व' रूप अर्थात् पृथ्वी तत्त्वका अपना निजीरूप तो शुद्ध प्रमेय ही होता है।

अब एक नया विचार प्रस्तुत है। एक प्रमाता किसी पदार्थको ग्रहण करता है। प्रमाताकी प्राणमें ही प्रतिष्ठा होती है। उसके अनुसार अर्थ-ग्रहणमें प्राणचारका प्रयोग स्वाभाविक है। प्राणचार ३६ अंगुलका होता है। सवा दो अंगुलके १६ प्राणचार उसमें होते हैं। प्रमाताने नील पदार्थ ग्रहण किया। ग्रहणकी पहली तुटि (२१/४ अं०) से लेकर वेद्य (नील) के आवेशपर्यन्त अर्थात् नीलपदार्थगत गुणधर्म सहित पूर्णग्रहण हो जाने पर, ग्राह्यसंवित्तिकी दशातक १६ तुटियोंवाला ३६ अंगुलका प्राणचार उदित रहता है।[1] इन तुटियोंमें पहली तुटि, जिसमें ग्रहण ग्राह्य-ग्राहकका संयोग होता है, वह विभागरहित होती है। अर्थक्रियामें उसका सर्वाधिक महत्त्व होता है। एकरूपा कहनेका यही तात्पर्य है। दूसरी तुटिमें अर्थात् जब श्वास ४१/२ अंगुल चल चुकी रहती है, उसमें ग्राहकका उल्लास होता है। ग्रहीता यह जानने लगता है कि मैं हूँ--इस पदार्थको देख रहा हूँ।

१६वीं तुटि ग्राह्यपदार्थमयी हो जाती है। वहीं वेद्यके आवेशकी स्थिति होती है। १५वीं तुटिमें ग्राहकप्रमाता स्पष्टतया जान गया होता है। इसप्रकार १६ तुटियोंमें इनचार तुटियोंका अर्थ प्रतिपत्तिमें महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।[2]

बीचमें १२ तुटियाँ और होती हैं। इन १ दर्जन तुटियोंमें आधा दर्जन तो ऐसी होती हैं, जिनमें विकल्परूप प्रमेयोंको आच्छादित करनेकी शक्ति होती है। इनमें प्रमाताका स्वरूप निर्विकल्पक सदृश होता है। फलतः तुटियाँ भी उसीप्रकारकी होती हैं। अर्थात् शक्तिमान् एवं शक्तिरूप होती हैं।

षट्त्वं च अस्य स्वरूपेण एका तुटिः। आच्छादनीये च विकल्पे पञ्चरूपत्वात् तुटिद्वयात्मिका—स्पन्दनस्य एकक्षण-रूपत्वाभावात्। उन्मिषितता स्वकार्यकर्तृत्वं च इत्येवमाच्छा-

---

१. तं० ६।६१–६४, १०।१८७–१८८ २. तं० १०।१८९

दनीयविकल्पपाञ्चविध्यात् स्वरूपाञ्च षट्क्षणाः निर्विकल्पकाः ततोऽपि निर्विकल्पस्य ध्वंसमानता, ध्वंसो विकल्पस्य। उन्मिमिषा उन्मिषत्ता तुटिद्वयात्मिका उन्मिषितता च षट्तुटयः।

स्वरूपकी एक तुटि और आच्छादनीय विकल्पोंकी ५ तुटियोंको मिलाकर इसके छः प्रकार होते हैं। एक तुटि उन्मिमिषा और दूसरी तुटि उन्मिषत्ता है। यह स्फुट क्रियारूप होती है। चूँकि स्पन्दन एक क्षणात्मक नहीं होता। अतः यह तुटि-द्वयात्मक होती है। उन्मिषितता और स्व कार्य कर्तृत्व इस दृष्टिसे आच्छादनीय विकल्पों की पञ्चविधतासे और पुनः 'स्व' रूपतः कुल ६ क्षण निर्विकल्पक हैं। इसके बाद भी निर्विकल्प की ध्वंसमानना, विकल्प का ध्वंस, उन्मिमिषा, उन्मिषत्ता (तुटिद्वयात्मिका) उन्मिषितता यह छः तुटियाँ होती हैं।

कुल १६ तुटियों की अवस्था को इस प्रकार समझा जा सकता है—

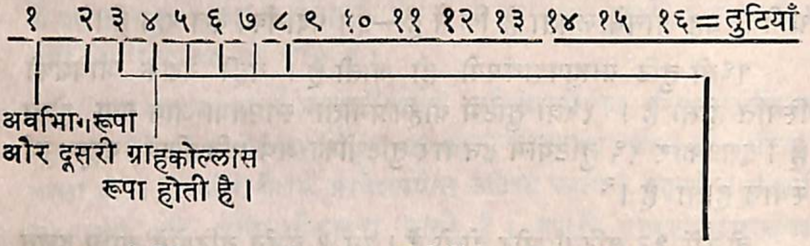

इन दोनोंके बाद की छः तुटियोंमें पहली अर्थात् संख्या (३) स्वरूपतः एक तुटि है। शेष ५ अर्थात् (४-५-६-७-८) विकल्पोंकी आच्छादक हैं। ये निर्विकल्प स्वभाव वाली होती हैं, फिर भी ये ५ चों विकल्पोंको आवृत कर लेती हैं। इनमें पहली वृत्ति उन्मिमिषा है। उन्मेषकी इच्छाको उन्मिमिषा कहते हैं। ग्राहकमें उल्लासके बाद मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे उन्मेषकी इच्छाका होना स्वाभाविक है। इसके तुरत बाद अर्थात् सं० ५ की तुटिमें उन्मेषकी इच्छाका भाव अर्थात् उन्मिषत्ता होती है। यह भाववाचक संज्ञा है। इससे उन्मेषके व्यापारका बोध होता है। उन्मिमिषा और उन्मिषत्ताकी दो तुटियाँ हैं ४ और ५। इसमें उन्मेषकी क्रिया और उसका बने रहना,

ये दोनों बातें स्फुटरूपसे ज्ञात होती हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि, स्पन्दन एक क्षणवाला नहीं होता। उसके होने पर उसका व्यापार और उसकी तात्कालिक अवस्थाका अवश्य बोध होता है। संख्या ६ की तुटिमें उन्मिषितता वृत्ति होती है। उन्मेषका व्यापार अभी समाप्त हुआ है। साथही उस व्यापारका बोध भी होता है। उन्+मिष+क्त+ता में प्रकृति-प्रत्ययसे यही अर्थ निष्पन्न होता है। यह कार्य सं० ७ की तुटि तक चलता है। संख्या ८ में स्व अर्थात् आत्मबोधरूप कार्यका कर्त्तृत्व भी पूरा हो जाता है। इस प्रकार रूपका एक क्षण और उन्मेष के ५ व्यापार वृत्तियोंको जोड़नेसे तुटियोंके ६ क्षण योगियोंकी अनुभूतिके विषय हैं। ये सभी निर्विकल्पक होते हैं अर्थात् इनमें विकल्पकी सम्भावना नहीं होती।[1]

इसके बादकी संख्या ९ से १४ तक की तुटियोंका एक दूसरा षष्ठ्त्व भी महत्त्वपूर्ण है। इनमें निर्विकल्पकी छ तुटियोंके विभिन्न व्यापार होते हैं। ९ ध्वंसमानता, १० विकल्पका ध्वंस, ११ उन्मिमिषा दो तुटियाँ १२ और १३ उन्मिषता तथा उन्मिषितता ये छः तुटियाँ हैं। इन संज्ञाओंके अर्थ प्रत्यय के आधार पर लगाये जाते हैं। यह व्याकरणका विषय है। शानच्, ता, सन्, शतृ और क्त प्रत्ययोंसे क्रमशः इनके अर्थ स्पष्ट होते हैं।

स्वकार्यकर्तृता तु ग्राहकरूपता इति उक्तं न सा भूयो गण्यते। इत्येवं विवेकधना गुरुपदेशानुशीलिनः सर्वत्र पाञ्चदश्यं प्रविभागेन विविञ्चते। विन्कल्पन्यूनत्वे तु तुटिन्यूनता सुखादि-संवित्ताविव यावत् अविकल्पतैव।

अपना कार्य कर्त्तृत्व तो ग्राहक रूप ही होता है। अतएव वह परिगणित नहीं होता। इस प्रकार विवेक विज्ञ पुरुष जिन्हें गुरूपदेश प्राप्त है (और—तदनुकूल आचरण करते हैं) वे—सर्वत्र इन सोलह तुटियोंमेंसे पन्द्रह तुटियों का विभाग युक्त विवेचन करते हैं। विकल्प शून्यत्व में तो तुटि की न्यूनता (स्वाभाविकहै) जैसे सुखादि संवित्ति (की अनुभूतियों) में अविकल्पता हो ही जाती है।

---

१. तं० १०।१९०-१९१।

ऊपरके विवेचनोंमें प्रथम ६ तुटियाँ परशक्त्यात्मक होती हैं। परशक्ति शिव होते हैं। अतएव वे शिवात्मक होती हैं। द्वितीय षट्क (छक्का) परापर शक्त्यात्मक होता है। एक षट्कमें उन्मेष भाव होता है। दूसरे में निमेष भाव होता है। पहली तुटि निर्विभाग रसात्मक होती है। अतएव अद्वैत पर-रूप होती है। इसलिये उसमें ग्राहकका कार्य-कर्त्तृत्व उदित रहता है। फलस्वरूप पांचदश्य की गणनामें उसकी गणना नहीं की जाती।[1]

गुरूपदेशका इस दर्शनमें पारम्परिक महत्त्व है। गुरुकी कृपासे व्यक्ति विवेकशील हो जाता है। वह धरा तत्त्वसे लेकर प्रकृति तत्त्व तक इस पांचदश्यका अनुभव करता है। ऐसा ही तत्त्व विभाग उसे मान्य है। विकल्पभेदकी कमी की अवस्थामें तुटिमें भी कमी हो जाती है। उदाहरण रूपसे ऐसे पुरुषको लिया जा सकता है, जो पहले बड़ा दुःखी है। बादमें वह सुखी होता है। उसे पहलेको दुःखानुभूति भूल जाती है। सुखमें वह विश्राम करता है। विकल्पोंकी विश्रान्तिकी अवस्थामें भी यही होता है। विकल्प विस्मृत हो जाते हैं। यह एक प्रकारकी अविकल्पात्मक सुखानुभूति की ही अवस्था होती है।[2]

लोकास्तु विकल्पविश्रान्त्या ताम् अहन्तामयीम् अहन्ताच्छादितेदंभावविकल्पप्रसरां निर्विकल्पां विमर्शभुवम् अप्रकाशितामिव मन्यते। दुःखावस्थां सुखविश्रान्ता इव, विकल्पनिर्ह्रासेन तु सा प्रकाशत एव इति इयम् असौ सम्बन्धे ग्राह्यग्राहकयोः सावधानता इति अभिनवगुप्तगुरवः।

लोक विकल्पविश्रान्तिसे उस अहन्तामयी, अहन्ताच्छादित इदंभाव रूप विकल्पमें प्रसरित निर्विकल्प विमर्शभूमिको अप्रकाशितकी तरह दुःखावस्था को सुखीकी तरह (विस्मृत) मानते हैं। विकल्पके क्षीण होने पर तो वह प्रकाशित होगी ही। इसीलिये गुरुपरम्परानुसार श्रीमदभिनव गुप्त पादाचार्यभी यही कहते हैं कि, ग्राह्य और ग्राहककी संवित्तिमें सावधानता आवश्यक है।

---

१. तं० १०।१८८ २. तं० १०।१९६–२०३

प्राणिमात्र की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है कि, ग्राह्य और ग्राहकके सम्बन्धको गम्भीरतासे नहीं लेते। सामान्यतया इसको व्यवहारवादके नामपर महत्त्वहीन मानते हैं। जगत्की दो स्थितियोंका अनुभव ऐसे लोग नहीं वरन् योगी करते हैं। एक स्थिति अहन्ताकी होती है। दूसरी इदन्ता की। इदं भाव हो इदन्ता है। यह विकल्पमयी होते हुए भी अहन्तासे आच्छादित होती है। साथ ही निर्विकल्प विमर्शकी दशा भी वहाँ होती हैं। योगी इस दशाका सतत अनुभव करता है। सामान्यजन अहन्ताको अर्थात् विमर्शको प्रायः अप्रकाशित ही मानते हैं।

सुखमें आने पर पहली दुःखावस्था जैसे अनुपस्थित और विस्मृत हो जाती है, वही हालत सामान्यजनोंकी होती है। यह भी सत्य है कि विकल्प जब क्षीण हो जाते हैं, तो वहाँ निर्विकल्प विमर्शभूमि भूषित अहन्ता अवश्यही प्रकाशित होती है। इसप्रकार ग्राह्य और ग्राहकके सम्बन्धके विषयमें योगीजन जागरूक रहते हैं। सामान्य लोगोंसे उनके सोचनेमें बड़ा अन्तर होता है। और यह अन्तर आवश्यक भी है।[1] महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्त और उनकी गुरुपरम्पराके अनुसार इस संबंधमें अत्यन्त सावधानताको आवश्यकता है।

एवं च पाञ्चदश्ये स्थिते यावत् स्फुटेदन्तात्मनो भेदस्य न्यूनता तावत् द्वयं द्वयं ह्रसति यावत् द्वितुटिकः शिवावेशः, तत्र आद्या तुटिः सर्वतः पूर्णा, द्वितीया सर्वज्ञानकरणाविष्टाभ्यस्यमाना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वाय कल्पते न तु आद्या।

यदाह श्रीकल्लटः 'तुटिपात इति' अत्र पात शब्दं सैव भगवती श्रीमत्काली मातृसद्भावो भैरवः प्रतिभा इत्यलं रहस्यारहस्यनेन। एवं मन्त्रमहेशतुटेः प्रभृति तत्तदभ्यासात् तत्तत्सिद्धिः।

इसप्रकार पांचदश्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठाके अनन्तर स्फुट इदन्तारूप भेदवादके क्रमसे दो दो तुटि क्षीण होती हैं। शिवावेश द्वितुटिक होता है। उसकी पहली तुटि सर्वतः पूर्ण होतीहै। दूसरी समस्त ज्ञानकी कारण

१. तं० १०।२०३–२०४

होती है। उसीमें आविष्ट होती है। अभ्यस्यमान होने पर सर्वज्ञता और सर्वकर्तृत्वकी सहायक बनती है। आचार्य कल्लटने स्पष्टही 'तुटिपात' शब्दका प्रयोग किया है। यह पातशब्द भगवती, श्रीमत्काली, मातृसद्भाव, भैरव और प्रतिभा (शब्दोंसे व्यपदिष्ट है)। ग्रन्थकार इन तान्त्रिक विधिके रहस्योंको रहस्यमयही रहने देना चाहते हैं। इसप्रकार मन्त्रमहेशकी तुटिसे लेकर आगेके अभ्याससे उन उनकी सिद्धि (अवश्यं भावी है)।

सोलह तुटियोंकी १५ तुटियोंके विज्ञानको पांचदश्य-विज्ञान कहते हैं। भेद इदन्तात्मक और विकल्पात्मक होते हैं। इदन्ता इस अवस्थामें स्फुट परिलक्षित होती है। अहंतासे आवृत होनेपर क्षीणता अवश्यभावी है। इसका एक क्रम है। यह दो-दो तुटियोंके क्रमसे क्षीण होती है। अन्तमें अर्थात् विमर्शभूमि तक पहुँचने तक सभी तुटियाँ समाप्त हो जाती हैं। केवल दो तुटियाँ शेष रह जाती हैं।

प्रत्येक अवस्थामें पहली तुटि पूर्ण होती है। दूसरी तुटि सर्वज्ञता और सभी कार्योंको करनेकी क्षमताके लिए तभी समर्थ होती है, जब सारे विकल्पात्मक और निर्विकल्प ज्ञानों एवं ज्ञानके साधनों के अभ्यासके बल पर आवेश हो जाये।

इस विषयमें आचार्य कल्लटका सूत्र—'तुटिपाते सर्वज्ञत्वसर्वकर्त्तृत्वलाभः' विचारणीय है। शिवके सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्वसम्पन्नता, पूर्णता, नित्यता और सर्वव्यापकता ये गुण हैं। साधनाके बलपर इस पाञ्चदश्य विज्ञानके बलपर साधक तुटियोंका पात कर सकता है। ज्योंही तुटियोंका पात हुआ—उसमें तीन गुण, सर्वज्ञता, सर्वकार्यकर्तृता और पूर्णता तुरत आ जाते हैं। नित्यता और सर्वव्यापकता भी उसमें अन्तर्भूत हो जाते हैं।

उस अवस्थामें विमर्श और विमर्शक, शक्ति और शिव दोनोंका तादात्म्य हो जाता है। हम उसे शाक्त दृष्टिसे भगवती माँ परमाम्बा कहें, सब कुछका आकलन करनेवाली श्री माँ काली कहें, मातृसत्ताका सद्भाव मानें, अथवा भैरवसद्भाव या प्रतिभा कहें[1] कोई अन्तर नहीं पड़ता।

---

१. तं० १०।२०८–२१०

यह अत्यन्त रहस्यात्मक स्थिति है। श्रद्धा, विश्वास और आस्थाके द्वारा प्रणिपातपूर्वक गुरुसे जाना जा सकता है। महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमद्-अभिनवगुप्तकी गुरु परम्परामें रहस्यका अरहस्यन अर्थात् प्रकटीकरण अच्छा नहीं माना जाता। इसलिये भाष्यमें भी इससे अधिक खोलकर व्याख्यान करना अच्छा नहीं।

प्रथम और द्वितीय तुटियोंके अनन्तर तृतीय तुटि मन्त्रमहेशकी होती है। इन तुटियोंमें भी चित्ताका समाधान प्रक्रियायोगका अङ्ग है। उनमें भी गुरुसे प्राप्त पद्धतिके अनुसार चित्ताको समाहित करनेसे उसीप्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।[1]

अथात्रैव जाग्रदाद्यवस्था निरुप्यन्ते-तत्र वेद्यस्य तद्विषयायाश्च संविदो यत्वैचित्र्यम् अन्योन्यापेक्षं सत् सा अवस्था, न वेद्यस्य केवलस्य, न चापि केवलायाः संविदो, न चापि पृथक् पृथक् द्वे। तत्र यदाधिष्ठेयतया बहीरूपतया भानं तदा जाग्रदवस्था मेये मातरि माने च। यदा तु तत्रैव अधिष्ठानरूपतया भानं संकल्पः तदा स्वप्नावस्था। यदा तु तत्रैव अधिष्ठातृरूपतया बीजात्मतयैव भानं तदा सुषुप्तावस्था।

यहीं जाग्रत् आदि अवस्थाओंका निरूपण (प्रासङ्गिक) है। वेद्य और वेद्यविषयक संविद्का जो वैचित्र्य है, वह अन्योन्यापेक्ष है। न केवल वेद्य की और न केवल संविद्की और न ही पृथक् पृथक् दोनों की ही वह अवस्था है। इसस्थितिमें जब अधिष्ठेयता पूर्वक बाह्य रूपसे भान होता है, तब जाग्रत् अवस्था होती है। यह मान, मेय और माता में होती है। जब वहीं अधिष्ठान रूपसे भान होता है, संकल्प होता है-तब स्वप्नावस्था होती है। और जब अधिष्ठाता रूपसे बीजरूप भान होता है, तब सुषुप्तावस्था होती है।

तत्त्वाध्वामें पाञ्चदश्य विज्ञानके कथनके प्रसङ्गमें ही ५ अवस्थाओंका निरूपण आवश्यक है। प्रमाता ही स्वरूपसे प्रमेय बन जाता है। प्रमेयावस्थामें भी शिव आदि प्रमाताओं की संविद् उल्लसित होती रहती है।

---

१. तं० १०।२१२

शिवोल्लासकी इस विचित्रताकी अवस्था एक दूसरे पर आश्रित, एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाली होती है। न तो वह वेद्यकी, न केवल संविद्की और न केवल दोनोंकी पृथक्-पृथक् होती है। वह शिवकी स्वेच्छासे अवभासित और प्रमेयोपहित अवस्था है। इसीलिये इसे विचित्र कहते हैं।

इसका भान तीन तरहसे होता है। १–अधिष्ठेय रूपसे, २–अधिष्ठान रूपसे और ३–अधिष्ठातारूपसे। भान हमेशा वेदकको होता है। यह भान जब अधिष्ठेयमें होता है, तो वह और प्रमा सभी अधिष्ठेय कहलाते हैं।[१]

इस अधिष्ठेय रूपतामें ही जाग्रत् अवस्था मानी जाती है।[२] जैसे नील पदार्थका भान बाह्यरूपसे होता है। अन्तःसंकल्प रूपसे भान होने पर अधिष्ठेय भाव नहीं होता। बाह्यरूपसे ही वह बोध्य होता है। बाह्य रूपसे देहका भान भौतिक रूपसे होता है। अतः प्रमेय होता है। देहका चैतन्य भाग अबुद्ध, मानांश बुद्ध, मितिकारक प्रमात्रंश प्रबुद्ध तथा प्रमा मात्रके रूपमें स्वात्मविश्रान्तिका क्रम सुप्रबुद्ध कहलाता है। यह सभी जाग्रत् अवस्था है।[३] यही पिण्डस्थ क्रम भी है।[४]

स्वप्न दूसरी अवस्था है। इसमें अधिष्ठान रूपसे भान होता है। इसको मेयकी छायासे अवभासमान भानप्रधान अवस्था कहते हैं। स्वप्नकी अवस्थाको विकल्पकी अवस्था भी कहते हैं। शिवसूत्रोंका यह प्रसिद्ध सूत्र है—'स्वप्नो विकल्पः'। इसीलिए स्पष्ट न होने वाले विकल्प रूप वेद्य ही स्वप्न हैं। ये गतागत, सुविक्षिप्त, संगत और सुसमाहित भेद से ४ प्रकारके होते हैं।[५]

सुषुप्ति इस क्रमकी तीसरी अवस्था है। अधिष्ठातृरूप बीजात्मक भान इसकी विशेषता है। 'आज मैं अच्छी नींद सोया' यह प्रमाताका भान है और बोज रूपसे ही होता है। इसमें एक मीठी चुप्पी होती है। सामान्य-जनकी इन अवस्थाओंमें साधककी अवस्थाओंमें अनुभूतियोंका अन्तर होता है। यह तीनों प्रमेय, प्रमाण और प्रमाताकी अवस्थायें हैं।

---

१. तं० १०।२३०–२४५ २. तं० १०।२३३ ३. तं० १०।२३४–२३५

४. तं० १०।२३६–२३९ मा० वि० २।४३ ५. तं० १०।२५०–२५३

इमाः तिस्रः प्रमेय-प्रमाण–प्रमात्रवस्थाः प्रत्येकं जाग्रदादिभेदात् चतुर्विधा उक्ताः। यदा तु तस्मिन्नेव प्रमातृविश्रान्तिगते प्रमातुः पूर्णतौन्मुख्यात् तद्द्वारेण पूर्णतोन्मुखतया भानं तदा तुर्यावस्था। सा च रूपं दृशाहमित्येवंविधम् अंशत्रयम् उत्तीर्य पश्यामीति अनुपायिका प्रमातृता स्वातन्त्र्यसारा, नैकटय-मध्यत्व-दूरत्वैः प्रमातृप्रमाण–प्रमेयताभिषेकं ददती तदवस्थात्रयानुग्राहकत्वात् त्रिभेदा।

प्रमेय, प्रमाण और प्रमातृगत ये तीनो अवस्थायें प्रत्येक जाग्रत् आदि भेदसे चार प्रकारभी कही गयी हैं। जब उसी प्रमातृविश्रान्तिको अवस्थामें प्रमाता का पूर्णतामें औन्मुख्य हो जाता है, तब पूर्णतोन्मुखरूप से भान होने लगता है। और यही तुर्यावस्था है। यहभी रूप (प्रमेय) दृशा (प्रमाण) और अहम् (प्रमाता) इन तीन अंशोंको उत्तीर्ण कर देखता हूँ–इस प्रकार स्वतंत्र अनुपायरूपा प्रमातृता निकट, मध्य और दूर भावसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयको अभिषिक्त करती है। यह अवस्थात्रय की अनुग्राहिका है। अतएव तीन भेद वाली है।

वस्तुतः जगत् शिवमय है। शिव प्रमाता हैं। प्रमेय, प्रमाण और प्रमा का सारा उल्लास उसी परम प्रमाताका उल्लास है। अन्तमें इनकी विश्रान्ति प्रमातामें हो जाती है। जबतक विश्रान्ति नहीं होती, तभी तक जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थायें रहती हैं। जागतिक प्रमाताओंको इन तीन अवस्थाओंमें जीवन बिता देनेकी विवशता है। परम प्रमाताकी ओर इस अवस्थामें उन्मुखता नहीं हो पाती। सौभाग्यवश साधनाके बलपर, गुरुकृपासे या आराध्यके अनुग्रहसे परम प्रमातामें विश्रान्ति हो जानेपर पूर्ण प्रमाताकी ओर उन्मुखता हो जाती है। उन्मुखताकी यह अवस्था ही तुर्यावस्था है।

यह दशा बड़ी ही विचित्र होती है। साधकको यह अनुभूति होती है कि, मैं जो कुछ देख रहा हूँ, वह पहलेकी अपेक्षा कुछ ऊपर है। वह रूपमें भी अरूपका दर्शन करता है। प्रमाण और सामान्य प्रमातासे विलक्षण प्रकाशका अनुभव कर रहा हूँ। वह परम प्रमाताके निकट कभी मध्याव-

स्थित और कभी दूर भी अनुभव करता हुआ प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयको अभिषिक्त करता रहता है। यह अवस्था जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके लिये भी अनुग्रह रूप होती है। यह स्वतन्त्र दशा है। समस्त उपायोंसे भी अप्राप्य है अर्थात् उसकी प्राप्तिकेलिये उपाय भी अनुपयुक्त हैं। यह एक प्रकारकी शक्तिकी समावेश दशा है[1]। यही तुर्यावस्था स्वप्रकाशरूप और संवित्रूपा है। इसी संविद्में तीनों अवस्थायें उल्लसित होती हैं।

तुर्यावस्था तीन प्रकारकी मानी जाती है। १–मनोन्मन २–अनन्त और ३-सर्वार्थ। जागरा वृत्तिमें विकल्प प्रायः नहीं रहते। अविकल्पकताके प्राधान्यके कारण मननरूप व्यापारमें उत्क्रमण होना ही 'मनोन्मन' अवस्था है। स्वप्नमें विषय और इन्द्रियोंके सम्पर्ककी भी अपेक्षा नहीं होती। देशकाल आदिका कोई नियम वहाँ लागू नहीं होता। इसलिए इसे अनन्न कहते हैं। सुषुप्तिमें पूरा विश्व शक्तिरूप से अवस्थित होता है। इसलिये इसे सर्वार्थ कहते हैं।[2]

एतदेव अवस्था चतुष्टयम् पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपातीतशब्दैर्योगिनो व्यवहरन्ति। प्रसंख्यानधनास्तु सर्वतोभद्रं व्याप्तिः प्रचय इति शब्दैः। अन्वर्थं चात्र दर्शितं तन्त्रालोके श्लोकवार्त्तिके च यच्च सर्वान्तर्भूतं पूर्णरूपं तत् तुर्यातीतं महाप्रचयं च निरूपयन्ति। किञ्च यस्य यद्यदा रूपं स्थिरमनुबन्धि तत् जाग्रत्, तस्यैव तद्विपर्ययः स्वप्नः, यः लयाकलस्य भोगः सर्वावेदनं सुषुप्तं, यो विज्ञानाकलस्य भोगः भोग्याभिन्नीकरणं तुर्यं मन्त्रादीनां स भोगः, भावानां शिवाभेदस्तुर्यातीतं सर्वातीतम्।

योगीलोग इन्हीं चार अवस्थाओंको पिंडस्थ, पदस्थ, रूपातीतभी कहते हैं। प्रसंख्यानधन विद्वान् इसेही सर्वतोभद्र, व्याप्ति और प्रचय शब्दों द्वारा व्यवहारमें लाते हैं। अन्वर्थ तंत्रालोक और श्लोक वार्त्तिक नामक ग्रन्थोंमें दिखलाया गया है।

---

१. तं० १०।२६५ २. तं० १०।२७७

(इन चार अवस्थाओंसे भी सूक्ष्म और उत्कृष्टतम अवस्था वह है) जो सर्वान्तर्भूत पूर्णरूप सर्वातीत और महाप्रचय रूप है । इसे तुर्यातीत कहते हैं । जिसका, जो, जब स्थिर और अनुबन्धि रूप है—वही जाग्रत् है । उसीका विपर्यय स्वप्न है । जो लयाकलका भोग है और जो सर्वविदन है—वह सुषुप्त है । जो विज्ञानाकल का भोग है और भोग्यको अभिन्नीकरण दशा है, वह तुर्य है और मन्त्रादिकोंका भोग है । समस्तभावोंकी शिवसे अभेदताकी दशा तुर्यातीत अवस्था है । (वास्तवमें) यही सर्वातीत है ।

विभिन्न अवस्थाओंका परस्पर कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है । सभी परस्पर संकीर्ण और बहुत अवस्थाओंमें मिली-जुली भी होती हैं, पर प्राधान्य दृष्टिसे यह विभाजन मान्य है । यही कारण है कि, जाग्रत्को जाग्रत् अबुद्ध, जाग्रत्स्वप्न आदि नाम दिये गये हैं । शिवसूत्रका एक सूत्र है—'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेच्यम्' तुर्य अवस्था भी सर्वत्र अविभक्त है । फिर योगियोंकी अनुभूतियोंके अनुसार इनका नामकरण अलग-अलग है । जैसे इन चार अवस्थाओंको योगीलोग पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहते हैं ।[२] प्रसंख्यानधन तत्त्वज्ञानी होता है । इन ज्ञानियोंकी दृष्टिमें पिण्डस्थ ही सर्वतोभद्र है । पदस्थ ही व्याप्ति है । रूपस्थ ही महाव्याप्ति है । रूपातीत ही प्रचय है ।[३]

इन चार अवस्थाओंके अतिरिक्त ५वाँ भेद तुर्यातीत है । इसे 'सर्वग' कहते हैं । यह सबमें अनुगत है । सब इसमें अन्तर्भूत हैं । सबसे अतीत दशा है यह । सर्वतोभावेन परिपूर्ण । इसे महाप्रचय भी कहते हैं ।[४] मुख्यताके आधार पर एक नया विचार यहाँ प्रस्तुत है । उत्प्रेक्षा, स्वप्न, संकल्प, स्मृति उन्माद आदि सब अवस्थाओंमें जो रूप, जब कभी, जिस प्रकार स्थिर सम्बन्धसे भासित होता है, वह अवस्था जाग्रत् ही है ।[५] इसके विपरीत अर्थात् उक्त उत्प्रेक्षा आदिमें जो वेद्य अस्पष्ट भासित हो, वह स्वप्नदशाका परिचायक है । बाहर भासित समस्त भावोंका अग्रहण ही सुषुप्ति है । प्रलयाकल प्रमाताका भोग

---

१. तं० १०।२३६–२३९ २. मालिनीविजयोत्तर तन्त्र २।४०–४१ ३. मा० वि० २।३६–३८, तं० १०।२४६ ४. मा० वि० २।३८ ५. तं० १०।२४९-२५०

यही है। विज्ञानाकलका भोग तुर्यादशा है। इसमें भोग्यकी अभिन्नता स्वतः सिद्ध होती है। मन्त्र पुरुष इस दशामें ही भोग करते हैं। समस्त भाव जब अभिन्न रूपसे शिवमय भासित होते हैं, उस सर्वातीत दशाको तुर्यातीत कहते हैं।[१]

तत्र स्वरूपसकलौ, प्रलयाकलः, विज्ञानाकलः, मन्त्रतदीशतन्महेशवर्गः, शिवः इति पञ्चदशभेदे पञ्च अवस्थाः। स्वरूपं प्रलयाकलः इत्यादि क्रमेण त्रयोदशभेदे स्वरूपं विज्ञानाकलशक्तिः विज्ञानाकल इत्येकादश भेदे, स्वरूपं मन्त्रा तदीशाः महेशाः शिवः इति नवभेदे, स्वरूपं मन्त्रेशाः महेशः शक्तिः शिवः इति सप्त भेदे, स्वरूपं महेशः शक्तिः शिव इति पञ्चभेदे, स्वरूपं क्रियाशक्तिः, ज्ञानशक्तिः, इच्छाशक्तिः, शिव इति त्रिभेदे, अभिन्नेऽपिशिवतत्त्वे क्रियाज्ञानेच्छानन्दचिद्रूपकल्प्त्या प्रसंख्यानयोगधनाः पञ्चपदत्त्वमाहुः।

पन्द्रह अवस्थाओंमें ही १-स्वरूप (धरासे अव्यक्तपर्यन्त) और सकल, २-प्रलयाकल, ३-विज्ञानाकल ४-मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश वर्ग और ५-शिव ये५अवस्थायें (विज्ञान सिद्ध) हैं। स्वरूप (सकल इसकी शक्ति और कलापर्यन्त) प्रलयाकलके क्रमसे १३ भेद होते हैं। स्वरूप (प्रलयाकल) विज्ञानाकल और इसकी शक्तिके क्रमसे ११ भेद हैं। स्वरूप (विज्ञानाकल) मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महेश और शिवके ९ भेद, स्वरूप (मन्त्रादिरूप) मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर, शक्ति और शिवके क्रमसे ७ भेद, स्वरूप (मन्त्रश्वर) महेशकीशक्ति, महेश, शक्ति और शिव यह ५ भेद, स्वरूप (मन्त्रमहेश्वर) क्रिया शक्ति, ज्ञान शक्ति इच्छा शक्ति और शिव यह ३ भेद (किये तो जाते हैं, पर) शिवतत्त्वमें (यह सभी तत्त्व अन्तर्भूत हैं। अतएव) अभिन्न शिवत्तत्वही मान्य है। प्रत्यभिज्ञा दर्शनमें क्रिया, ज्ञान, इच्छा, आनन्द और चिद्रूपताके आधारपर शिवत्तत्व एक होते हुयेभी पाँच प्रकारका माना जाता है।

---

१. मा० वि० २।३८ तं० १०।२९४–२९७

जाग्रत् अवस्थामें धरासे अव्यक्त पर्यन्त सकल और सकलकी शक्तिका सन्निवेश होता है। स्वप्न और सौषुप्तमें प्रलयाकल, विज्ञानाकल, तुर्यमें मन्त्र, मन्त्रेश और मन्त्रमहेशवर्ग तथा तुर्यातीतमें शक्ति और शम्भुका आधान है। इस क्रमके अतिरिक्त धरासे लेकर सकल तक १ वर्ग, प्रलयाकल द्वितीय, विज्ञानाकल तृतीय, मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्रमहेश्वरका चतुर्थ एवं शिवकी ५ अवस्थायें भी १५ तुटियोंमें मान्य हैं; इसके अतिरिक्त १३, ११, ९, ७, ५ और तीन प्रकारके भेदोंकी अनुभूतिपरक अवस्थायें भी आकलित हैं, जो ऊपरके अर्थमें ही स्पष्ट हैं।

मुख्यतया शैव सिद्धांतके रूपमें इच्छा-क्रिया-ज्ञान-आनन्द और चित् इन्हीं ५ रूपोंका आकलन विचारक करते हैं। इसी पञ्चपदत्त्वकी प्रधानताके आधार पर इस दर्शनका सौध निर्मित है।

भूम्यादौ तत्त्वजाले नहि भवति वपुस्तादृशं यत्प्रमातुः,
संविद्विश्रान्तिवन्ध्यं स्फुरति स बहुधा मातृभावोऽस्य यस्मात् ।
तेनास्मिन्वेद्यजाले क्रमगतकलनां निर्विकल्पामहन्ताम्,
स्वातन्त्र्यामर्शसारां भुवमधिवसत प्राप्नुत स्वात्मसत्ताम् ॥

भूमि आदि हैं तत्त्व, न इनमें व्यक्त प्रमाताका वपु कान्त
वैसा ही जैसे वह रहता संविद्में विमस्य विश्रान्त।
वेद्य वर्ग अविकल्प अहन्ताकी स्वतंत्रताका परिणाम
रहते हुए यहीं पाता है, स्वात्मबोध अभिनव अभिराम!

पृथ्वी ३६ तत्त्वोंका पहला तत्त्व है। शिवशक्ति अन्तिम तत्त्व है। पृथ्वीसे लेकर सदाशिव पर्यन्त उसी संविद् विश्रान्त परम शिवका उल्लास है। संविद्में विश्रान्तिकी अवस्थामें वह अपनी चरम परम अवस्थामें उल्लसित होता है किन्तु अन्य ३४ तत्त्वोंमें वह चित्र विचित्र रूपोंमें स्फुरित होता है। प्रमाताका स्वरूप कुछ दूसरा ही हो जाता है।

निखिल वेद्य वस्तुओंमें विविध रूपोंमें वह क्रमिकरूप आकलित होता है। साधकोंका यह कर्त्तव्य है कि, वे स्वातन्त्र्य-शक्तिरूप विमर्शमयी निर्विकल्प अहन्ताकी सत्तामें निवास करें और स्वात्म-सत्ताकी प्राप्ति करें।

पहिण उभाहरभावकलपुणु अब्भन्तरि एह,

सञ्चिवपसम इपुणु जअल इब्भिहिनिद्दकलेह ।

संवेअण पअरूढ इउभावकलाउसमग्गु,

भरिअद्दसुस्सुहुगुणु भरिउ ॥

संस्कृत छाया—

पश्य उभय, हरभावकलं पुनः अभ्यन्तरे एषः

सद् एव पश्यत इदं जगत्, लभ्यः नित्यकलेशः ।

संवेदन–पदारूढः इति भावकलापसमग्रः

भरितः दृश्यते सः पुनः भरति ॥

परम प्रवीण नितान्त विभास्वर स्वरूप भावोंकी कलनासे जानने योग्य वह परमेश्वर है । (उसका बनाया) यह जगत् भी सत्य है । वह (साधनासे) लभ्य है (पाया जा सकता है) वह नित्य है । सभी कलाओंका अधीश्वर है संवेदन पदपर आरूढ है अर्थात् संविद् शक्तिमें स्वातन्त्र्यसे संवलित है । समस्त भावशक्तिकी समग्रतासे पूर्ण है । वह स्वयं भरा हुआ है । वह भावसे दीख भी पड़ता है और अपूर्ण विश्वको पुनः पुनः भरता है अर्थात् अपूर्णको पूर्ण करनेकी सामर्थ्यसे युक्त है ।

तुरि आणन्तरलग्गु

घड़बोहिण हंउ जो असि एह ।

वितत्त समत्थफुरणक्रमेण

कमेण लिहालमि साणमि पच्छावतु ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य–विरचिते तन्त्रसारे तत्त्व–भेदप्रकाशनं नाम नवममाह्निकम् ॥९॥

संस्कृत छाया—

त्वरितं अनन्तरलग्नः
गृहे बहिः हंत यः अस्ति एषः ।
विततः समर्थ-स्फुरण-क्रमेण
क्रमेण निभालयामि आत्मसात् करोमि पञ्चावतु ॥

हिन्दी पद्यानुवाद—

अन्तर अन्तर, गृहघर बाहर
वह सर्वत्र त्वरितगति शंकर
व्यापक सर्व समर्थ, क्रमिक मैं
उसे देखता, आत्मसात् करता अभयंकर
रक्षा करे सदा पंचानन !

महा माहेश्वराचार्य-श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित
तन्त्रसार के 'तत्त्वभेद प्रकाशन' नामक नवम आह्निकका
डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा विरचित नीर-क्षीर-विवेक
नामक हिन्दी भाष्य सम्पूर्ण शुभं भूयात् ॥

दशममाह्निकम्

उक्तस्तावत् तत्त्वाध्वा । कलाद्यध्वा तु निरूप्यते । तत्र यथा भुवनेषु अनुगामि किंचिद्रूपं तत्त्वमित्युक्तम्, तथा तत्त्वेषु वर्गशो-यत् अनुगामि रूपं तत्कला—एकरूपकलनासहिष्णुत्वात् ।

तत्त्वाध्वाका कथन किया। (अब) कला आदि अध्वा निरूपित किये जाते हैं। इस प्रसङ्गमें (यह जानना आवश्यक है कि) भुवनों में अनुगामी एक रूप है। वही तत्त्व कहलाता है । जैसे यह भुवनों में अनुगामी तत्त्व है, उसी प्रकार तत्त्वों में वर्गशः जो अनु-गामी रूप है वह 'कला' है। कला नाम पड़नेका कारण एक रूपकी कलनाकी सहिष्णुता (सामर्थ्य) है।

कला, तत्त्व और भुवन इन तीन रूपों में कलाध्वाका अध्ययन होता है। तत्त्वाध्वाके निरूपणके अनन्तर कलाध्वाका प्रसङ्ग यहाँ प्राप्त है। तत्का अर्थ वह और त्वका अर्थ भाव है। कुछ ऐसी मूल शक्तियाँ हैं, जो मूलतः पदार्थोंमें रहती हैं, उन्हें तत्त्व[1] कहते हैं। भुवनोंके निर्माणमें इन्हीं तत्त्वोंका हाथ है। ये सभी रूपोंमें अनुगत होते हैं। पृथ्वी जल तेज आदि से भुवनोंकी रचना होती है। पृथ्वी निर्मित भुवनमें 'धरा' तत्त्व अनुगत रहता है। इसी तरह अन्य भुवनों भी वे तत्त्व निहित रहते हैं। यह तो तत्त्वोंकी बात हुई। तत्त्वोंमें भी वर्ग होते हैं। वर्गशः इन तत्त्वोंमें भी एक रूप अनुगत है। इसी अनुगत रूपको 'कला' कहते हैं। कला नाम पड़नेका कारण है। कल धातुके गमन, क्षेपण, ज्ञान, गणना, प्राप्ति शब्द, स्वात्म तत्त्वका आकलन आदि अर्थ होते हैं। इन अर्थोंकी एक मात्र कलनाका श्रेय कलाको ही है। इसीलिये इस कलन करने वाली शक्तिको कला कहते हैं। जैसे धरामें धारिका शक्ति होती है, उसी तरह धरासे प्रकृति तक २४ तत्त्वोंकी अन्तः स्थित सूक्ष्म शक्तिको कला कहते हैं।[2] सारे भेद व्यवहार की यह मायानुगत शक्ति है। भेदमें ही यह प्रतिष्ठित होती है। उसीकी कलना करती है।

---

१. तं० ११।२ २. तं० ११।४

तद्यथा पृथिव्यां निवृत्तिः, निवर्त्तते यतः तत्त्वसर्ग इति। जलादिप्रधानान्ते वर्गे प्रतिष्ठा, कारणतयाप्यायनपूरणकारित्वात्। पुमादि मायान्ते विद्या, वेद्यतिरोभावे संविदाधिक्यात्।

शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ते शान्ता, कञ्चुकतरङ्गोपशमात्। एतदेव अण्डचतुष्टयम् पार्थिव–प्राकृत-मायीय-शाक्ताभिधम् पृथिव्यादिशक्तीनाम् अत्र अवस्थानेन शक्तितत्त्वे यावत् परस्पर्शो विद्यते, स्पर्शस्य च सप्रतिघातित्वमिति तावति युक्तम् अण्डत्वम्।

तननुसार पृथिवी में 'निवृत्ति' कला है क्योंकि यहीं से तत्त्वसर्ग निवृत्त हो जाता है। जलसे प्रधान तत्त्व तक 'प्रतिष्ठा' कलाका क्षेत्र है क्योंकि इनमें आप्यायन और पूरण करनेका गुण है। पुरुषसे माया तक 'विद्या' कला है। वेद्यके तिरोभाव हो जानेपर संविद्की अधिकताके कारण इस क्षेत्रमें विद्या कला है। शुद्ध विद्यासे शक्ति पर्यन्त 'शान्ता' कला है। इसमें कञ्चुकोंकी लहरें समाप्त हो जाती हैं। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता कला के क्षेत्र में हो ४ अण्ड हैं। इनको पार्थिव, प्राकृत, मायीय और शाक्त अण्ड कहते हैं। इन चारों अण्ड (कटाहों) की सीमामें पृथिवीआदि तत्त्व अवस्थान करते हैं। शक्तितत्त्वतक परस्पर्श होता है। स्पर्श सप्रतिघाती होता है। इसलिये वहाँ तक अण्ड (माना जाता) है।

जैसे धरणीमें धारिका शक्ति रहती है, उसी तरह इसमें 'निवृत्ति' कला भी रहती है। तत्त्वोंकी अन्तिम सीमा धरणी है। यह पराकाष्ठा है। शिवसे उल्लसित होने वाले इस अनन्त विस्तारकी अन्तिम छोर धरणी है। यहाँसे कलयित्री शक्ति निवर्त्तित होती है। इसीलिए इस निवर्त्तित शक्तिको 'निवृत्ति' कला शक्ति कहते हैं। तत्त्वोंकी सृष्टि यहाँ आकर रुक जाती है। तत्त्वोंका प्रवाह बन्द ही नहीं होता, यहाँसे लौट भी जाता है।

जलसे लेकर मूल प्रकृति तकके वर्गमें प्रतिष्ठा कलाका क्षेत्र है। इन २४ तत्त्वोंमें यह प्रतिष्ठित रहती है। प्रतिष्ठानका आकलन करनेके कारण इसे 'प्रतिष्ठा' कला शक्ति कहते हैं। प्रतिष्ठा के दो गुण हैं—१–आप्यायन

और २-पूरण। इन २४ तत्त्वोंमें रहकर यह सबको आप्यायित करती है, तृप्त करती रहती है। अभावोंको भरती रहती है। विषय पिपासा और आत्मतृषा दोनोंको यह शान्त कर सकती है। कमीकी पूर्त्ति तथा उसका निर्देश भी करती है। इस तरह भेदको उजागर करती है।

पुरुषसे माया तक 'विद्या' का क्षेत्र है। इसके द्वारा आत्मामें संकोच भी होता है और उसकी जानकारी भी होती है। यह विद्याकी शुद्धि-अशुद्धि पर निर्भर है। संकोचकी वेदयित्री होनेके कारण ही इसे विद्या कहते हैं। इसके क्षेत्रकी सबसे बड़ी विशेषता है—वेद्यका विलय। वेद्य जगत् है। इसकी अनुभूतिका न होना ही वेद्यका विलय है। इस अवस्थामें संविद् शक्तिकी अधिकता स्वाभाविक है फिर भी विद्यामें अशुद्धता बनो रहती है।

यह पार्थिव, प्राकृत, मायीय और शाक्त सर्ग है। एक-एक सर्ग एक-एक अण्ड है। अण्डकी परिभाषा है-भुवनोंका आवरण। प्रमेय रूप अध्वा भुवन, तत्त्व और कला इन भागोंमें विभक्त है। भुवन ११८ होते हैं। तत्त्व ३६ और कलायें ५ होती है। यह सारा भुवन विस्तार शक्ति पर्यन्त ही है। इन भुवनोंका आवृतरूप ही अण्ड है। इसमें पृथ्वी आदि शक्तियोंकी स्थूल-सूक्ष्म अवस्थिति रहती है।

यह ध्यान देनेकी बात है कि शक्ति, पर्यन्त समस्त ३५ तत्त्वों पर परम-शिवके शिवत्वका स्पर्श शाश्वत रूपसे बना हुआ है। फिर भी पृथिव्यादि शक्तियोंका जो सूक्ष्म स्पर्श रह जाता है, वह कभी-कभी बड़ा बाधक बन जाता है। क्योंकि यह एक, प्रकारका सिद्धान्त ही है कि, स्पर्श सप्रतिघ (प्रतिघाती गुणों से युक्त) होता है। इन शक्तियोंके स्पर्शके कारण ही भुवन आदि विभाग बने रहते हैं। यह भेदवादिताका आवरण होता है। इसी-लिये इसको अण्ड[1] कहने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं।

शिवतत्त्वे शान्तातीता, तस्योपदेशभावनार्चादौ कल्य-मानत्वात्। स्वतन्त्रं तु परं तत्त्वं, तत्रापि यत् अप्रमेयम् तत् कलातीतम्। एवं पञ्चैव कलाः षट्त्रिंशत्तत्त्वानि। तथाहि—

---

1. तं० ११।१२-१३

प्रमेयत्वं द्विधा, स्थूल-सूक्ष्मत्वेन इति दश। करणत्वं द्विधा शुद्धं कर्तृतास्पर्शि च इति दश। करणतोपसर्जनकर्तृभावस्फुटत्वात् पञ्च, शुद्धकर्तृभावात् पञ्च। विगलितविभागतया विकासोन्मुखत्वे पञ्च, सर्वावच्छेदशून्यं शिवतत्त्वं षट्त्रिंशम्।

शिवतत्त्व में शान्तातीता कला होती है। शिव के उपदेश, उसकी भावना या पूजा आदि प्रसङ्गों में इसकी कलना होती है। परतत्त्व स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र में भी जो अप्रमेयतत्त्व है, वह कलातीत है। इस प्रकार कलायें ५ ही होती हैं और तत्त्व ३६ होते हैं। जैसे प्रमेयत्व दो प्रकारका होता है-१—स्थूल और १-सूक्ष्म। इस प्रकार प्रमेय दश हो जाते हैं। करणत्व भी दो प्रकारका होता है-१-शुद्ध और २-कर्तृतास्पर्शी। इस तरह करणता भी दश हो जाती है। कहीं करणता गौण और कर्तृताका भाव स्फुट रहता है। इसमें ५ भेद होते हैं। कहीं शुद्ध कर्तृभाव होता है। इसमें भी ५ भेद होते हैं। जहाँ विभाग विगलित हो जाते हैं और विकासोन्मुखता आ जाती है, वहाँ भी ५ भेद होते हैं। सभी अवच्छेदोंसे शून्य तो शिवतत्त्व ही है। वह ३६ वाँ तत्त्व है।

शान्तातीता कला शिव तत्त्वमें होती है।[1] क्योंकि शिव कलातीत माना जाता है। इसमें न कोई वर्गीकरण सम्भव है और न किसी प्रकार की कलना वहाँ सम्भव है। हाँ उपदेशकी अवस्थामें, ज्ञान और बोधकी अवस्थामें, भावना और अनुभूतिकी अवस्थामें तथा अर्चनाकी अवस्थामें वह कल्यमानकी तरह लगता है—यह उसके स्वातन्त्र्यका प्रभाव है। लगता है कि, वहाँ भी कलाका सम्पर्क है। पर बात मूलतः ऐसी नहीं होती। अपनी स्वातन्त्र्य शक्तिसे वह अपने 'स्व' रूपसे च्युत नहीं होता।[2]

सारी कलनायें जिस समय समाप्त हो जाती हैं, उस समय शिव तत्त्व कलातीत और अप्रमेय कहलाता है। मुख्यतः तो कलायें ५ ही हैं और तत्त्व ३६ हैं। इन तत्त्वोंके विभाजनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रत्यक्ष सिद्ध तो ५ तत्त्व ही हैं। १-पृथ्वी, २-जल ३-अग्नि, ४-वायु और

---

१. तन्त्रालोक ११।९ २. तन्त्रालोक ११।१०—१२

५-आकाश। इन्हींके आधार पर विश्वका निर्माण होता है। मेय होनेसे ३० तत्त्व उदित हो जाते हैं। स्थूल और सूक्ष्म रूपसे यही १० हो जाते हैं—१-रूप, २-रस, ३-गन्ध, ४-स्पर्श और ५-शब्द ये सूक्ष्म रूप हैं। ज्ञानांशके स्पर्शसे ५ बुद्धि-इन्द्रियाँ बन जाती है। कत्रंशके स्पर्शसे ५ कर्मेन्द्रियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार करण (इन्द्रियाँ) भी १०हो जाती हैं। इन्द्रियाँ प्रमाण रूप होती हैं। मेयको छोड़कर मानकी सत्ता भी क्या हो सकती है ? कार्यके विना करणत्वका क्या उपयोग हो सकता है ? इसलिये जब करण भाव गौण और कर्त्ताका भाव स्फुट हो जाता है, तब मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष ये ५ तत्त्व बन जाते हैं। केवल कर्त्तृभावमें कला, विद्या, राग, काल और नियति ये ५ कञ्चुक बनते हैं। जब विभाग विगलित होने लगते हैं, तो शुद्ध विद्या, मन्त्र ईश्वर सदाशिव और शक्ति ये ५ अवस्थायें विकसित हो जाती हैं। ३६वाँ तत्त्व शिवतत्त्व तो निर्विवाद ही है।'[1] विश्वोत्तीर्ण शिवका ही यह वास्तविक स्वरूप है।

तद्यदा उपदिश्यते भाव्यते वा यत्, तत् प्रतिष्ठापदम्। तत् सप्तत्रिंशम्। तस्मिन्नपि भाव्यमाने अष्टात्रिंशम्, न च अनवस्था-तस्य भाव्यमानस्य अनवच्छिन्नस्वातन्त्र्ययोगिनो वेद्यीकरणो सप्तत्रिंश एव पर्यवसानात्, षट्त्रिंशं तु सर्वतत्त्वोत्तीर्णतया संभाव्यावच्छेदम् इति पञ्चकलाविधिः। विज्ञानाकलपर्यन्तम् आत्मकला, ईशान्तं विद्याकला, शिष्टं शिवकला इति त्रितत्त्व-विधिः। एवं नवतत्त्वाद्यपि ऊहयेत् इति।

उस तत्त्वका जब उपदेश दिया जाता है अथवा जब उसकी भावना की जाती है, तो उसका एक चिन्मय और एकात्मक रूप भासित होता है। वहाँ (चित्सत्ता की) प्रतिष्ठा (की अनुभूति) होती है। वही उसका पद (स्थान) है। वह सैंतीसवाँ तत्त्व है।

यह अनुभूति भी वेद्यके समान है। इसका कोई वेदक हो सकता है। इस विमर्शकी उच्चभूमि में भाव्यमान अड़तीसवाँ तत्त्व है। इसमें अनवस्था दोष नहीं होता क्योंकि भाव्यमान अनवच्छिन्न 'स्व' भाव

१. तन्त्रालोक ११।२४

वाला है। (जब वह) वेद्य (रूपसे स्वीकार्य होगा, तो) वह सैंतीसवें तत्त्व में ही पर्यसित होगा। छत्तीसवाँ तत्त्व सर्वोत्तीर्ण तत्त्व है। अतः (उसमें) अवच्छेद सम्भावित है। यह पञ्चकला विधिका विचार है। विज्ञानाकल तक आत्मकला है, ईश तक विद्याकला है। शेष शिवकला है। यह त्रितत्त्व विधि है। इसी प्रकार नवतत्त्व विधि आदि भी विचार्य हैं।

जब भी हम किसी विषयमें उपदेश करते हैं, या उस विषयमें विचार करते हैं या विषय सम्बन्धी भावनासे भावित होते हैं, तो वह विषय वस्तु वेद्य बन जाता है। वेद्य होने पर वेदक भी होगा ही। यहाँ भेदवाद उपस्थित होता है। शिवके चिन्मय, आनन्दमय और स्वतन्त्र रूपका निर्देश करने पर सर्वावच्छेद शून्य छत्तीसवें तत्त्वरूप शिवके अतिरिक्त स्वरूपका आभास होने लगता है। विश्वमयतामें अविभागकी कल्पना तो शक्तिका चमत्कार कहा जा सकता है। विश्वमय ही विश्वोत्तीर्ण कहा जाय, यह आवश्यक नहीं। यह सिद्धान्त है कि, विरुद्ध धर्मकी प्रतीति होने पर भेद भासित होता है। इस विश्लेषणके अधार पर यह कहा जा सकता है कि, शिव साक्षात् तात्त्विक रूप चित्, आनन्द और स्वतन्त्र है। यही उसकी प्रतिष्ठाका सर्वोत्तम स्थान है। यही सैंतीसवाँ तत्त्व कहा जा सकता है। इस अवस्थामें अब कुछ भी विचारणीय वस्तु शेष नहीं रह जाती।[1]

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, क्या ३७वें तत्त्वके रूपमें कहा गया चिन्मय, आनन्दमय और स्वतन्त्र शिवका जब हम पुनः उपदेश या भावन करेंगे, तब वह वेद्य नहीं बन जायेंगे ?

प्रश्न विचारणीय है। सत्य भी यही है कि, यदि वह रूप भी भावनामें विमर्शके लिए उपस्थित होता है तो उसे ३८वाँ तत्त्व कह सकते हैं। और इसमें अनवस्था दोष भी नहीं होगा। क्योंकि इस प्रकार विमृश्यमान वह तत्त्व ३७वें तत्त्वमें ही पर्यवसित हो जायेगा।[2] यद्यपि ३६वाँ तत्त्व भी अनवच्छिन्न बोध मात्र ही है, किन्तु उसके स्वातन्त्र्यके कारण उसके भेदकी सम्भावना है। इसीलिये उसे 'संभाव्यावच्छेद' कहते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि, यह ३८वाँ और ३७वाँ तत्त्वद्वय भी ३६वें रूपमें ही पर्यवसित

---

१. तं० ११।२५–२६ २. तन्त्रालोक ११।२७

हैं। इसलिये पञ्चकलाविधिका जो सिद्धान्त आगमिक विद्वानों द्वारा निर्धारित है, वही तात्त्विक है।[१] धरासे पुरुष तक २५ तत्त्व तो ५-५ के क्रमसे ही २५ माने जाते हैं। कंचुक और शुद्ध अध्वाके शक्ति तत्त्व तक सात पंचक हो जाते हैं। ३६वाँ तत्त्व ही सर्वाविच्छेद शून्य चिदानन्दमय स्वतन्त्र शिव तत्त्व है।[२]

पंचकलाकी तरह ही तीन कलाकी विधि भी आगम प्रसिद्ध है। इसे त्रितत्त्वविधि भी कहते हैं। पुरुष ७ माने जाते हैं। विज्ञानाकल पुरुष तत्त्व तक आत्मकला, ईश्वर पुरुष तक विद्या कला और शेष तत्त्वमें शिवकला है। इनके अन्तर्गत ही सारा प्रकाश-उल्लास समाहित हो जाता है।[३]

इसी प्रकार नव तत्त्व-कला-विधिका उल्लेख आगमोंमें है। आदि शब्दके द्वारा अष्टादश कला विधि और मात्र एक तत्त्व विधिके सिद्धान्त भी गृहीत हो जाते हैं। नव तत्त्वके रूपसे प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश, सदाशिव और शिव तत्त्व गृहीत हैं।[४] अठारह तत्त्वके रूपमें ५ तन्मात्रायें, मन, बुद्धि, अहंकार, गुण, प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शक्ति तत्त्व मान्य हैं। एक तत्त्व तो प्रसिद्ध शिवतत्त्व ही है। इस प्रकार तत्त्व विवेचनसे यह स्पष्ट है कि, आगमिक विद्वान् ३६, १८, ९, ५ और एक तत्त्व द्वाराही इस विराट् विभूतिका प्रत्यवमर्श करते हैं।[५]

मेयांशगामी स्थूल-सूक्ष्म-पररूपत्वात् त्रिविधो भुवन-तत्त्वकलात्माध्वभेदः, मातृविश्रान्त्या तथैव त्रिविधः, तत्र प्रमाणतायां पदाध्वा, प्रमाणस्यैव क्षोभतरङ्गशाम्यत्तायां मन्त्राध्वा, तत्प्रशमे पूर्णप्रमातृतायां वर्णाध्वा, स एव च असौ तावति विश्रान्त्या लब्धस्वरूपो भवति इति एकस्यैव षड्विधत्वं युक्तम्।

---

१. ई० प्र० ३।५।१६ २. तन्त्रालोक ११।२९-३४

३. तं० ११।३५ मा० वि० २।४७ ४. ११।३७ ५. वही ११।३९-४०

मेय अंश गामी स्थूल-सूक्ष्म और पररूप होने के कारण तीन प्रकार के पुर, तत्त्व और कला नामक अध्वाके भेद होते हैं। प्रमात्रंशके आश्रय के कारण भी तीन प्रकार के अध्वाकी प्रमाणरूपतामें पदाध्वा, प्रमाणके प्रक्षोभ (के कारण उठी) तरङ्गोंकी शक्तिकी अवस्थामें मन्त्राध्वा और क्षोभके प्रशमके उपरान्त पूर्ण प्रमाताकी दशामें वर्णाध्वा होता है। प्रमामें विश्रान्तिसे स्वरूपकी उपलब्धि होती है। एक तत्त्वका यह षडध्व प्रविभाग है।

प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमाके प्रसङ्गमें जब हम अध्वा तकका विचार करते हैं, तो यह निश्चित होता है कि, प्रथमतः अध्वा जब मेय अंश में अनुप्रविष्ट होता है, तो स्थूल, सूक्ष्म और पर भेदसे भुवन (पुर), तत्त्व और कला नामक उसके ३ भेद हो जाते हैं।[1] वही जब प्रमाताके अंशमें अनुप्रविष्ट होता है—प्रमाणसे 'पद' का अवगम होता है और उसमें समावेश होता है। प्रमाण क्षोभकी अवस्थाको कहते हैं। जिस समय प्रक्षोभका प्रशमन होने लगता है और लहरोंके न रहने पर निस्तरंग समुद्रकी शान्त दशा आ जाती है, उस समय 'मन्त्र' नामक अध्वा होता है। क्षोभकी शान्तिमें 'वर्ण' नामक अध्वा होता है। पूर्णप्रमाताकी स्वरूपोपलब्धि पूर्ण स्वात्मविश्रान्तिमें ही सम्भव है। उस अवस्थामें वागात्मक व्यवहार करने वाला प्रमाता चुप्पी साध लेता है। यह रहस्यका विषय है कि, उस अवस्थामें उसकी विमर्श शक्ति अपना काम करती ही है। फिर भी इसमें मेय, मान और माताकी प्रमिति रूप प्रमा विश्रान्त ही रहती है। इसतरह एक तत्त्वमें ही इन छः अध्वाओंका उल्लास होता है। यह साधककी स्वात्मानुभूतिका विषय है।

पदमन्त्र-वर्णमेकं, पुरषोडशकं धरेति च निवृत्तिः।
तत्त्वार्णमग्निनयनं, रसशरपुरमस्त्रमन्त्रपदमन्या॥
मुनितत्त्वार्णं द्विकपदमन्त्रं वस्वक्षिभुवनमपरकला।
अग्न्यर्णतत्त्वमेकंकपदमन्त्रं सैन्यभुवनमिति तुर्या॥
षोडशवर्णाः पदमन्त्रतत्त्वमेकं च शान्त्यतीतेयम्।
अभिनवगुप्तेनार्यात्रयमुक्तं संग्रहाय शिष्येभ्यः॥

---

१. तन्त्रालोक ११।४२

पद, मन्त्र, वर्ण, 'क्ष' कार, १६ पुर, और धरा यहाँ तककी धारिका निवृत्ति कला है। तत्त्व वर्ण नयन+अग्नि=२३ हैं। पुर (शर ५+ रस ६)=५६ हैं। अस्त्र (शर) ५ और मन्त्र यह (अन्य) प्रतिष्ठा कला के अन्तर्गत हैं। तत्त्व-वर्ण मुनि ७ हैं। द्विक (१ पञ्चाक्षर दूसरा द्वयक्षर) पद और मन्त्र, वसु ८-आँख २ अर्थात् २८ भुवन (अपरकला) विद्या कला हैं।

अग्नि ३ (ग ख क वर्ण, विद्या ईश्वर, सदाशिवतत्त्व) एकएक पदमन्त्र, सैन्य (अक्षौहिणी १८) भुवन तक तुर्या शान्ता कला है। १६ वर्ण (विसर्ग से अकारतक) रूप पद और मन्त्र और १ तत्त्व (३६वाँ शिवतत्त्व) यहाँ तक शान्त्यतीता कला है। श्रीमदभिनव गुप्त पादाचार्य स्वयं ग्रन्थकारने यह आर्या शिष्योंके संग्रहके लिये निर्मितकी है।[1]

त्रिक दर्शनमें 'स्थान' के तीन विभाग प्रसिद्ध हैं—१-प्राण २-शरीर और ३-बाह्य रूपसे अनुभूत विश्व। 'प्राण' सामान्य स्पन्दनको कहते हैं। यह प्रमाता और प्रमेय दो भागोंमें विभक्त है। प्रमाता भेदमें पद, मन्त्र और वर्ण ये तीन अध्वा हैं अर्थात् विचारके मार्ग हैं। परामर्शोंके स्थान-को पद कहते हैं।[2] ये मन्त्रोंसे ही बोध गम्य हैं। उन्हींसे उन परामर्शोंका प्रारम्भ भी होता है। मन्त्र वर्णसे ही बनते हैं। वर्ण ही मन्त्रोंके शरीर हैं। वर्ण तो प्राणमें ही प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार इनकी स्थूल, सूक्ष्म और पर यह तीन स्थितियाँ हैं। ये तीन[3], १६ पुर[4] और धरा इतने क्षेत्रमें निवृत्ति कला है।[5]

इसी प्रकार प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शात्यतीता कलाके क्षेत्रोंका निर्देश उक्त आर्या छन्दमें नयन=२ और अग्नि=३ होता है। यह २३की संख्या है। अप् से लेकर अव्यक्त तत्त्व तक तथा ह से ङ् पर्यन्त वर्ण भी २३ ही होते हैं। पाणिनीय माहेश्वर सूत्रके अन्तिम ह से लेकर ङ् तक ष श, ट और ठ इन चार अक्षरोंको छोड़कर २३ ही होते हैं। क्योंकि षश का प्रतीक स एक ही वर्ण है। ट और ठ षण्ठ वर्ण हैं। अतः इनकी गणना नहीं होती।

---

१. तं० ११।५१--५३ २. तं० ६।२२९--२३० ३. ३४।६--३७ ४. तन्त्रसार पृ० २४१ प्र० खण्डे ५. मा० वि० तन्त्र २।५०--५१

दूसरी प्रतिष्ठा कला है। यह जलादि प्रधानान्त वर्गमें होती है। इसमें ५६ पुर होते हैं। ५-५ पद और मन्त्र भी होते हैं।

विद्या कलामें सात तत्त्व (माया+५ कंचुक+१ पुरुष) होते हैं। ञ से घ तकके ७ वर्ण माने जाते हैं। पद और मन्त्र दो-द्विक होते हैं। २८ भुवन होते हैं।[1]

तुर्या (शान्ता) कलामें क ख और ग तीन वर्ण होते हैं। विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व होते हैं। १ पद और १ ही मन्त्र भी होता है (सैन्य) १८ भुवन होते हैं।

शान्त्यतीता कलामें १६ वर्ण (विसर्गसे अकार तक) होते हैं। एक पद और एक ही मन्त्र भी होते हैं। इसमें स्वयं शिव ही एक तत्त्वके रूपमें विराजमान रहते हैं।

भुवनजाल सकलउ
परिसरसह अवसीस इतत्ता हंसकूउ।
तत्तब्भाउकलणा
इविमरिसहसीसइ पंचकला हंसरूउ।
पञ्चकलामउएहु
महेसरु कुणइ विउज्झइ ।
इच्छइ सुहमउ
भरिहविबोध तरङ्ग महासरु ।

संस्कृत छाया—

भुवनजालसकलः
पुरषोडशकः इदन्ताहंतामयः।
तत्तद्भावकलनाऽऽवमर्शे
सप्तत्रिंशः पञ्चकलःहंसरूपः।
पञ्चकलामय एषः
महेश्वरः कलयति विभजति सर्वम्।
इच्छति सर्वसहिष्णुः
भरितविबोधतरङ्ग—महासागरः।

---

१. मा० वि० तन्त्र २।५४

सारा परमेश्वर तत्त्व ही भुवन जाल में व्यक्त है। इसमें १६ पुर हैं। यह इदन्ता और अहन्ता मय है। समस्त भावकलनाका अवमर्श करता है। सैंतीस तत्त्वमय और पाँच कलाओंसे युक्त है। सारा भेद वही आकलित करता है। उसीकी इच्छाका यह परिणाम है। वह परम सहिष्णु है। बोधका वह समुद्र ज्ञानकी तरङ्गोंसे लहरा रहा है।

सोच्चिऊ भासइ भवतरुविसरउ।
अलउ अध्वजालु निअधअणि पारमरिमेहहरो ॥
चेअण भरिअभरिउ अप्पहमणि सच्चिअपाणिमणु।
मानसपाणपवण धीसामसु पूरित जजिखणु ॥
तंजिघडाइ निहलु परभइरव णाह हुहोइतणु।
मत्तिदाणि आवाहणु प्रअणुसण्णिहाणुअइ अहिण अउडु ॥
सव्विह अद्धकलण निर्वाहाराए तिलडेचिअ एहइ तत्त्व।

संस्कृत छाया—

शुचिः भासते भवतरुविसर्गः
सकलमध्वजालं
निजधरणिपरिमलमेयधरः
चेतनां भृत्वा भरितः
आप्याययति सच्चिदात्मनि मनः
मानस प्राणप्रवणः धीसामसुपूरित योगक्षणः
तद् घटयति निष्कलः परभैरवनाथः भवति तनुः
मातृसद्भावनावाहन–प्रगुण–सन्निधान अभिनवगुप्तः
सर्वाध्वकलनं निर्वाहयति धारयति च नट इव एषः शिवतत्त्वम्।

हिन्दीपद्यानुवाद—

परम शुद्ध यह विश्व वृक्ष है।
वर्ण-मन्त्र-पद-तत्त्व-कलामय
भुवनात्मक छः अध्वजाल मय!
धरतीका मेयांश सुरभिमय
चेतन चिर चैतन्य भरित नित।

सच्चिदात्म आनन्दजगत्में
मन होता आप्यायित मेरा, वह प्रतीक्ष्य है।
परम शुद्ध यह विश्व वृक्ष है।
प्राण-बुद्धि का विलय करो तुम शून्य साममें
परमप्रमातासे अपनेको जोड़ो, उसे बुलाओ!
पा लो नव सामीप्य परम निष्कलका—
परभैरवका।
अभिनव गुप्त महामाहेश्वर
सभी अध्व आकलन कर रहा
सदा निभाता
अभिनव यह सम्बन्ध सनातन
अभिनेता यह भाव जगत्का
सदा शिक्ष्य है।
परम शुद्ध यह विश्ववृक्ष है।

यह संसार एक वृक्ष है। यह शाश्वत है। परम पवित्र है। इसमें वर्ण मन्त्र और पद नामक कालाध्वा और कला, तत्त्व तथा पुर (भुवन) नामक देशाध्वा है। छः अध्वामय इस प्रपञ्चको पहचानना परम आवश्यक है। यह पृथिवीका कुसुम—इसके सौन्दर्यका परिमल और इसके अस्तित्व की अवस्था सबको यह शिव ही धारणा करता है। चेतनाका वह आधार है। परम चैतन्यसे भरा हुआ है। उसी सच्चिदानन्दमें अपने मन, प्राण और बुद्धिका नियोजन कर योगके प्रत्येक क्षणको सफल बना लेना चाहिये।

वही निष्फल परभैरवनाथ सारे संसार-शरीरमें व्यक्त है। वही इसका निर्माण करता है। वही परम प्रमाता है। उसका सद्भाव आह्वान सन्निधान अभिनव गुप्तको प्राप्त है। इसलिए वह समर्थ भावसे सर्वाध्वकलन करता है। व्यवहारवादको निभाता है। जैसे एक अभिनेता अभिनव तत्त्वमें दक्ष होता है, उसी तरह अभिनगुप्त सदृश अभिनेता भी शिव तत्त्व-को धारण करता है।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तद्वारा विरचित
तन्त्रसारके कलाध्वप्रकाशननामक दशमआह्निकका
डॉ० परमहंसमिश्रद्वारा विरचित नोर-क्षीर-विवेक भाष्य
सम्पूर्ण शुभं-भूयात्

एकादशमाह्निकम्

तत्र यावत् इदम् उक्तम्, तत् साक्षात् कस्यचित् अपवर्गाप्तये यथोक्तसंग्रहनीत्या भवति, कस्यचित् वक्ष्यमाणदीक्षायाम् उपयोगगमनात् इति दीक्षादिकं वक्तव्यम् । तत्र कः अधिकारी इति निरूपणार्थं शक्तिपातो विचार्यते ।

यहां तक जो कुछ भी [संवित् के विषय में] कहा गया है वह सब साक्षात् किसीके अपवर्गका प्राप्तिके लिये संग्रहके नियमोंके अनुसार है। दीक्षा वक्ष्यमाण है। उसमें भी (उक्त कथन की) उपयोगिता है। अतएव दीक्षा और उससे सम्बन्धित विषय वर्णनीय हैं। दीक्षा में कौन अधिकारी है—इसके निरूपणके लिये शक्तिपातका विचार किया जाता है।

यहाँ तक संविद्के विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। इसका अनुशीलन आवश्यक है। भेदवादकी समाप्ति ही अपवर्ग है। भेद बुद्धि कार्य-कारण भावसे होती है। वास्तवमें 'संवित्' तत्त्व भेद-रहित है। जो भेद दीख पड़ता है, वह कारण-कार्यके क्रमिक उल्लाससे ही सम्भव है। यह जानना आवश्यक है कि, शक्तिपातदशामें कार्यमें नहीं, वरन् कारणमें ही भेद होता है। संवित् तत्त्वमें भेदकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कार्यका संग्रह भेदवादी दृष्टिकोण है। सबमें स्वात्मप्रकाशकी अनुभूति अपवर्ग है।

दीक्षामें शक्तिपातकी बड़ी उपयोगिता है। दीक्षाका अधिकारी कौन है ? इसके निरूपणके प्रसङ्गमें ही शक्तिपातके सम्बन्धमें विचार किया जा रहा है।

अत्र केचित् आहुः, ज्ञानाभावात् अज्ञानमूलः संसारः। तदपगमे ज्ञानोदयात् शक्तिपात इति तेषां सम्यक् ज्ञानोदय एव किंकृत इति वाच्यम्, कर्मजन्यत्वे कर्मफलवत् भोगत्वप्रसङ्गे भोगिनि च शक्तिपाताभिगतौ अतिप्रसङ्गः ।

ईश्वरेच्छा निमित्तत्वे तु ज्ञानोदयस्य अन्योन्याश्रयता वैयर्थ्यं च, ईश्वरे रागादिप्रसङ्गः, विरुद्धयोः कर्मणोः समबलयोः अन्योन्यप्रतिबन्धे कर्मसाम्यम्, ततः शक्तिपात इति चेत् न-क्रमिकत्वे विरोधायोगात्, विरोधेऽपि अन्यस्य अविरुद्धस्य कर्मणो भोगदानप्रसङ्गात्, अविरुद्धकर्माप्रवृत्तौ तदैव देहपातप्रसङ्गात् ।

इस विषयमें कुछ विचारक कहते हैं कि, ज्ञानाभावसे अज्ञानमूलक संसार [उत्पन्न] है। अज्ञानके अपगम हो जानेपर और ज्ञान के उदय हो जानेपर शक्तिपात [होता है]। प्रश्न है कि [इनविचारकोंके अनुसार] इनका सम्यक् ज्ञानोदय ही कैसे होता है ? कर्मजन्यत्व में कर्मफल की तरह और कर्मफलभोगके प्रसङ्गमें भोगोमेंभी शक्तिपातका अतिप्रसङ्ग [होगा]। ईश्वरेच्छाको कारण माननेपर ज्ञानके उदयमें अन्योन्याश्रयता, शक्तिपातकी व्यर्थता तथा ईश्वरमें राग [वृत्ति] का अतिप्रसङ्ग [होगा]। समानबलवाले दो विरुद्ध कामोंके अन्योन्य प्रतिबन्धमें कर्मसाम्य [की अवस्था] में भी शक्तिपात नहीं माना जा सकता। क्योंकि १-क्रमिकत्वमें विरोधका अभाव होता है। २-विरोध रहने पर भी अन्य अविरुद्ध कार्यके भोगका, दानका प्रसङ्ग होने लगेगा और ३-अविरुद्ध कर्मकी अप्रवृत्तिमें देहपातका भी प्रसङ्ग [आ उपस्थित हो सकता है]

संसार अज्ञान मूलक माना जाता है। ज्ञानके अभावको अज्ञान कहते हैं। अज्ञानके नष्ट हो जाने पर ज्ञानका उदय स्वाभाविक है। जिस साधकमें या दीक्षा योग्य शिष्यमें ज्ञान रूपी सर्यका अरुणोदय होगा-वही पात्र हो सकता है। ऐसे ज्ञानसे संवलित पुरुषपर ही शक्तिपात सम्भव है।

प्रश्न होता है कि, साधकों या शिष्योंमें सम्यक् ज्ञानका उदय ही कैसे होता है ? कर्त्तव्य कर्मकरनेसे कर्मफलकी उत्पत्ति होती है। विचारणीय है कि, कर्म तो क्षणिक होते हैं। फल भी क्षणिक होंगे। संस्कारके लिये धर्मका आश्रय लेते हैं। ऐसे धर्ममय शास्त्रविहितकर्मसे ज्ञानकी प्राप्ति मानी जा सकती है, किन्तु ऐसा मानने पर एक नया प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है। जैसे ज्ञानीमें शक्तिपात मानते हैं-उसी तरह शुभकर्मसे शुभ फल भोग होने पर भोगके अधिकारोमें भी शक्तिपात मानना पड़ेगा।

यदि यह अनुमान किया जाय[१] कि[२] ज्ञानोदयसे ही ईश्वरेच्छाका पता चलता है और ईश्वरकी इच्छासे कर्म, फलभोग और ज्ञान उत्पन्न होते हैं, तो यह दोनो बातें अन्योन्याश्रित हो जाती हैं। अतः दोनों बोध असिद्धवत् ही है। एक तरहसे व्यर्थ। दूसरी बात यह कि, ईश्वरमें राग आदि वृत्तियाँ माननी पड़ेंगी। वह क्यों किसीके प्रति सदय या निष्ठुर होगा ?

एक नया विचार कि, यदि दो विरुद्ध कर्मोंका प्रसङ्ग हो, भोगके क्रमानुसार अन्यकर्म क्षीण हो गये हों, आनेवाले कर्मभोग अभी उन्मुख न हों, उधर इन दोनोंमें समान बल हो–समानरूपसे दोनों एक दूसरेके प्रतिबन्धक हों–उस अवस्थामें कर्म साम्य हो जाता है। क्या कर्म साम्यकी[१] इस अवस्थामें कर्मफल-भोक्तापर शक्तिपात हो सकता है ?

उत्तर नकारात्मक है। वास्तवमें फल भोगमें क्रम होता है। एक क्षणमें दो कर्मोंका फल देना तर्कसे परेकी बात है। फलकी पारस्परिक प्रतिबन्धात्मकता व्यवहार विरुद्ध है[३]। यदि दो कर्मोंमें विरोध भी मान लिया जाय, तो जो भी अविरोधी कर्म होंगे, वे भी साथ फल देने लगेंगे और एक अनवस्था उत्पन्न हो जायेगी। यदि अविरोधी काम फल देनेमें प्रवृत्त न हों तो, एक और कठिनाई आ जायेगी। देहकी प्राप्ति कर्मफलके अनुसार होती है। देहसे ही कर्म-फलोंका भोग होता है। यदि फल प्रवृत्त न हों, तो देह पातका ही भय उपस्थित हो जायेगा। फलभोग ही नहीं, तो देहकी सत्ता किस लिये ? इस लिये यह मान लेना चाहिये कि, फल भोगकी क्रमिकता स्वाभाविक है और ऐसी अवस्थामें शक्तिपात असम्भव है।

जात्यायुष्प्रदं न प्रतिबद्धयते, भोगप्रदमेव प्रतिबद्धयते इति चेत्, कुतः–तत्कर्मसद्भावे यदि शक्तिः पतेत् तर्हि सा–भोगप्रदात् किं बिभियात्? अथ मलपरिपाके शक्तिपातः, सोऽपि किं रूपः? किंच तस्य निमित्तम्? इति एतेन वैराग्यं, धर्मविशेषो, विवेकः, सत्सेवा, सत्प्राप्तिः, देवपूजा इत्यादि हेतुः प्रत्युक्त इति भेदवादिनां सर्वम् असमञ्जसम्।

१. तं० १३।६७ २. तं० १३।७० ३. १३।९८-९९

'जन्म और आयु देने वाले कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते, भोग देने वाले ही प्रतिबन्धक होते हैं, ऐसा क्यों? कर्मके सद्भावमें यदि शक्तिपात होगा, तो भोगप्रद कर्मसे क्या शक्तिको कोई भय है? मलके पक जानेपर शक्तिपात [भी उलझनकी बात है। प्रश्न होगा कि, उसका स्वरूप क्या है? क्या उसका निमित्त है? इससे वैराग्य, धर्म विशेष, विवेक, साधु सेवा, सत्संग देवपूजा आदि कर्म भी [प्रश्न और तर्कके कठघरेमें खड़े हो जायेंगे] इस प्रकार भेद वादियोंके सारे तर्क कट जाते हैं।

जन्म और आयु भी कर्मोंके फल हैं। अन्य भोग भी कर्मोंके अनुसार ही प्राप्त होते हैं। किन्तु इन कर्मोंमें अन्तर है। इस लिये फलमें भी अन्तर होता है। जन्म और आयु देनेवाले कर्मोंके विषयमें यदि यह माना जाय कि, ये प्रति नियत नहीं रहते और अन्य भोगप्रद कर्म प्रतिनियत होते हैं—तो यह सिद्धान्त भी कसौटी पर खरा नहीं उतरता। किसी कर्मफलके रहते यदि शक्तिपात होता है तो, भोगदेने वाले अन्य कर्मोंसे शक्तिपात डरेगा क्या? वहाँ भी होना ही चाहिये। वस्तुतः जाति (जन्म) आयु या अन्य भोग ये तीनों एक ही थैलेके चट्टे बट्टे हैं। ज्ञानी भी मायाके द्वारा अपनेको बँधा अनुभव करते रहते हैं[1]

यदि मलका परिपाक हो जाय अर्थात् रौद्री शक्तिके द्वारा अज्ञान रूपी संसारके अंकुरका कारण समाप्त हो जाय तो, शक्तिपात कैसा होगा? अथवा मलके परिपाकका स्वरूप क्या होगा? मल तो अज्ञान है। अज्ञानके नष्ट होने पर सबकी समान रूपसे मुक्ति सम्भव हो जायेगी! यदि मलके परिपाकका अर्थ स्वशक्ति-प्रतिबद्धता हो, तब तो और भी गड़बड़ है। तब तो जैसे विष सबको विषाक्त करता है या अग्नि सबको जलाता है, उसी तरह मल परिपाक भी वही काम करेगा। इस दशामें भी शक्तिपात असम्भव है?

यदि शक्तिपातको कार्य माना जाय तो, प्रश्न होगा कि, इस कार्यका कारण कर्म है या ईश्वरकी इच्छा है? कर्म कारण नहीं हो सकते। क्योंकि कर्म तो फलरूप भोग ही प्रदान करते हैं। ईश्वरेच्छा--स्वतन्त्र

---

१. तं० १३।२३२–२३३

होती है। राग द्वेषसे परे होती है। वह सबके ऊपर शक्तिपात तो कर सकती है, एक पर क्यों करेगी। ईश्वरेच्छा परतन्त्र नहीं होती। बिना कारणके भी उसे माननेपर शक्तिपात रूप कार्य सम्भव कैसे हो सकता है।

इसी आधार पर वैराग्य, धर्मविशेष, विवेक, सत्सङ्ग, देवपूजा अभ्यास आदि सभी शक्तिपातके कारण नहीं माने जा सकते। इनमें भी स्वभावतः अनेकानेक दूषण विद्यमान हैं।[1] अतः ये सभी हेतु अमान्य हैं। भेदवादियों की बुद्धिकी बलिहारी है कि, वे इस तरह व्यभिचरित हेतुवादकी परिकल्पना करते हैं। इनमें, इनके तर्कोंमें, इनकी उक्तियोंमें कोई सामञ्जस्य है ही नहीं।

स्वतन्त्रपरमेश्वराद्वयवादे तु उपपद्यते एतत्, यथाहि परमेश्वरः स्वरूपाच्छादनक्रीडया पशुः पुद्गलः अणुः सम्पन्नः। न च तस्य देश-काल–स्वरूप–भेद–विरोधः। तद्वत् स्वरूपस्थगन-विनिवृत्या स्वरूपप्रत्यापत्तिं झटिति वा क्रमेण वा समाश्रयन् शक्तिपातपात्रम् अणुः उच्यते। स्वातन्त्र्यमात्रसारश्च असौ परमशिवः शक्तेः पातयिता इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः।

अभिनव गुप्तपादाचार्य शैवागमके अमृत सिद्धान्तकी यहाँ पुनः स्थापना कर रहे हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शनका सर्वमान्य सिद्धान्त परमेश्वराद्वयवाद है। इसके अनुसार परमशिव स्वातन्त्र्य सम्पन्न हैं। चिद्रूप स्वभावतः प्रकाश रूप हैं। सूर्य आदिके प्रकाशकी तरह जड़ प्रकाश नहीं, अपितु चिद्रूप चैतन्यके चमत्कारसे चमत्कृत है। अखिल संसारके उदय (सृष्टि) और लय (संहार) की क्रीडा करनेमें उन्हें बड़ा आनन्द आता है। अपने रूपको आच्छादित करनेका खेल भी उन्हें बड़ा प्रिय है। खेल ही खेलमें वे पशुपति से पशु, नित्य सत्त्वसे पुद्गल और विराट्से अणु बन जाते हैं। स्वातन्त्र्यके कारण सर्वव्यापम होनेके कारण उनमें देश, काल, स्वरूप सम्बन्धी कोई

---

१. तं०१३।९९-१०१

भेद होता ही नहीं। अभेदावस्थामें विरोधकी कल्पना ही कहाँ? स्वयम् आकार कल्पना कर लेना, विकल्पोंमें विलास करना, स्वात्मस्वातन्त्र्य शक्तिके बल पर कार्य मळमें लीन होना, विभिन्न जन्म, आयुष्य और भोगको स्वीकार कर लेना उनका खेल है।

इसी तरह शिव रूप स्थगन कर पशु तथा पशुरूपका स्थगन कर शिव बनना उनके बायें हाथका खेल है। इसमें क्रम और अक्रमका कोई प्रश्न ही नहीं। कभी झटिति और कभी क्रमिक! दोनों अवस्थाओंमें उन्हें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस तरह यह सिद्ध है कि, दोनों अवस्थाओं-में शक्तिपातका पात्र अणु ही है।[१] यह भी स्वयं सिद्ध है कि, स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्न परमेश्वर परमशिव ही शक्तिका एकमात्र पातयिता है। इसलिये यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि, शक्तिपात किसी हेतुकी अपेक्षा नही रखता। उसका फल 'स्व' रूपकी समुपलब्धि मात्र है।

यस्तु भोगोत्सुकस्य सकर्मापेक्षः, लोकोत्तररूपभोगोत्सुकस्य तु स एव शक्तिपातः परमेश्वरेच्छाप्रेरित–मायागर्भाधिकारीयरुद्रविष्णुब्रह्मादिद्वारेण, मन्त्रादिरूपत्वं मायापुंविवेकं, पुंस्कलाविवेकं, पुंप्रकृतिविवेकं, पुंबुद्धिविवेकं, अन्यच्च फलं प्रस्नुवानः तदधरतत्त्वभोगं प्रतिबध्नाति। भोगमोक्षोभयोत्सुकस्य भोगे कर्मापेक्षो, मोक्षे तु तन्निरपेक्षः इति सापेक्षनिरपेक्षः। न च वाच्यम्—कस्मात् कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति, स एव परमेश्वरः तथा भाति इति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदना इयम्?

जो शक्तिपात भोगके लिये उत्सुक व्यक्ति पर होता है, वह कर्मको अपेक्षा रखता है। जो साधक लोकोत्तर भोगमें उत्सुक है, उस पर परमेश्वरकी इच्छासे प्रेरित माया गर्भके अधिकारी रुद्र, विष्णु या ब्रह्माके द्वारा ही शक्तिपात होता है। मन्त्र, मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर आदि रूपता, माया पुरुष विवेक, पुरुष और कलाका विवेक, पुरुष

१. १३।१०३-१०५

और प्रकृतिका विवेक, पुरुष और बुद्धिका विवेक आदि फलोंको उत्पन्न करने वाला शक्तिपात उससे निम्नस्तरके भोगोंमें प्रतिबन्ध उपस्थित करता है।

भोग और मोक्ष दोनोंके लिए उत्सुक पुरुषोंमें भोगके लिये कर्मकी अपेक्षा, तथा मोक्षमें उत्सुक पुरुषको कर्मकी अपेक्षा नहीं होती परिणामतः शक्तिपात सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकारका होता है।

ऐसा नहीं कहना चाहिये कि, कहाँसे किसी एक पुरुषमें ही शक्तिपात हो जाता है। (यह जान लेना चाहिये कि,) वही परमेश्वर उस रूपमें अर्थात् शक्तिपात प्राप्तपुरुष रूपमें विभ्राजमान होता है। इस तात्त्विकताके सन्दर्भमें परमेश्वरके अतिरिक्त वह पुरुष अन्य नहीं, वही है। उसीके उद्‌देशसे इस विषयका प्रवर्त्तन भी हुआ है।

शक्तिपातकी विविध स्थितियोंका आकलन करते समय यह विचार आवश्यक है कि, अधिकारी पुरुषका स्तर क्या है १–क्या वह सांसारिक भोगोंमें उत्सुक है ? २–क्या वह लोकोत्तर भोगोंके लिये लालायित है ? ३–वह मन्त्र-मन्त्रेश्वर स्तरको पाना चाहता है ? ४—माया पुरुष, ५—पुरुष और कला, ६—पुरुष-प्रकृति, ७—पुरुष-बुद्धि आदि विवेकों का फल चाहता है ? इस प्रकार इन सातों प्रकारके साधकोंमें पहलेका शक्तिपात कर्मकी अपेक्षा रखता है। दूसरे स्तरका शक्तिपात माया गर्भाधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप त्रिदेवोंसे प्रेरित होता है। तीसरेसे सातवें स्तरतकके शक्तिपात अपनेसे निम्नस्तरीय फलोंके भोगोंका प्रतिबन्धक होता है। कुछ साधक भोग और मोक्ष दोनों प्रकारके सुखोंको चाहते हैं। इस अवस्थामें भोगांशमें तो कर्मकी अपेक्षा रखता है तथा मोक्षांश में कर्मसे निरपेक्ष होता है। इस प्रकार शक्तिपात सापेक्ष और निरपेक्ष दो प्रकारका हो जाता है।

किसी एक विशेष व्यक्ति पर कहाँसे शक्तिपात होता है—इस प्रकारका प्रश्न भी व्यर्थ है। वस्तुतः परमेश्वर शिव तो एक ही है। वही वहाँ उस रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करता है। उसके अतिरिक्त किसी अन्यकी उद्‌देश्यताकी आवश्यकता ही क्या है ?

स चायं शक्तिपातः नवधा। तीव्र-मध्य-मन्दस्य उत्कर्ष-माध्यस्थ्य-निकर्षैः पुनस्त्रैविध्यात्। तत्र उत्कृष्ट-तीव्रात् तदैव देहपाते परमेशता, मध्यतीव्रात् शास्त्राचार्यानपेक्षिणः स्वप्रत्ययस्य प्रातिभज्ञानोदयः यदुदये बाह्यसंकारं विनैव भोगापवर्गप्रदः प्रातिभो गुरुरित्युच्यते। तस्य हि न समय्यादिकल्पना काचित्।

शक्तिपातके नौ भेद हैं (१–तीव्र २–मध्य और ३–मन्द) १–तीव्र तीव्र २–तीव्र मध्य ३–तीव्र मन्द ४–मध्य तीव्र ५–मध्य मध्य और ६–मध्यमन्द ७–मन्दतीव्र ८–मन्दमध्य और ९–मन्द मन्द। तीव्र-तीव्र ही उत्कृष्ट तीव्र है। उत्कृष्ट-तीव्र शक्तिपात दशामें देहावसान होनेपर परमेश्वर स्वरूपता प्राप्त हो जाती है। मध्मतीव्र दशामें शास्त्र और आचार्यकी अपेक्षाके विना भी स्वप्रत्ययका प्रत्यभिज्ञान हो जाता है। इस प्रतिभाजन्यज्ञानके उदय हो जाने पर वह व्यक्ति किसी बाह्य, संस्कारके बिना ही भोग और मोक्ष रूप अनुग्रह करने वाला प्रातिभगुरुके रूपमें विख्यात हो जाता है[1]। उसका समयी होना न होना कोई अर्थ नहीं रखता।[2] 'समय' का पालन तो साधारण शिष्यके लिये आवश्यक है। ऐसे प्रातिभ गुरुका स्तर बहुत ऊपरका होता है।

अत्रापि तारतम्यसद्भावः—इच्छावैचित्र्यात् इति, सत्यपि प्रातिभत्वे शास्त्राद्यपेक्षया संवादाय स्यादपि, इति निर्भित्तिसभित्त्यादिबहुभेदत्वम्, आचार्यस्य प्रातिभस्य आगमेषूक्तम्, सर्वथा प्रतिभांशो बलीयान्—तत्सन्निधौ अन्येषामनधिकारात्। भेददर्शन इव अनादिशिवसन्निधौ मुक्तशिवानां सृष्टिलयादिकृत्येषु।

इस अवस्थामें तारतम्य (क्रमिकता) होती है या नहीं, इस प्रश्नका समाधान सकारात्मक है। इस दशामें भी तारतम्यकी सत्ता रहती है। इच्छाकी विचित्रताके कारण तारतम्य रहनेमें कोई बाधा नही होती।

१–तं० १३।१३०–१३२,१३८ २–तं० १३।१४०

प्रातिभ[1] ज्ञानके रहने पर भी शास्त्रकी अपेक्षा सम्भव है। अपनी अनुभूतिकी सत्यताकी कसौटी भी शास्त्र हो सकता है। यहाँ शास्त्र भित्तिका काम करते हैं। जहाँ शास्त्र भित्तिका काम करते हैं, वहाँ प्रातिभ गुरु सभित्तिक होता है। जहाँ किसी शास्त्रकी अपेक्षा न हो, वहाँ प्रातिभ गुरु निर्भित्तिक माना जाता है। यह आगमिक परम्पराके अनुकूल है और आगमोंमें कहा भी गया है।

गुरु और शास्त्रकी अपेक्षा प्रतिभांश बलवान होता है।[2] प्रातिभाज्ञान सम्पन्न श्रेष्ठ प्रातिभ गुरुके सामने किसी दूसरेका कोई अधिकार मान्य नहीं है। उसके सामने सभी अनधिकारी हैं। जुगनू रत्न तारे, चन्द्र सभी सूर्यके समक्ष अनधिकारी ही तो हैं।

इसीप्रकार मुक्तशिव और अनादिशिव इन दोनोंमें भी अनादि शिवके सामने मुक्ति प्राप्त शिवका भी सृष्टि, स्थिति और संहारमें कोई अधिकार नहीं है।

मन्दतीव्रात् शक्तिपातात् सद्गुरुविषया यियासा भवति, असद्गुरुविषयायां तु तिरोभाव एव, असद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव। सद्गुरुस्तु समस्तैतच्छास्त्रतत्त्वज्ञानपूर्णः साक्षात् भगवद्भैरवभट्टारक एव। योगिनोऽस्वभ्यस्तज्ञानतयैव मोचकत्वे तत्र योग्यत्वस्य सौभाग्यलावण्यादिमत्त्वस्येवानुपयोगात्। असद्गुरुस्तु अन्यः सर्व एव।

मन्दतीव्र शक्तिपातमें सद्गुरुके शरणमें जानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। साथ ही असद्गुरुकी ओर जानेकी इच्छाका तिरोभाव हो जाता है। असद्गुरुसे सद्गुरुकी शरण जाना शक्तिपातसे ही सम्भव है। सद्गुरु सारे शास्त्रोंके तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण साक्षात् भगवान् भैरव भट्टारक रूप होते हैं। योगी अभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञानके बलपर ही दूसरेको मुक्तकर सकते हैं। सौभाग्य और सौन्दर्य आदि गुण मुक्तिके लिये सर्वथा अनुपयोगी हैं। इनकी मोचकत्वमें क्या उपयोगिता हो सकती है। असद्गुरूके विषयमें क्या कहा जाय? वह मोचकके सिवा अन्य सब कुछ है।

१—तं० १३।२६६,१७५-१८६ २—तं० १३।१५६

एवं यियासुः गुरोः ज्ञानलक्षणां दीक्षां प्राप्नोति। यया सद्य एव मुक्तो भवति जीवन्नपि, अत्र अवलोकनात् कथनात्, शास्त्रसंबोधनात्, चर्यादर्शनात्, चरुदानात् इत्यादयो भेदाः। अभ्यासवतो वा तदानीं सद्य एव प्राणवियोजिकां दीक्षां लभते, सा तु मरणक्षण एव कार्या इति वक्ष्यामः इति तीव्रस्त्रिधा।

इस प्रकार गुरुकी शरणमें जानेकी इच्छा वाला गुरुसे ज्ञानलक्षणा दीक्षा प्राप्त करता है। ज्ञान-दीक्षासे वह तत्काल जीवन्मुक्त हो जाता है। दीक्षाके कई प्रकार हैं—१-देखने मात्रसे २-कथनमात्रसे, ३-शास्त्र संबोधनसे ४-चर्याके दिखलानेसे ५-चरुखिलाने आदिसे दीक्षा दी जाती है।

अभ्यासके द्वारा सिद्धि प्राप्त गुरुसे तत्क्षण प्राणवियोजिका दीक्षा होती है। ऐसी दीक्षा मरनेके समय दी जाती है—यह प्रकरण वश प्राप्त कही जायगी। इस प्रकार तीव्र शक्तिपात तीन प्रकारका होता है।

शक्तिपातके कारण असद्गुरुसे सद्गुरु शरणमें जानेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। ऐसे इच्छुक व्यक्तिको यियासु कहते हैं। यियासु सद्गुरुसे ज्ञानकी दीक्षा प्राप्त करता है। ज्ञान-दीक्षाका यह महत्त्व है कि, शिष्य जीते जी ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्त हो जाता है। दीक्षाके विभिन्न प्रकार अपनाये जाते हैं। कुछ गुरुजन अपनी दृष्टि मात्रसे शिष्यको दीक्षा दे देते हैं। गुरुने शिष्यको देखा-कृपा पूर्ण अवलोकन किया और दीक्षा सम्पन्न हुई।

कुछ लोग बात ही बातमें अपनी प्रक्रिया पूरी कर लेते हैं। शिष्यसे कुछ कहा और दीक्षा हो गयी। शास्त्र ज्ञानका उपदेश किया और दीक्षा दे दी—यह भी एक प्रकारकी दीक्षा ही है। शिष्यको सेवामें रख लिया। अपनी चर्या देखनेको कहा। कुछ दिनोंके चर्यादर्शन से ही दीक्षा पूरी हो गयी। हविष्य अन्न पका। उसमेंसे चरु खिलाया और दीक्षा पूरी। ये सब प्रक्रियायें दीक्षाकी हैं। गुरु पर निर्भर करता है कि, शिष्यकी योग्यता देखकर उसपर किस विधिका प्रयोग वह करता है।

जो अभ्यासके बलपर प्रणाचार प्रक्रियाका जानकार हो गया है, वह शिष्यके प्राणाचारके स्तरका अनुमान कर लेता है। ऐसा अभ्यासी गुरु ऐसी दीक्षा देनेमें समर्थ है, जिससे प्राणका वियोजन हो जाता है। यह प्राणवियोजिका दीक्षा कहलाती है। प्रायः ऐसी दीक्षा मरणासन्न शिष्यको ही दी जानी चाहिये। यह विषय पुनः आगे विचार करेंगे।

उत्कृष्टमध्यात् शक्तिपातात् कृतदीक्षाकोऽपि स्वात्मनः शिवतायां न तथा दृढप्रतिपत्तिः भवति, प्रतिपत्ति-परिपाकक्रमेण तु देहान्तेशिव एव। मध्यमध्यात्तु शिवतोत्सुकोऽपि भोगप्रेप्सुः भवति इति तथैव दीक्षायां ज्ञानभाजनम्। स च योगाभ्यसलब्धम् अनेनैव देहेन भोगं भुक्त्वा देहान्ते शिव एव। निकृष्टमध्यात्तु देहान्तरेण भोगं भुक्त्वा शिवत्त्वमेति। एवं मध्यस्तु त्रिधा।

तीव्र शक्तिपातके बाद मध्य शक्तिपातका वर्णन आरम्भ करते हैं। इसका पहला भेद है—उत्कृष्टमध्य। इस शक्तिपातसे दीक्षित किया हुआ शिष्य अपनी शिवतामें दृढ प्रतिपत्ति वाला नहीं होता। प्रतिपत्तिके परिपाक हो जाने पर क्रमशः देहावसान पर शिव ही (हो जाता है)।

मध्यमध्य शक्तिपात सम्बन्धित व्यक्ति शिवत्वकी ओर अग्रसर तो रहता है पर भोग प्राप्तिकी आकांक्षा उसमें बनी रहती है। दीक्षाके उपरांत वह ज्ञानका पात्र बन जाता है। क्रमशः योगाभ्यास करता हुआ एवम् उससे शक्ति प्राप्त करता हुआ इस देहसे भोगोंका आनन्द लेकर देहावसानके उपरान्त (यह साधक भी) शिव ही (हो जाता है।)

निकृष्टमध्य शक्तिपातके आधार पर वह देहान्तरसे भोगोंका उपभोग करता है। पुनः शिवत्वकी प्राप्ति कर लेता है। इस तरह मध्य भी तीन प्रकारका है।

उत्कृष्ट मध्य,[1] मध्यमध्य और निकृष्ट मध्य शक्तिपातोंके प्रभावसे उत्पन्न दशाओंको मनोवैज्ञानिक साधना क्रमका स्वरूप यहाँ दर्शित है। पहली अवस्थामें जीवनमें शिवतत्त्वकी दृढताका अभाव होता है। क्रमशः भावदार्ढ्य होने पर अन्तमें वह शिव रूप ही हो जाता है।

दूसरी अवस्थामें शिवत्त्वके प्रति उत्सुकता होती है पर भोगकी इच्छा भी बनी रहती है। दीक्षासे इसे ज्ञान होता है। योगाभ्याससे मिले ज्ञानसे इस देहसे भोग भोगता है। देहावसान होने पर शिवासारूप्य प्राप्त कर लेता है।

तीसरी अवस्थामें दूसरे शरीरसे भोग पूरा कर शिवत्त्वकी प्राप्तिकर लेता है। यह मध्य शक्तिपातकी तीन अवस्थायें हैं। साधक इनको जानता हुआ शैव पथमें अग्रसर होता है।

भोगोत्सुकता यदा प्रधानभूता तथा मन्दत्वम्। परमेश्वर-मन्त्रयोगादेश्च यतो मोक्षपर्यन्तत्वम्, अतः शक्तिपातरूपता। तत्रापि तारतम्यात् त्रैविध्यम्। इत्येष मुख्यः शक्तिपातः।[2]

भोगकी उत्सुकता जब प्रधान हो जाती है, तब मन्दत्व होता है। पारमेश्वर मन्त्रयोगके उपायके कारण उसमें उत्सुकता होती है। इस मन्त्रयोग आदि उपायोंसे मोक्ष पर्यन्त (गति होती है)। इसीलिये इसकी शक्तिपातरूपता (स्वीकार्य है) इसमें भी तारतम्य भावके कारण तीन प्रकार होते हैं। इस प्रकार तीन प्रकारके मुख्य शक्तिपात होते हैं।

मन्द शक्तिपात भी तीन प्रकारके होते हैं। १—तीव्रमन्द, २-मध्यमन्द और ३—निकृष्ट मन्द। तीव्रमन्द शक्तिपातका लक्षण है—भोगोत्सुकताकी प्रधानता। मानो भोग-भोगनेकी भूख-सी लगी रहे। ऐसा भूखा साधक लोकधर्मी होता है। परमेश्वर शिव सम्बन्धी मन्त्रयोगको ही यह साधक उपाय मान लेता है और मन्त्रयोगकी महत्ताको देखता हुआ उसमें उसकी और दूसरोंकी उत्सुकता बढ़ती जाती है।

---

१. तं० १३।२४०–२४३ २. तं० ११।२४४–२४५

यह ध्यान देनेकी बात है कि, पारमेश्वर मन्त्रयोगमें भी यह शक्ति है कि, वह मोक्ष तक पहुँचा दे। यही कारण है कि, इस दशाको भी शक्तिपात मान लिया गया है। इसमें भी तारतम्य है—निम्न-मध्य और उच्चके तीन स्तर हैं। अतएव मन्द शक्तिपात भी तीव्र, मध्य और मन्द भेदसे तीन प्रकारका होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि, कोई भी तीव्र, मध्य और मन्द शक्तिपात वाला लोकधर्मा पुरुष दीक्षाके बलसे विभिन्न यथेच्छ लोकोंमें भोगोंको भोग लेने पर शिवत्त्वकी प्राप्ति कर सकता है। सालोक्य सामीप्य सायुज्य दशाओंकी प्राप्तिका यही क्रम है। यह ज्ञान दीक्षाके बाद शिवत्त्वकी उपलब्धि करा देनेमें सक्षम है।

वैष्णवादीनां तु राजानुग्रहवत् न मोक्षान्तता इति न इह विवेचनम्। शिवशक्त्यधिष्ठानं तु सर्वत्र इति उक्तम्, सा परं ज्येष्ठा न भवति अपितु घोरा घोरतरा वा, स एष शक्तिपातो विचित्रोऽपि तारतम्य-वैचित्र्यात् भिद्यते। कश्चित् वैष्णवादिस्थ–समय्यादिक्रमेण स्रोतःपञ्चके च प्राप्तपरिपाकः सर्वोत्तीर्ण-भगवत्षडर्धशास्त्र परमाधिकारिताम् एति, अन्यस्तु उल्लङ्घन-क्रमेण अनन्तभेदेन, कोऽपि अक्रमम् इति। अतएव अधराधर–शासनस्था गुरवोऽपि इह मण्डलमात्र दर्शनेऽपि अनधिकारिणः। ऊर्ध्वशासनस्थस्तु गुरुः अधराधरशासनं प्रत्युत प्राणयति पूर्णत्वात् इति सर्वाधिकारी।

वैष्णवोंका शक्तिपात राजाकी कृपाके समान है।[1] उसमें न मोक्षका लक्ष है, न मोक्ष तक पहुँचानेका सामर्थ्य ही। अतः उसका विवेचन ही नहीं किया गया। शिव और शक्तिका[2] सर्वत्र अधिष्ठान है—यह बात कही गयी। शक्तिपात भी एक शक्ति है। वह परा ज्येष्ठा शक्ति ही नहीं अपितु घोरा या घोरतरा शक्ति भी है। तारतम्यकी विचित्रतासे यह भेद हो जाता है। वैष्णव मार्गमें स्थित कोई साधक 'समय' का

१. तं० १३।३१३

अनुपालन कर 'समयी' बनकर क्रमशः पञ्चस्रोतात्मक क्रममें परिपाक पाकर सबसे श्रेष्ठ ऐश्वर्य सम्पन्न त्रिकदर्शनका परमाधिकारी बन सकता है। दूसरा साधक भी एक-एक स्तर पार करता हुआ उल्लङ्घन क्रमसे अनन्त भेदोंसे (पार पाकर) अधिकारी बन पाता है। कोई ऐसा भी भाग्यशाली है, जो अक्रम रूपसे ही अधिकारी हो जाता है।

अधर-अधर (निम्न-निम्न) शासनमें शासित गुरु भी इस शास्त्रके दर्शनके अधिकारी नहीं हैं।[1] जो ऊर्ध्वशासनमें स्थित गुरु हैं—वे निम्न शासनके प्रेरक हैं, उनको प्रेरित करते हैं क्योंकि वे स्वयं पूर्ण हैं। अतएव वे सर्वाधिकारी हैं।

शक्तिपात सम्बन्धी संविदद्वैत रूप शैव सिद्धान्तमें वैष्णव आदि सम्प्रदायवादियोंका रञ्चमात्र भी अधिकार नहीं है। कारण स्पष्ट है। ये भेद-वादको प्रश्रय देते हैं। अद्वैतसे ये नितान्त वंचित हैं।[2] जैसे राजा किसी भक्त-विशेष पर कृपा करता है। वह व्यक्ति कृपा तो पा सकता है पर स्वयं राजा नहीं बन सकता। उसी तरह भेदवादी वैष्णव अद्वैत भूमि पर नहीं जा सकते। इसीलिए इनका विवेचन यहाँ प्रासङ्गिक नहीं है।

शिवशक्तिकी सर्वव्यापकताकी चर्चा अनेकशः की जा चुकी है। शक्तिपातमें शिवशक्तिका चिदधिष्ठान है। शक्तिपातकी सीमा शिवत्त्वकी प्राप्ति तक ही है। विष्णु आदिकी शक्तियाँ मोक्षप्रद नहीं हैं। इसलिये उनका परिगणन आवश्यक नहीं माना गया।

शिव-शक्ति ज्येष्ठा ही नहीं होती अपितु वह निर्मल शक्ति और अघोरा भी मानी जाती है।[3] घोरा और घोरतरा शक्तियाँ तब कहलाती हैं, जब विषयोंमें संलग्न अणुओंको और भी—आलिङ्गन बद्ध कर वे पतनकी ओर अग्रसर कर देती हैं। वैष्णवोंकी शक्तियोंका यही स्वरूप स्वयं सिद्ध है।

शक्तिपातमें तारतम्यका बड़ा महत्त्व है। तारतम्यके भेदसे ही समयी-दीक्षा, पुत्रक दीक्षा, आचार्य दीक्षा, भोगमें विलम्ब या शीघ्रता आदि घटित होते हैं।[4]

---

१. तं० १३।३५३ २. तं० १३।२८०–२८१, ३०८, ३१३, ३१६
३. ३।२५७ मा० वि० तं० ३।३१–३४ ४. १३।२९६–३०१

व्यक्ति मान लिया कि, पहले एक वैष्णव है अथवा अन्य द्वैतवादी मतोंसे प्रभावित है किन्तु यदि वह होत्री, योजनिका, समावेशवती, स्तोभात्मिका और सामरस्यमयी पाँच दीक्षाओंमें क्रमशः परिपक्व हो जाय, तो यह निश्चय है कि, और उसका सौभाग्य है कि, वह सर्वोत्कृष्ट भगवदनुग्रहके गौरवसे युक्त त्रिक (प्रत्यभिज्ञा) दर्शनकी आधिकारिकताको प्राप्त कर लेता है।

कोई दूसरे ऐसे भी साधक होते हैं, जो उल्लङ्घनके क्रमसे शैवशास्त्रों-का रहस्य जानकर साधक-मूर्धन्य बन जाते हैं। अन्य निम्नकोटिके शास्त्रोंके क्षुद्र सिद्धान्तोंका सद्गुरुसे प्राप्त ज्ञानके आधार पर उल्लंघन कर नया आलोक पा लेते हैं।

कुछ दूसरे साधक अक्रम रूपसे शाम्भव समावेश पा लेते हैं। ये बड़े ही भाग्यशाली साधक होते हैं। ऊर्ध्व अर्थात् सर्वोच्च 'षडर्ध सिद्धान्तोंका अधिकारी गुरु निम्न शासनोंमें प्राणका संचार कर देते हैं। पूर्णज्ञानके कारण वे सर्वाधिकारी हो जाते हैं। इसके विपरीत निम्न कोटिके मत-वादी गुरु ऊर्ध्वज्ञानकी परिधिका भी स्पर्श नहीं कर पाते।

स च दैशिको गुरुः, आचार्यो, दीक्षकः चुम्बकः स चायं पूर्णज्ञान एव सर्वोत्तमः, तेन बिना दीक्षाद्यसम्पत्तेः योगी तु फलोत्सुकस्य युक्तो यदि उपायोपदेशेन अव्यवहितमेव फलं दातुं शक्तः। उपायोपदेशेन तु ज्ञाने एव युक्तो मोक्षेऽपि अभ्युपायात्। ज्ञानपूर्णताकांक्षी च बहूनपि गुरून् कुर्यात्। उत्तमोत्तमादिज्ञान–भेदापेक्षया तेषु ते वर्त्तेत। सम्पूर्णज्ञान-गुरुत्यागे तु प्रायश्चित्तमेव।

और वह दैशिक, गुरु, आचार्य, दीक्षक और चुम्बक (रूपसे आदर प्राप्त करता है)। पूर्णज्ञानवान् गुरु ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। उसके बिना दीक्षा सम्पन्न नहीं हो सकती। योगी गुरु फलके लिये उत्सुक सामान्य साधकसे तभी अपना सम्बन्ध जोड़े, जब (उसको यह विश्वास हो कि) उपायोंके उपदेशसे ज्ञानवान् होनेके साथ ही साथ वह मोक्षका भी अधि-

कारी हो जाय ! ज्ञानकी पूर्णताको चाहने वाले साधक शिष्य (को चाहिये कि) वह बहुतसे गुरुजनोंसे विद्या प्राप्त करे। उत्तमोत्तम ज्ञान (को देखता हुआ) अपेक्षित रूपसे उनसे व्यवहार करे। सम्पूर्ण ज्ञानवान् गुरुका परित्याग नहीं करना चाहिये। अन्यथा प्रायश्चित्तका भागी बनना पड़ता है।

वाममार्गमें अभिषिक्त और परासंविद् तत्त्वका ज्ञाता व्यक्ति क्रम, कुल और त्रिक संस्कारोंसे सम्पन्न होकर 'दैशिक' होता है। 'गुरु' अधः स्थित वैष्णवादि मतवादी साधकोंका उद्धार कर सकता है। 'आचार्य'[1] उत्तरोत्तर ऊर्ध्व तत्त्वोंको जानता है। वह महान् तत्त्ववेत्ता होता है और शास्त्रके अनुशासनोंके अतिरिक्त भी स्वयं व्यवस्था देनेमें समर्थ होता है। 'दीक्षक' गुरु दीक्षा देता है और दीक्ष्यके मोक्षकी कामना करता है। 'चुम्बक' गुरूमें विशेष आकर्षण होता है। वह साधकके स्वरूपको, उसके मनको आकृष्ट कर लेता है। वह साधकके साथ चरुका प्राशन करता है और एक तरहसे उसकी वृत्तियोंको, उसके रूप को और नाम को अपने वाङ्मय प्रतीक मुखसे चूम लेता है।

अधर अधर (छोटे-छोटे विभिन्न मतवाद) शासनों में नयी प्रेरणा देकर शिष्योंको उत्कर्षकी ओर प्रवृत्त करने वाले पूर्णाधिकारी उक्त चार प्रकारके गुरु होते हैं। प्रथमतः प्रातिभ गुरुकी चर्चा हो चुकी है। सद्गुरुका विचार किया जा चुका है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, अधराधर शासनस्थगुरु कैसे अनधिकारी होते हैं।

तात्पर्य यह है कि, उक्त गुरु पूर्णज्ञानी होने चाहिये। पूर्णज्ञानी गुरुके विना दीक्षा हो ही नहीं सकती। योगी और गुरुका अन्तर स्पष्ट है। तत्काल फल चाहने वाले साधकको उपाय बताकर तुरत फल देनेमें समर्थ होता है। गुरु क्रमिक दीक्षा देता है। उपायका उपदेश भी एक महत्त्व पूर्ण कार्य है। उपायोंके बलपर और तो क्या मोक्ष भी मिल सकता है। इस लिये यह आवश्यक है कि, कोई व्यक्ति जो यह चाहता है कि, मुझे पूरा का पूरा ज्ञान मिले, उसे चाहिये कि, वह दत्तात्रेयकी तरह बहुतसे

---

१. स्व० आचार्य ४।४०८-४१९ गुरु-४।४८० चु०-४।५३८, ५४२ दैशिक स्त्र० ४।३९८-९९ पुत्रक साधक समयी ४।५४५

गुरुजनोंके सम्पर्कमें रहे। उन्हें अपना गुरु बनाये और उनसे क्रमशः ज्ञान विज्ञानकी दीक्षा ले। यह देखा ही जाता है कि, मकरन्द रस लोलुप भ्रमर एक फूलसे दूसरे फूल पर रस-यात्रा करता ही है। उसी तरह ज्ञान विज्ञानको चाहने वाला शिष्य एक गुरुसे नहीं अपि अनेक गुरुओं, देशिकों, आचार्यो दीक्षकों और चुम्बकोंसे शिवाद्वय तत्त्व-विज्ञान जान ले।

यह ध्यान देनेकी बात है कि पूरा ज्ञानवान् गुरु प्राप्त हो जाय और उससे ज्ञान सीखना शुरू किया जाय किन्तु बीचमें ही उसको छोड़ न दिया जाय। इससे दो बातें होती हैं। १—अपना ज्ञान अधूरा रह जाता है। २—गुरुका अपमान होता है। इसलिये बीचमें किसी गुरुका परित्याग मूर्खता है। ऐसा करने पर प्रायश्चित्त होता है। गुरुमें अन्यथा बुद्धिसे घोर नरककी प्राप्ति भी सम्भव हैं।[१]

निष्कर्षतः यहाँ चार बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है।

१—पूर्णज्ञानवान् गुरु दैशिक आचार्य दीक्षक और चुम्बक भेदसे चार प्रकारका होता है। प्रातिभगुरुका भी बड़ा महत्त्व है।

२—योगी और गुरुमें बड़ा अन्तर होता है।

३—ज्ञान प्राप्तिके लिये कई गुरुजनोंको गुरु बनाना वैध है।[२]

४—गुरु बनाकर बिना पूरा ज्ञान प्राप्त किये गुरुका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये।

ननु सोऽपि अब्रुवन् विपरीतं वाब्रुवन् किं न त्याज्यः, नैव इति ब्रूमः। तस्य हि पूर्णज्ञानत्वात् एव रागाद्यभावः इति अवचनादिकं शिष्यगतेनैव केनचित् अयोग्यत्वानाश्वस्तत्वा-निमित्तेन स्यात्। तदुपासने यतनीयं शिष्येण, न तत्त्यागे। एवम् अनुग्रह-निमित्तं शक्तिपातो निरपेक्ष एव कर्मादिनियत्य-पेक्षणात्।

(गुरुके परित्यागके सम्बन्धमें एक प्रश्न है) क्या गुरु कुछ बोले ही न, या उपदेश ही न दे अथवा कुछ उल्टीपल्टी बात ही करने लगे तो क्या वह त्याज्य नहीं है? इस पर ग्रन्थकार अपनी सम्मति दे रहे हैं—समाधान कर रहे हैं और अपना प्रबल पक्ष उपस्थित कर रहे हैं।

१–तं०, १३।३०९-१० स्व ४।४१४-४१६ २-तं० १३।३२२, ३४९

गुरु पूर्ण ज्ञानी होता है। उसमें किसी प्रकारके दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। उसमें राग द्वेषका भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस लिये उसका न बोलना, उपदेश न देना या विपरीत कुछ बोल देना, इस प्रकारका तथाकथित दोष गुरुका नहीं माना जा सकता। यह तो शिष्यका दोष है। हो सकता है शिष्य ही अयोग्य हो, आश्वासन देनेके बावजूद वह आश्वस्त न होता हो, विनम्र एवम् आस्थावान् न हो और गुरु उपदेश देनेके स्थान पर मौन हो जाँय या समझानेके लिये कुछ डाँट दें तो क्या यह गुरुका दोष माना जायगा ? नहीं। इसलिए यह निश्चय है कि गुरुकी उपासनामें रहनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। उसके परित्याग की बात भी नहीं सोचनी चाहिये।

शक्तिपात यदि अनुग्रहके आधार पर होता है, तो वह निरपेक्ष माना जाता है। कर्मफल आश्रयमें सृष्टि, स्थिति, संहार आदि अवान्तर फल होते हैं। नियतिके द्वारा ही यह फल होते हैं। इसलिए यह जानना चाहिये कि, नियति की वहाँ अपेक्षा होती है[1] पर अनुग्रहमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती।

तिरोभाव इति, तिरोभावो हि कर्माद्यपेक्ष गाढदुःख-मोह भागित्वफलः। यथाहि—प्रकाशस्वातन्त्र्यात् प्रबुद्धोऽपि मूढवत् चेष्टते, हृदये च मूढचेष्टां निन्दति, तथामूढोऽपि प्रबुद्धचेष्टां मन्त्राराधनादिकां कुर्यात्, निन्देच्च! यथा च अस्य मूढचेष्टा क्रियमाणापि प्रबुद्धस्य ध्वंसम् एति तथा अस्य प्रबुद्धचेष्टा, सा तु निन्द्यमाना-निषिद्धाचरणरूपत्वात् स्वयं च तयैव विशङ्कमानत्वात् एनं दुःखमोहपङ्के निमज्जयति, न तु उत्पन्नशक्तिपातस्य तिरोभावोऽस्ति। अत्रापि च कर्माद्यपेक्षा पूर्ववत् निषेद्धया।

१—तं० १४।२६

परमेश्वरके ५ कृत्य हैं—१-सृष्टि २-स्थिति ३-संहार, ४-तिरोधान और ५-अनुग्रह। महेश्वर कर्म और फलके अनुसार नियतिका आश्रय कर पहले तीन काम करता है। अनुग्रहके विषयमें भी यह स्पष्ट है कि, वह कर्म निरपेक्ष होता है। रह गया तिरोभाव।

तिरोभाव भी कर्मकी अपेक्षा रखता है। साधक गहरे गंभीर दुःख और मोहका फल प्राप्त करता हैं। यह विचित्र बात है कि, महेश्वर अपने स्वरूपका आच्छादन करता है। कर्मफलोंके आधार पर नाना प्रकारके दुःखोंका भोग करता है। इससे भी भयङ्कर स्थिति तब आती है, जब वही अपनी वास्तविकताको भी छिपाकर कुछका कुछ दिखता है। कभी प्रबुद्ध होते हुए भी मूर्खोंकी तरह आचरण करता है कि, लोग हमें न जानें और हृदयसे मूढचेष्टाकी निन्दा करता रहता है। यह दोहरा व्यापार ठीक नहीं होता। कभी अबोधताको छिपाकर अपनेको सिद्धके रूपमें प्रदर्शित करता है। मन्त्रोंका अनधिकारिक जप और झूठी आराधना करता है। और दूसरोंकी निन्दा भी करता है।

जब वह मूढचेष्टा करता है, तो प्रबुद्धताका ध्वंस होता है। और प्रबुद्धचेष्टा करने पर भी वह ध्वसं वहाँ बना ही रहता है क्योंकि वहाँ तो उसका स्वरूप ही ध्वस्त होता रहता है। यह स्थिति निन्दाके योग्य है। क्योंकि ऐसा आचरण हो निषिद्ध है—और वही वह करता है, जो नहीं करना चाहिये। स्वयम् उससे भयभीत भी रहता है। मनमें शङ्का बनी रहती है कि, एक आवाज उठती है कि, यह मुझे नहीं करना चाहिये। यही शङ्का उसे ले डूबती है और दुःखके मोह गर्त्तमें गिरा देतो है।

यह सारी स्थिति तिरोभावकी है। स्वरूपका ही तिरोधाव ! इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि, यह चारों अवस्थायें, सापेक्ष हैं। यहाँ तक नियतिका आश्रय महेश्वर करता है। जहाँ तक अनुग्रहका प्रश्न है, केवल वही निरपेक्ष है। जिस स्वरूपाच्छादित पुरुषपर शक्तिपात हो गया—उसका उद्धार हो गया ? उसका फिर तिरोभाव नहीं हो सकता। इस लिये इन ५ पाँच कार्योमें सर्वश्रेष्ठ अनुग्रह ही माना जाता है। इसमें कर्म फल आदिकी अपेक्षा नहीं होती। पहले की तरह ही यहाँ उसका निषेध है।

तत्रापि च इच्छावैचित्र्यात् एतद्देहमात्रोपभोग्यदुःखफलत्वं वा दीक्षा समयचर्या गुरुदेवाग्न्यादौ सेवानिन्दनोभयप्रसक्ता-नामिव प्राक् शिवशासनस्थानां तत्त्यागिनामिव। तत्रापि इच्छावैचित्र्यात् तिरोभूतोऽपि स्वयं वा शक्तिपातेन युज्यते, मृतो वा बन्धुगुर्वादिकृपामुखेन, इत्येवं पञ्चकृत्यभागित्वं स्वात्मनि अनुसंदधत् परमेश्वर एव, इति न खण्डितमात्मानं पश्येत्।

वहाँ भी इच्छाके वैचित्र्यसे इस देहमात्रसे उपभोग्य दुःख फलत्व, अथवा दीक्षा, समय चर्या, गुरुदेव और अग्नि आदिमें सेवा और निन्दा दोन प्रकारके भावोंमें लगे रहना वैसा ही है, जैसे पहले शिवशासनमें होना, पुनः उसका परित्याग कर देना। इसमें भी इच्छाकी विचित्रताके कारण तिरोधानकी स्थितिमें रहता हुआ भी स्वयं शक्तिपातसे समन्वित हो जाता है। मृत होने पर भी बन्धु-गुरु आदिके द्वारा भी शक्तिपातसे संयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार पञ्चकृत्यकारी परमेश्वरकी तरह अपनेको भी पाँचकृत्य करने वाला मानना चाहिये। यह अनुसंधान निरन्तर होना चाहिये कि, स्वयं मैं ही परमेश्वर हूँ और मैं ही यह सारा पंचकृत्य कर रहा हूँ। कभी भी आत्माको खण्डित नहीं मानना चाहिये।

यहाँ इच्छा शक्तिके प्राधान्यका वर्णन है। इच्छाकी विचित्रतासे ही इस शरीरसे भोगे जाने वाले सारे भोग योग्य फल मिलते हैं। दीक्षा प्राप्त होती है। समयीकी चर्या मिलती है। गुरुदेव और अग्निकी सेवाका भाव उत्पन्न होता है। साथ ही उनमें निन्दाकी विपरीत मनोवृत्ति भी उत्पन्न होती है। कोई शैव मार्गके सिद्धान्तका समर्थक है, वही दूसरे मार्गको अपनाकर इसे छोड़ देता है। ये सारी बातें इच्छाकी विचित्रता को ही सिद्ध करती हैं।

यह इच्छाका ही प्रभाव है कि, तिरोधान अवस्थामें रहनेवाला शक्ति-पातसे समन्वित हो जाता है। मरनेपर बन्धुओं द्वारा उसके लिये गुरु-परमेश्वरकी आराधना कर उस स्वर्गीय पुरुषको भी शक्तिपात संयुक्त करनेकी प्रक्रिया अपनायी जाती है।

यह सारे विचार पंचकृत्यकी महत्ता बतलाते हैं। यह मैं स्वयम् परमेश्वर हूँ। अपनी ही इच्छासे मैं सारी स्थितियोंका आनन्द लेता हूँ। यह सोचना चाहिये। स्वात्मानुसंधान करनेसे अखण्ड परमेश्वर बोध अवश्यम्भावी है।

यथा निरर्गलस्वात्मस्वातन्त्र्यात्परमेश्वरः।
आच्छादयेन्निजं धाम तथा विवृणुयादपि ॥
अप्रबुद्धेऽपि वा धाम्नि स्वस्मिन् बुद्धवदाचरेत्।
भूयो बुद्ध्येत वा सोऽयं शक्तिपातोऽनपेक्षकः ॥

जैसे अर्गला (बन्धन) रहित स्वात्म (अपनी) स्वातन्त्र्यात्-स्वतन्त्रतासे परमेश्वर अपने तेजको आच्छादित कर लेता है, उसी तरह अपनी स्वतन्त्रतासे उसे आवरण-रहित भी कर लेता है।

इच्छा स्वातन्त्र्यसे ही अप्रबोधकी अवस्थामें प्रबुद्धवत् आचरण करता है। पुनः बोधमय हो जाता है। वही यह परमेश्वरका स्वातन्त्र्य है। वह यह अनुग्रह रूप शक्तिपात है, जिसमें किसीकी अपेक्षा नहीं है।

इस श्लोकमें भी पंचकृत्यका विश्लेषण है। स्वात्मस्वातन्त्र्यकी महत्ता सिद्धकी गयी हैं। परमेश्वरकी अपनी स्वतन्त्रताकी महान् शक्ति है। इसको कोई अर्गला (लोहेकी जंजीर) बाँध नहीं सकती। वह निरर्गल है। अपनी इच्छासे ही अपने प्रकाश स्वरूपको वह ढक लेता है। वही सृष्टि-स्थिति और संहारमें कर्म फलका सापेक्ष भोग करता है।

तिरोधानकी अवस्थामें अप्रबुद्ध रहने पर भी प्रबुद्धताके आडम्बरकी विडम्बना करता है। फिर वही अनुग्रह की दशामें स्वयं प्रकाशमय हो जाता है। यह वही शक्तिपात है। यह निरपेक्ष है। फल-भोगमें कर्मफलकी अपेक्षा रहती है। यहाँ किसीकी कोई अपेक्षा नहीं। यही अनुसन्धान सबको करना चाहिये।

जह निअझंउ महेसरु अच्छत्रवि संविरवितह।
पुणुस अत्ति विपर पसरु अच्छइ विमल सरूइ॥

संस्कृत छाया—

यद्वा निरर्गलः महेश्वरः आच्छादयति स्वं विवृत्तये

पुनः स अतिविपुलप्रसरः अर्च्यते विमलस्वरूपः ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे शक्तिपातप्रकाशनं नाम एकादशमाह्निकम् ॥११॥

जैसे अर्गलारहित महेश्वर अपने रूपका आच्छादन करता है-वही उसका आवरण भी समाप्त करता है। अत्यन्त विपुलप्रसारवाला वह महेश्वर अपने निर्मल रूपमें शाश्वत रूपसे अर्चित है।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके शक्तिप्रकाशन नामक ग्यारहवें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र कृत नीरक्षीर-विवेक भाष्य सम्पूर्ण, शुभं भूयात् ॥

द्वादशमाह्निकम्

दीक्षादिकम् वक्तव्यम् इति उक्तम्, अतो दीक्षास्वरूपनिरूपणार्थं प्राक्कर्त्तव्यं स्नानम् उपदिश्यते। स्नानं च शुद्धता उच्यते। शुद्धता च परमेश्वरस्वरूप समावेशः। कालुष्यापगमो हि शुद्धिः। कालुष्यं च तदेकरूपेऽपि अतत्स्वभावरूपान्तर-संवलनाभिमानः।

दीक्षादिके सम्बन्धमें वक्तव्य बातें कहीं गयीं। अब दीक्षाके स्वरूप का निर्णय आवश्यक है। इसमें पहले कर्त्तव्यके रूपमें स्नानका उपदेश किया जा रहा है। स्नान शुद्धताको कहतेहैं। शुद्धता परमेश्वरके स्वरूप में समावेशको ही कहतेहैं। कालुष्यके अपगमका नाम शुद्धि है। परमेश्वरके एक रूप होने पर भी उसके स्वभावके विपरीत रूपान्तर संवलित होनेके अभिमानको कालुष्य कहते हैं।

गुरुपरम्परासे चलने वाले सभी मतवादोंमें समान दीक्षाका महत्त्व है। शैव दर्शन की परम्परा भी इसका अपवाद नहीं है। उसका स्वरूप क्या है–इसका निरूपण आवश्यक है। दीक्षाका पहला कर्त्तव्य है-'स्नान' स्नान जो नित्य किया जाता है–वह एक दैनिक चर्या विधि है किन्तु दीक्षा-के समयके स्नानका बड़ा महत्त्व है। यह दीक्षाके कर्म काण्डका पहला कर्त्तव्य है। मन्त्रसे दीप्त अन्तः करणमें डुबकी लगाना ही स्नान है।[1]

स्नानका लक्ष्य शुद्धता है। स्नानसे शुद्धता होती है। शुद्धताके अनेक स्वरूप हैं और इसकी अनेक परिभाषायें की जा सकती हैं। इस दर्शनके अनुसार परमेश्वरके 'स्व' रूपमें समावेश ही शुद्धता मानी जाती है, जबतक मनमें या तनमें किसी प्रकारकी कलुषता रहती है, तब तक व्यक्ति शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये कालुष्य (दूषण-पापभाव) का दूर होना ही वास्तविक शुद्धि मानी जाती है। शुद्धिकी परिभाषा है–दोषका अभाव।

---

१. तं० १५।४७-६१ मा० वि० तन्त्र ८।६

प्रश्न होता है कि, इस दर्शनके अनुसार 'कालुष्य' है क्या ? हेयके प्रति आकर्षण ही कालुष्य है। परमेश्वर परम शिवका मात्र एक ही रूप है। यदि कोई उसके विपरीत अनन्त रूपान्तरोंकी कलना करता है, तो यह उसके वास्तविक स्वरूपके विपरीत होता है। फिर भी 'स्व' रूपसे अपरिचित लोग ऐसा करते हैं। उन्हें इस प्रकारका अभिमान ही हो जाता है। रूपान्तरसे सम्वलित अहंभाव ही कालुष्य है।

तदिह स्वतन्त्रानन्दचिन्मात्र-सारे स्वात्मनि विश्वत्रापि वा तदन्यरूपसंवलनाभिमानः अशुद्धिः। सा च महाभैरव समावेशेन व्यपोह्यते। सोऽपि कस्यचित् झटिति भवेत्, कस्यापि उपायान्तरमुखप्रेक्षी। तत्रापि एकद्वित्र्यादिभेदेन समस्तव्यस्ततया क्वचित् कस्यचित् कदाचित च तथा आश्वासोपलब्धेः विचित्रो भेदः। स च अष्टधा—क्षिति जलपवन हुताशनाकाश–सोम सूर्यात्मरूपासु अष्टासु मूर्त्तिषु[१] मन्त्रन्यास महिम्ना परमेश्वर रूपतया भावितासु तादात्म्येन च देहे परमेश्वर समाविष्टे शरीरादिविभागवृत्तेः चैतन्यस्यापि परमेश्वर समावेश-प्राप्तिः।

तो यहाँ स्वतन्त्र आनन्द-चिन्मात्र-सार स्वात्म तत्त्वमें अथवा विश्व में भी उसके अन्य रूपके संवलनका अभिमान ही अशुद्धि है। यह महाभैरव समावेशसे ही दूर की जाती है। यह (व्यपोहन भी) किसीका तुरत हो जाता है। किसीकी अशुद्धिका व्यपोहन उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है।

यहाँ भी एक दो तीन आदि भेदसे, समस्त-व्यस्त भावसे,कहीं, किसी का, किसी समय, उस प्रकारके आश्वासनकी उपलब्धिके कारण विचित्र भेद [होते हैं] यह (मुख्य रूप से) आठ हैं–पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सोम, सूर्य और आत्म अर्थात् दीक्ष्य साधकका

---

१ तोडल तन्त्र ५।२४-३५

आत्मैक्य। (यजमान) मन्त्रन्यासकी महिमासे परमेश्वर रूपमें भावित इन आठों मूर्तियोंमें तादात्म्यसे देहके परमेश्वर समावेश प्राप्त कर लेने पर शरीर आदि विभागकी वृत्तियोंमें (रहने वाले) चैतन्य (ज्ञान) का भी परमेश्वरमें समावेश हो जाता है। शिवकी आठमूर्तियोंके क्रमसे ही आठ प्रकारके स्नान की दीक्षा शास्त्रमें निर्धारित हैं।

शुद्धि और अशुद्धि दोनो परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। सामान्य दृष्टिसे यह कह सकते हैं कि, शुद्धिका अभाव अशुद्धि है। प्रश्न है कि, शुद्धि क्या है?[1] तन्त्रदर्शनके अनुसार स्वतन्त्र आनन्द चिन्मात्र सार स्वात्म तत्त्वका प्रत्यभिज्ञान ही शुद्धि है। इसके विपरीत इसमें अन्य अन्य पृथक् पृथक् भेदवादी रूपाभिमान की भावना ही अशुद्धि है। इस अशुद्धिको हटाकर शुद्ध आत्म रसका पान करना ही लक्ष्य है। यह रस जिसको थोड़ा भी मिल जाय; तो उस आनन्दके सामने समाधि, योग, व्रत, मन्त्र, मुद्रा, जप आदि चर्याके सुख तुच्छ हैं–विष की तरह है'[2]। यह स्पष्ट है कि, इस अशुद्धिका निराकरण महा भैरव समावेशसे ही हो सकता है।[3]

जहाँ तक भैरव समावेशका प्रश्न है—किसीको (संस्कारतः) तत्काल हो जाता है और किसीको अनेक अनेक उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। उपायोंमें भी किसी को एकही उपायसे, किसीको दो या कई उपायों का आश्रय लेना पड़ता है। किसी को मिले जुले उपायों से कहीं कदाचित् तुरत भैरव समावेश हो जाय-उस साधकको जीवनका परमोच्च आश्वासन मिल जाय—और उसे अनुग्रह की उपलब्धि हो जाय, तो उसकी अशुद्धिका निराकरण सहज हो जाता है। यह उन्मनाके आचरणके समान शुद्धात्मा बन जाता है।[4] भैरवकी आठ मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके आगमिक और पौराणिक रूपोंमें बड़ा अन्तर है। कालिदासने अभिज्ञान शाकुन्तलके प्रथम श्लोक में पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, तेज, सोम सूर्य और यजमानको अष्टमूर्ति शिव माना है। गीतामें अष्टधा प्रकृतिके प्रसङ्ग में भी पञ्चमहाभूत, बल, बुद्धि और अहंकार ये आठ भेद गिनाये हैं। स्वच्छन्द तन्त्रमें भी पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों के अधिष्ठाता–देवताओं के साथ व्यापिनी, समना और उन्मना को मिलाकर

---

१. तन्त्रसार प्र० खण्ड पृ० १४५–१४६ २. तं० ३।२७०, २८९–२९०

३. तं० ३।२५७ ४. स्व० ५।८३

आठ शिवकी महास्थितियाँ मान्य हैं।[1] तन्त्रसारमें भी पृथ्व्यप्तेजवाय्वाकाश सोम सूर्य और आत्म रूप आठ शिवकी मूर्तियाँ स्वीकृत हैं। इनमें मन्त्रन्यासकी प्रक्रिया आवश्यक होती है। इस न्यास प्रक्रियाके बाद सबमें परमेश्वरका रूप ही प्रत्यक्ष होने लगता है। फिर उससे तादात्म्यकी अनुभूति होती है। फिर शरीरमें भी परमेश्वरका समावेश होने लगता है। यह साधनाका क्रम है। समस्त अंग प्रत्यङ्गमें अणु परमाणुमें शिवत्त्वका बोध हो जाता है। तादात्म्य और समावेश जिस साधकके सिद्ध हो जाते हैं—वह चै न्यकी प्रतिमूर्त्ति बन जाता है। हमारी सारी भेदवादिताकी चेतना समावेशमें बदल जाती है और शिवत्त्वकी उपलब्धि हो जाती है। आठ मूर्तियोंके क्रमसे आठ प्रकारके स्नान भी वर्णित हैं।[2] इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, समावेशसे प्राप्त परानन्द चमत्कारको ही स्नान कहते है।

कस्यापि तु स्नानवस्त्रादितुष्टिजनकत्वात् परमेशोयतामेतीति। उक्तं च श्रीमदानन्दादौ धृतिः, आप्यायो, वीर्यं मलदाहो, व्याप्तिः, सृष्टिसामर्थ्यं स्थितिसामर्थ्यम् अभेदश्च इत्येतानि तेषु मुख्यफलानि-तेषु तेषु उपाहितस्य मन्त्रस्य तत्तद्रूपधारित्वात्।

दीक्ष्य शिष्यको दीक्षा देनेके समय स्नान कराया गया। वस्त्र पहनाया गया। अन्यविधान हुए। उसे तुष्टि हुई। ये सारे उपाय उसकी तुष्टिके लिये ही किये जाते हैं। इन उपायों को परमेश्वर प्राप्ति के उपाय मानते हैं। श्रीमदानन्द[3] आदि [ग्रन्थों में] वर्णित है कि, धृति, तृप्ति, वीर्य, मल का दाह, व्याप्ति, सृष्टि की शक्ति, स्थितशक्ति और अभेद ये [अष्टमूर्तियोंके क्रमसे आठ स्नानोंके] मुख्य फल हैं।[4]

उन उन [मूर्तियों में] समाहित मुनि उन उन रूपोंको धारण करता हुआ—परानन्द चमत्कार सम्पन्न हो जाता है।

शिष्यकी योग्यताकी परीक्षा ली गयी। वह उसमें उत्तीर्ण हो गया। शिवत्त्व प्रदान करने वाले स्वातन्त्र्य-समावेश-समर्थ गुरुदेवने बाह्य और आन्तर उपायोंके द्वारा आत्यन्तिक शुद्धिकी ओर अग्रसर होनेके लिये

---

१. स्व०५।७१
२. तं० १५।६१-७९, नि० तन्त्र १५।२२
३. तं० १५।५४
४. तं० १५।६२

शिष्यको प्रेरित किया। हृदयमें मन्त्रका मनन करते हुए शिष्यने सर्वप्रथम गायके खुरोंकी धूलसे स्नान किया। यह पार्थिव स्नान है। इससे 'धृति' आती है। पञ्चाङ्गसे मिश्रित जलसे स्नान हुआ। इससे 'आप्याय' अर्थात् तृप्ति होती है। संवित् तत्त्वमें तन्मयतासे तृप्ति होती है। शिर, मुंह, हृदय, गुह्य और पैर इन पाँचों अङ्गोंमें मन्त्रोंसे प्रेरित भस्म लगाया गया। यह 'तैजस' स्नान हुआ। इससे 'वीर्य' (प्राण) की पुष्टि हुई। मन्त्र जपते हुए गाय खुरकी धूलिसे धूसरित वायुमें चलना (जाने-आनेकी क्रिया) वायु स्नान हुआ। आकाशसे गिरते हुए जलमें भस्म युक्त शरीरका आर्द्रीकरण आकाशीय स्नान हुआ। इन क्रियाओंसे 'मलके दाह' और 'व्याप्ति' (व्यापकताकी शक्ति) दोनोंकी शक्ति आती है। इस प्रकार चाँदनीमें शिव भावनासे बैठना, सूर्यकी तपती दुपहरीमें धूप लेते हुए शिवत्वकी भावना करना 'सोम-सूर्य' स्नान है। इसमें सृष्टि और स्थितिकी शक्तियोंका सन्निधान होता है। क्योंकि सोम सृष्टिका और सूर्य स्थिति का प्रतीक है। अन्तिम आठवाँ स्नान है—'अभेद' स्नान 'आत्मा' ही परमशिव है। एक ऐसा महा समुद्र है, जिसमें विश्वको डुबाया जाता है। शिव रूपतामें सभी कुछ आत्मसात् हो जाता है। ये आठ स्नान और इनके आठ प्रकारके फल हैं। मन्त्रके बलके द्वारा इन आठों स्नानोंमें आठों प्रकारकी भावनाओंसे एक प्रकारका समावेश होता है। फलतः उन-उन रूपोंके धारण करनेकी शक्ति मिलती है। साधक उत्कर्षकी ओर अग्रसर हो जाता है।

वीरोद्देशेन तु विशेषः। तद्यथा—रणरेणुः, वीराम्भः, महामरुत्, श्मशाननभः, तदुपहितौ चन्द्रार्कौ, आत्मा निर्विकल्पकः। पुनरपि बाह्याभ्यन्तरतया द्वित्वम्। बहिरुपास्य मन्त्रतादात्म्येन तन्मयीकृते तत्र तत्र निमज्जनमित्युक्तम्।

वीरसाधनमें विशेष क्रम है। वहाँ धरा रण रेणु है। जल वीराम्भ [शिवाम्बु] है। मरुत् श्मशान का धूआ भरा वायु है। आकाश श्मशानका आकाश है। अग्नि श्मशान का भस्म है। उससे सम्बन्धित अर्थात् श्मशानमें खिले चाँद और सूरज तथा निर्विकल्प आत्मा ये आठ वीराष्टक हैं।[1]

१. मा० वि० तं० ११।१५

शिवावेश दीक्षाके स्नान भी दो प्रकार वे होते हैं। १-बाह्य और २-आन्तर[1]। बाह्य उपास्य-मन्त्रके तादात्म्यसे तन्मयीभावके द्वारा उपास्योंमें निमज्जन ही [बाह्य स्नान है]

दक्षिण और वाम आचारोंकी तरह वीराचारका भी बड़ा महत्त्व है। यह सब तान्त्रिक साधनाओंके सम्प्रदाय हैं। पूर्ववर्णित तान्त्रिक स्नानमें अष्टमूर्ति शिवके सभी रूपोंमें तन्मयताकी चर्चा है। यहाँ वीराचारको लक्ष्य कर अष्टमूर्ति शिवका दूसरा क्रम बतला रहे हैं।

युद्ध भूमिमें शवोंके वीभत्स दृश्य और खूनसे सनी धूलभरी धरा ही वीराचारमें धरा रूपसे ग्राह्य है। जलके रूपमें शिवाम्बु ही गृहीत है। श्मशानका धूँएँसे भरा वायु, वहींका आकाश, वहींके चन्द्र और सूर्य और स्वात्म-इन सबमें तन्मयीभावके क्रमसे निमज्जन ही स्नान है।

यह दीक्षा शिवाद्वय सिद्धान्तके अनुसार दी जाती है। बाहर और भीतर सर्वत्र शिव ही विद्यमान हैं। एक एक कर सारे पदार्थोंमें तन्मयीभावको अपनाते हुए अभेद स्थितिमें पहुँचना ही इसका लक्ष्य है! इस प्रक्रियामें बाहरके जितने भी तत्त्व हैं, उनके अलग-अलग मन्त्र हैं। उन मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए उनमें निमज्जन—पुनः अहमात्मक अनुभूति और इदन्ताका अपासन सिद्ध होता है। इसलिये इस स्नान प्रक्रियाका मौलिक महत्त्व है।

विशेषस्तु आनन्द द्रव्यम् वीराधार गतं निरीक्षणेन शिवमयीकृत्य तत्रैव मन्त्रचक्रपूजनम्, ततः तेनैव देहप्राणोभयाश्रितदेवताचक्रतर्पणम् इति मुख्यं स्नानम्। आभ्यन्तरं यथा—तत्तद्धरादिरूपधारणया तत्र तत्र पार्थिवादौ चक्रे तन्मयीभावः।

विशेष तो आनन्द द्रव्य है। वीराधार गत (इसके) निरीक्षण से शिवमय करलेने पर वहीं मन्त्र चक्रका पूजन होता है। उसके बाद उसीसे देह और प्राण दोनोंमें आश्रित देववर्गका तर्पण होता है। यह मुख्य स्नान है। आन्तर स्नान आठों की रूप–धारणासे वहाँ वहीं धरा आदि चक्रमें तन्मयी भाव [को कहते हैं]

---

१. तं० १५। ३, ७६

वीराचार और वामाचारमें आनन्द पदार्थ 'सुरा' है। आठ स्नानोंके अतिरिक्त 'सुरा' से नवाँ स्नान होता है। त्रिशिरः शास्त्रमें इसका वर्णन है। इसमें निरीक्षण, प्रोक्षण ताडन, आप्यायन गुण्ठन ये पाँच प्रकारके संस्कार होते हैं। मद्यको शिव स्वरूप ही माना जाता है। [1] मद्य (मुनक्का-किशमिशनिर्मित) शीधु, (सिरका) और सुरा (हर्रेकी सुरा) के स्नानसे एक ताजगी आती है। मन्त्र दृष्टिसे उसका निरीक्षण होता है। इससे प्रभावित शिष्य शिवमय हो जाता है। उसीमें मन्त्रचक्रकी पूजाकी जाती है! इन्हींसे शरीर और प्राण दोनोंमें रहने वाले देवताओंकी तृप्तिका उपाय (तर्पण) किया जाता है।

इस प्रकार स्नानकी मुख्य प्रक्रियाका वर्णन किया गया है। इन दोनों संस्कारोंके बाद शिष्य दीक्षाका अधिकारी और दीक्षाका पात्र होता है। ऊपरका स्नान बाह्य स्नान है। आन्तर[2] स्नानकी प्रक्रिया षट्चक्रोंकी धारणाके अनुसार होती हैं। मूलाधारमें धरा बीज, स्वाधिष्ठानमें वरुण बीज, मणिपूरमें अग्नि बीज अनाहतमें वायु बीज विशुद्धमें आकाश बीज और आज्ञा तथा उसके ऊर्ध्वमें चन्द्र-सूर्य बीजोंका तन्मयीभावन साधनाका उत्तम अंग है। अधः द्वादशान्तसे ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त तादात्म्यकी इस प्रक्रियासे साधक शाश्वत शिवत्वकी प्राप्तिमें समर्थ हो जाता है।

परभैरवसंम्मज्जनमाहुः स्नानं यथा तु तद्भवति।
तदपि बाह्यं स्नानं न मुख्यमुपचारतः किं तु ॥

पर-भैरवके भावमें डुबकी लेना स्नान।
बाह्यान्तर उपचार मय दीक्षाका अवदान।

स्नानकी परिभाषा है—पर भैरव भावमें सम्मज्जन। यह जैसे और जिस प्रकार हो, दीक्षा प्राप्त करनेके लिये करना अनिवार्य है। बाह्य और आन्तर स्नानोंके सन्दर्भमें यह स्पष्ट हो गया है कि, बाह्य स्नान एक बाहरी प्रक्रिया है। उससे होकर दीक्ष्य आगे बढ़ता है। उसकी दृढ़ता बढ़ती जाती है। बाहरका सारा पांच भौतिक जगत्-चन्द्र और सूर्य सभीको अपनी अहंताके सम्पर्कमें अनुभव करनेकी शिक्षा मिलती है और वह आन्तर स्नानका अधिकारी बन जाता है। दीक्षाकी इस प्रक्रियाका दीक्ष्यके लिये महत्त्व हो ताता है।

---

१. तं० १२।७३–७४ २. १५।७७

परमानन्दनिमज्जणु इउपरमत्थिण ह्वाणु।
तहिं आविट्ठरत्ति दिणु जाणइ पर अप्पाणु॥

संस्कृत छाया—

परमानन्दनिमज्जनमेव परमार्थेन स्नानम्।
तस्मिन् आविष्टस्तरति तूर्णं जानाति परमात्मानम्।

इति श्रीमदाचार्यवर्याभिनवगुप्त विरचिते तन्त्रसारे
स्नानप्रकाशनं नाम द्वादशाह्निकम् ॥१२॥

वीराचारके अनुसार आनन्द शिवमयत्वमें ही निहित है। शीधु, मद्य, सुरा, वारुणी, मदिरा कादम्बरो आदि जितने प्रकारके मद्य हैं, ये सभी शिवमय हैं और आनन्दप्रद हैं। इसमें निमज्जन करना सबसे महत्त्वपूर्ण स्नान है, शिवमें आवेश हो जाने पर शीघ्र ही परमशिव परमेश्वरको जान जाता है।

श्रीमदाचार्यवर्य अभिनवगुप्त पादाचार्य विरचित तन्त्रसारके स्नानप्रकाशन
नामक बारहवें आह्निकका डा० परमहंस मिश्र विरचित
नीर-क्षीर विवेक भाष्य सम्पूर्ण ॥१२॥

त्रयोदशमाह्निकम्

अथ प्रसन्नहृदयो यागस्थानं यायात्, तच्च यत्रैव हृदयं प्रसादयुक्तं परमेश्वरसमावेशयोग्यम् भवति तदेव, न तु अस्य अन्यल्लक्षणम्, उक्तावपि ध्येयतादात्म्यमेव कारणम्, तदपि भावप्रसादादेव इति नान्यत् स्थानम्। पीठपर्वताग्रम् इत्यादिस्तु शास्त्रे स्थानोद्देश एतत्पर एव बोद्धव्यः—तेषु तेषु पीठादि स्थानेषु परमेशनियत्या परमेश्वराविष्टानां शक्तीनां देहग्रहणात्, आर्यदेशा इव धार्मिकाणां, म्लेच्छदेशा इव अधार्मिकाणाम्, पर्वताग्रादेश्चैकान्तत्वेन विक्षेपपरिहारात् ऐकाग्र्यपदत्वम्।

[स्नान प्रक्रियाके अनन्तर] प्रसन्नहृदय [दीक्ष्य] यागस्थानके प्रति गमन करे। [यागस्थान] वहाँ [हो सकता है] जहाँ जाने पर हृदय प्रसाद सम्पन्न हो जाय। परमेश्वरमें समावेश योग्य हो। इसको कोई दूसरी परिभाषा नहीं। कहे गये होने पर भी मुख्य कारण ध्येयतादात्म्य ही है। [ध्येयतादात्म्य भी] भावना की प्रसन्नतासे ही [सम्भव] है [इस प्रकारसे] कोई दूसरा स्थान नहीं हो सकता।

पीठ और पहाड़की चोटी आदि स्थानोंकी चर्चा शास्त्रोंमें है। वह भी भावप्रसाद और ध्येयतादात्म्य पर ही आधारित है, यह बोद्धव्य है। पीठ आदि उन उन स्थानों पर परमेश्वर नियति द्वारा परमेश्वरमें समावेश प्राप्त शक्तियोंके शरीर धारित हुए। जैसे आर्यावर्त्तमें धार्मिकोंके जन्म, म्लेच्छ देशोंमें अधार्मिकोंके जन्म हुए। पहाड़की चोटियों पर तो नितान्त एकान्त रहता है। वहाँ विक्षेपों का परिहार [होता है। इससे] एकाग्रता होती है।

प्रसन्नता संविद्की एकात्मकतासे प्राप्त होती है। चिदैक्यानुभूतिसे उत्पन्न आनन्दका परिणाम प्रसन्नता है। उसी प्रक्रियामें आया हुआ, मन्त्रोंसे प्रेरित पवित्र वारिसे अभिषिक्त शिष्य अब उसी प्रसन्नतासे भर उठा है। उसका हृदय प्रसन्न है। अब वह यज्ञ स्थानकी यात्रा करनेके योग्य हो गया है।

प्रश्न यज्ञ स्थानका है। कहाँ हो यज्ञ स्थान ? इसका स्वयं समाधान करते हैं—जहाँ जानेसे तन मन प्रसन्न हो उठे-वही यागस्थान है। लक्ष्य परमेश्वरमें समावेशका है। यह जहाँ सिद्ध हो जाय, वहीं यज्ञ स्थान होना चाहिये। दूसरा कोई स्थान उत्तम नहीं होता। यही स्थानका लक्षण है। दूसरी कोई परिभाषा इसकी नहीं है। अन्य शास्त्रोंमें स्थानका बड़ा विश्लेषण है। बाह्य और आन्तर भेद भी किये गये हैं। पर्वतोंके शिखर नदियोंके सूने तट, सिद्ध पीठ ये बाह्य स्थान हैं। कामरूप, पूर्णागिरि, देवीकोट, उज्जयिनी, कुलगिरि, पुण्ड्रवर्धन, प्रयाग, वरणा वाराणसी, कलिङ्ग, कुलूत, लाहुल, जालन्धर, कश्मीर, नेपाल, कुरुक्षेत्र आदि पीठों-की चर्चा शास्त्रोंमें है। ये सब बाह्य पीठ हैं[२]। इनका आन्तर रूप भी शरीरमें ही है। जैसे उज्जयिनी बिन्दु पीठ, प्रयाग नाभिपीठ, वरणा हृदय, कण्ठ कुलाद्रि, आदि। सभी स्थानोंको महत्त्व इस लिये दिया गया है कि, यहाँ उपास्यसे तादात्म्य होना सरल हो जाता है।

वस्तुतः हृदय कमल जहाँ विकसित हो जाय, वही सबसे उत्तम धाम है। वहीं अन्तर्याग भी सिद्ध होता है। यह सारी बातें श्री नैश आगम, वीरावली पद, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थों सविस्तार वर्णित हैं। निष्कर्ष यह कि, याग स्थान'मनोरम होना चाहिये।

पीठोंकी महत्ताका एक और भी कारण है। परमेश्वरके नियमोंके अनुसार परमेश्वरमें आविष्ट विभूतियोंको वहाँ देह धारण करनेका अवसर मिला है। फलतः ये स्थान और भी पवित्र हो गये हैं। जैसें आर्यावर्त्त में धार्मिक मनुष्योंका बाहुल्य है। म्लेच्छ देशोंमें अधिकतर अधार्मिक व्यक्ति ही जन्म लेते हैं। यही कारण है कि, पर्वतके शिखर पर अथवा उक्त स्थानोंमें चित्तकी एकाग्रता सिद्ध हो जाती है। विक्षेपों का निराकरण हो जाता है।

तत्र यागगृहाग्रे बहिरेव सामान्य-न्यासं कुर्यात्। करयोः पूर्वम्। ततो देहे। ह्रीं-न-फ-ह्रीं, ह्रीं-आ-क्ष-ह्रीं, इत्याभ्यां शक्तिशक्तिमद्वाचकाभ्यां मालिनी शब्दराशिमागाभ्याम्, एकेनैव आदौ शक्तिः, ततः शक्तिमान् इति, मुक्तौ पादाग्रात् शिरोन्तम्, भुक्तौ तु सर्वं विपर्ययः। मालिनी हि भगवती मुख्यं शाक्तं रूपं बीजयोनिसंघट्टेन समस्तकामदुधम्।

वहाँ यागस्थानके पहले बाहर ही सामान्य न्यास करे। पहले दोनों हाथोंमें करन्यास बादमें देहन्यास। ह्रीं से सम्पुटित न से फ पर्यन्त वर्ण समाम्नाय शक्ति स्वरूप है। इसी प्रकार ह्रीं से सम्पुटित आ और समस्त व्यंजनोंका प्रत्याहार क्ष, यह शक्तिमान् स्वरूप है। इनमें से यदि एक एक वर्णका न्यास करना हो, तो पहले शक्तिका, फिर शक्ति मान् का न्यास आवश्यक है। मुक्तिमें पैरसे शिर तक और भुक्तिमें उसके उल्टा अर्थात् शिरसे पाँव तक न्यास करना चाहिये। मालिनी (न से फ तक वर्णों का क्रम) सर्व ऐश्वर्यमयी शक्ति है। यह उसका शान्त रूप है। बीज योनि के संघट्टसे समस्त कामों की पूर्त्ति होती है।

किसी प्रकारके कार्यमें (जप आदिमें) न्यास आवश्यक है। न्यासका अर्थ होता है रखना। शरीरके अंगोंकी रचना भौतिक पदार्थोंसे हुई है। वर्ण वाक् के व्यक्त रूप है। इनमें शक्तियाँ कूट-कूटकर भरी हुई हैं। ये दिव्य हैं। भौतिक अंगों पर दिव्य वर्णोंके रखनेसे अंगोंमें दिव्यता आ जाती है और सारी प्रक्रिया निर्विघ्न सिद्ध होती है।

पहले कर न्यास होता है। अंगुलियोंमें बीज मंत्रोंको रखते हैं। फिर शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्गका न्यास होता है। ह्रीं शक्ति बीज है। 'न' से 'फ' तक अंगोंके क्रमसे वर्णोंका क्रम इस प्रकार है:—न शिखा, ऋ ॠ ऌ ॡ- कपालका आरम्भ, थ-मस्तक, नेत्र-च, ललाट-ध, घ्राण-ई, ण्-उ + ण् + ऊ-कान, व क ख ग घ ङ इ और अ वदन दाँत जीभ और वाक्, ब भ य- कण्ठ (ब) दाहिनी काँध (भ) वामस्कन्ध (य), ड- दक्षिण बाहु, ढ-वाम बाहु, ठ- दोनों हाथ, झ ञ-अंगुलियाँ, ज र ट (ज शू ल) र-शूल- (दण्ड) ट-शूल कपाल), प-हृदय, छ ल-स्तन, आ क्षीर, स अः-जीव आत्म ह-प्राण, ष क्ष-उदर-नाभि, म श अं त-नितम्ब-गुह्य (अं शक्ति) त-उरू (जघन)।

ए-ऐ-घुटने, ओ औ-जाँघ द फ चरण। यह मालिनीका क्रम है। यह शक्ति का न्यास है। शक्तिमान्‌का न्यास दूसरी तरह होता है। शक्तिमान् मातृका है। मातृका का क्रम इस प्रकार है :—

अ-ललाट, आ-वक्त्र, इ ई-दोनों नेत्र, उ ऊ दोनों कान ऋ ॠ—नासिका पुट, ऌ ॡ—कपोल, ए-निचली दन्त पंक्ति, ऐ-ऊपरी दन्तपंक्ति ओ औ—अधरोष्ठ, अं-शिखा, अः जीभ, क च वर्ग-कंधे-दोनो बाहें।

हाथ—अंगुलियाँ और नख (वाम दक्षिण क्रम), ट वर्ग त वर्ग-नितम्ब-उरु, प वर्ग—दोनों बगल पीठ पेट और हृदय, य व र ल—त्वचा रक्त मांस और स्नायु, श ष स ह–अस्थि, वसा, शुक्र और प्राणकोश। यह मातृका न्यास है।

इन दोनोंमें 'न' से 'फ' तक और 'अ' से 'ह' तक अक्षरोंका यही क्रम परिगृहीत है[१]। न्यासमें यह ध्यान रखना चाहिये कि, पहले मातृका न्यास और बादमें मालिनी क्रमका न्यास हो। दीक्षामें शिष्य (दीक्ष्य) की इच्छा और प्रवृत्तियोंका आकलन आवश्यक है। कोई भुक्तिका अभिलाषी होता है और कोई मुक्तिका। भुक्तिकी अभिलाषा करने वाले साधकका न्यास क्रम मस्तकसे पैरकी ओर होना चाहिये। जो मुक्तिका अभिलाषी है—उसके न्यासका क्रम पैरसे मस्तक की ओर होना चाहिये।

मालिनी देवीका शाक्त रूप है। इसे भगवतो कहते हैं। यह शक्तिमान् मातृका न्याससे क्षुभित होती है क्योंकि इस प्रकार बीज (शिव) और योनि (शक्ति) का संघट्ट होता है। इस प्रकार एक दूसरेके संयोगसे इसमें शक्तिका उद्रेक होता है। यह समस्त कामनाओंकी पूर्त्ति करने वाली कामधेनु बन जाती है। समस्त न्यूनताओं और अभावोंकी पूर्त्ति हो जाती है।

अन्वर्थं चैतन्नाम रुद्रशक्तिमालाभिर्युक्ता फलेषु पुष्पिता संसारशिशिरसंहारनादभ्रमरी सिद्धिमोक्षधारिणी दानादानशक्ति-युक्ताइति रलयोरेकत्वस्मृतेः। अतएव हि भ्रष्टविधिरपि मन्त्रएत-न्न्यासात् पूर्णो भवति, साञ्जनोऽपि गारुडवैष्णवादिर्निरञ्जनताम् एत्य मोक्षप्रदो भवति। देहन्यासानन्तरम् अर्घपात्रे अयमेव न्यासः।[२]

मालिनी (यह) नाम अन्वर्थ है। माल्यते धार्यते रुद्रशक्त्या इति मालिनी, मलते भुक्तिमुक्ति स्वरूपे धत्ते इति मालिनी, मालाभिः वर्णात्मकपुष्पमालाभिः युक्ता मालिनी, माला विद्यते यस्याः सा, मा शब्द स्य ध्वननीयस्य संहारस्य अलिनी विमर्शिका मालिनी, मा शब्दवाच्यं

---

१. तन्त्रालोकः १५।१७–१२५ २. १५।१४६

संहारं राति लाति वा इति मालिनी इन विग्रहों से व्यक्त अर्थोंसे युक्त मालिनी शक्ति होती है। इस लिये भ्रष्ट विधि पुरुष भी इन न्यासों से पूर्ण होता है। साञ्जन गारुड और वैष्णवादि मन्त्र इनके प्रयोगसे निरञ्जन होते हैं औरमोक्षप्रद हो जाते हैं। देह न्यासके अनन्तर अर्घपात्र में भी इनका न्यास करते हैं।

मालिनी शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार यह संज्ञा अर्थोंका ही अनुसरण करती है। मल और मल्ल दो धातु धारण अर्थमें प्रसिद्ध हैं। उसके अनुसार इसका विग्रह—माल्यते अर्थात् धार्यते अर्थात् स्वीक्रियते अर्थात् स्वीकारकी जाती है रुद्रोंके द्वारा जो, यह पहला अर्थ है। दूसरा अर्थ माला अर्थात् वर्णरूप फूलों वाली शक्ति, उससे युक्त पूजाकी उपकरण वाली मालिनी। तीसरा अर्थ—मा अर्थात् संहार (निषेध) उसकी अलिनी (भ्रमरी) अर्थात् विमर्श करने वाली शक्ति मालिनी है। चौथा अर्थ—संहाररूपी मोक्षको धारण करने वाली। 'र' और 'ल' को एक माननेके कारण राति या लाति के अनुसार दान (देना) और आदान (लेना) दोनों शक्तियोंसे युक्त मोक्ष धारिणी शक्तिको मालिनी कहते हैं। इतनी शक्तियोंसे सम्पन्न भगवती मालिनी का महत्त्व साधक ही जान पाता है।

भ्रष्टविधि साधक भी इसे धारण करते हैं। इसका न्यास करते हैं। उनकी विधि शुद्ध हो जाती है। वे सिद्ध और कृतार्थ हो जाते हैं। उनके मन्त्र भी इस न्याससे ऊर्जस्वल होकर जग जाते हैं। साञ्जन अर्थात् माया से उत्पन्न मलोंसे युक्त गरुड और विष्णु देवताओंके मन्त्र भी मालिनीके न्याससे निरञ्जन अर्थात् माया-मल रहित व मोक्ष देने वाले हो जाते हैं। देहमें इन मन्त्र बीज वर्णोंका न्यास तो होता ही है। उसके बाद ही याग गृहकी ओर प्रस्थान करनेका अधिकार होता है। अर्घपात्रमें भी इसका न्यास आवश्यक है[1]। इससे वहाँ भी शक्तिका संचार हो जाता है।

इह हि क्रियाकारकाणां परमेश्वराभेदप्रतिपत्तिदार्ढ्यसिद्धये पूजाक्रिया उदाहरणीकृता, तत्र च सर्वकारकाणाम् इत्थं परमेश्वरीभावः। तत्र यष्ट्राधारस्य स्थानशुद्ध्यापादानकरणयो-

---

१. तं० १५।३१–१४२

रर्घपात्रशुद्धिन्यासाभ्याम् यष्टुर्देहन्यासात्, याज्यस्य स्थण्डिलादिन्यासात् । एवं क्रियाक्रमेणापि परमेश्वरीकृतसमस्तकारकः तथैव दृशा सर्वक्रियाः पश्यन् विनापि प्रमुखज्ञानयोगाभ्याम् परमेश्वर एव भवति ।

यहाँ क्रिया करने वाले साधकों की परमेश्वर परम शिवसे अभेदोपलब्धिकी दृढ़ताकी सिद्धिकेलिये पूजा क्रिया उदाहृत है ? सभी प्रकारके साधक यदि यह क्रिया करें, तो उन्हें इस प्रकारसे परमेश्वररूपता मिल जाती है ।

यष्टा यज्ञ कर्त्ता है। उसका आधार यज्ञस्थान है । उसकी शुद्धि, अपादान और करण की शुद्धि, अर्घपात्रकी शुद्धि, न्यास, यष्टा के देह न्यास और याज्य (हविष्य आदि) स्थण्डिल आदि के न्यास के द्वारा सारे कर्म सम्पन्न होते हैं । इन क्रियाओंके क्रमसे सारे कारक परमेश्वरीकृत हो जाते हैं । इसी विधिसे सारी क्रियाओंको देखते हुए विना प्रमुख ज्ञान और योगके भी साधक परमेश्वर रूप हो जाता है ।

कर्मकाण्डको दार्शनिक व्यक्ति उतना महत्त्व नहीं देता । साधनाके समक्ष इसकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार विषयका प्रवर्त्तन करते हैं । सर्वप्रथम क्रिया आती है । क्रिया सारी सिद्ध असिद्ध उन वस्तुओंके आश्रित होती है, जो साध्यकी साधनामें अपेक्षित हैं । क्रिया उनकी आश्रित है । साथ ही सारे पदार्थोंका सारा प्रसार भेदमय है । इनमें बुद्धिद्वारा अभेदकी प्रकल्पना भी एक प्रकारकी क्रिया है ।

कारक तो ६ प्रसिद्ध ही हैं । इन सबमें परमेश्वरका भाव और अभेदकी भावना पूजासे आती है । पूजाके विधानमें सारी क्रियाओं और कारकोंका प्रयोग होता है । इससे ऐकात्म्यकी सिद्धि होती है । जैसे घोड़ा लड़ाईके मैदानमें भी अपनी चाल नहीं भूल पाता, उसी तरह पूजा अर्चाके अभ्यासमें लगा हुआ क्रिया और सारे कारकोंको भी शिवमय देखनेका भाव नहीं भूल पाता । वह चलते-फिरते, उठते बैठते भी कर्त्ता-कर्म करण अपादान सम्प्रदान और अधिकरण आदि भेदको अभेद रूपमें देखनेका अभ्यासी हो जाता है । कर्त्ता भी वही है, कर्म भी वही है, करण भी वही

१. तं० १५।१४९

है, अर्घपात्र आदि हटानेमें आनेवाला अपादान भी वही है। उसीके लिये अर्पित सम्प्रदान भी वही है और आधार तो वह साक्षात् ही है। सबमें परमेश्वरी भाव पूजाका ही परिणाम है।

जहाँ तक यज्ञ कर्त्ताका प्रश्न है–वह अपने आधार रूप यज्ञ मण्डपकी स्थान शुद्धि करता ही है। वहाँसे पदार्थको हटाने-बढ़ाने, लेने–देनेमें अपादान और करण कारकोंकी शुद्धि होती ही है। उसमें न्यास करनेसे आधार शुद्धि होती है। देह न्याससे बाहर भीतर सारी शुद्धि हो जाती है। याज्य वस्तुओंकी, आधार रूप स्थण्डिल (भू वेदी आदि) की न्याससे शुद्धि स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार इसमें सम्मिलित रहने वाले भी, जो किसी प्रकारके प्रमुख ज्ञानसे या योगसे अपरचित भी हैं; वे इस सम्पर्कके कारण ही परमेश्वर-मय हो जाते हैं। इन तथ्योंसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि, ह्रीं-न-फ-ह्रीं तथा ह्रीं आ क्ष ह्रीं इन मालिनी और मातृका मन्त्रोंमें कितनी वागात्मक ऊर्जा निहित है। वाग्विज्ञानका यह अन्यतम उदाहरण है।

एवम् अर्घपात्रे न्यस्य पुष्पधूपाद्यैः पूजयित्वा तद्विप्रुड्भिः यागसारं पुष्पादि च प्रोक्षयेत्। ततः प्रभामण्डले भूमौ खे वा 'ओं बाह्यपरिवाराय नमः' इति पूजयेत्। ततो द्वारस्थाने 'ओं द्वार-देवताचक्राय नमः' इति पूजयेत्। अगुप्ते तु बहिःस्थाने सति प्रविश्य मण्डलस्थण्डिलाग्र एव बाह्यपरिवारद्वार-देवताचक्र–पूजां पूर्वोक्तं च न्यासादि कुर्यात्, न बहिः। ततोऽपि फट् फट् फट् इति अस्त्रजप्तपुष्पं प्रक्षिप्य विघ्नानपसारितान् ध्यात्वा अन्तः प्रविष्य परमेश्वरीकरणेद्धया दृष्ट्या अभितो यागगृहं पश्येत्।

इस प्रकार अर्घपात्रमें न्यासकर, पुष्प और धूप आदिसे पूजनकर उसके जलकणोंसे यागसार और पुष्प आदिको प्रोक्षित करे। तदनन्तर प्रभामण्डलमें, भूमि, और आकाशमें भी 'ओं बाह्यपरिवाराय नमः' इस मन्त्रसे पूजन करे। फिर द्वार पर 'ओं द्वार देवता चक्राय नमः' इस मन्त्रसे पूजन करे। खुले बाहरसे आगे मण्डपकी मुख्य वेदी पर ही बाह्यपरि-वारके द्वारदेवता चक्रकी पूजा पूर्ववत् करनी चाहिये। बाहर नहीं।

इसके बाद भी फट्-फट् फट् बोलते और चुटकी बजाते हुए शेष सब फूलोंकी पूजा करनी चाहिये। पुनः अस्त्र मन्त्रसे जपे हुए पुष्पोंको क्षिप्तकर 'विघ्न दूर हो गये हैं।' ऐसा सोचते हुए भीतर मण्डपमें प्रवेशकर परमेश्वरकी किरणोंसे भरपूर चमकीली दृष्टिसे चारों ओर यागगृह को देखना चाहिये।

करन्यास और अंगन्यासके उपरान्त अर्घपात्रमें भी मन्त्रन्यास आवश्यक है। पञ्चोपचार या षोडशोपचार पूजन करनेका विधान है। अर्घपात्रके आनन्दरसविप्रुष् अर्थात् मद्य या जलके छोटे-छोटे कणोंसे यज्ञ-शाला, यज्ञके सारभूत पदार्थ और पुष्प आदि पूजाके सामानोंका प्रोक्षण करना चाहिये[1]। इसके बाद प्रकाश-भास्वर परमशिवके परम प्रकाशके कारण भावनात्मक प्रभाके घेरेमें अपनेको अनुभूत करना चाहिये। जिस याग गृहमें शिष्य प्रवेश कर रहा है—वहाँकी भूमि भी प्रभामयी अवश्य हो जायेगी। उसके आसपासका आकाश भी प्रभामय अवश्य प्रतीत होगा। इस प्रकार उक्त मन्त्रसे नमस्कार अर्पित करे। इसी प्रकार द्वारके मन्त्रसे पूजा करनी चाहिये[2]। खुले स्थान पर प्रवेशके समय मण्डल वेदीपर भी पूर्वोक्त विधान आवश्यक है। अस्त्र मन्त्रोंसे विघ्नका अपसारण करना आवश्यक है। तन्त्र दीक्षाका यह कर्मकाण्ड विधिवत् स्वच्छन्द तन्त्रमें वर्णित है[3]। सारी प्रक्रिया पूरी हो जाने पर ही साधकमें प्रकाशकी भास्वरताका निखार हो पाता है।

उसी परमेश्वरकी आभासे आभासित दृष्टिसे यज्ञस्थानका निरीक्षण करना चाहिये। यद्यपि यह कर्मकाण्ड आज विलुप्त प्राय है फिर भी शैव सम्प्रदायके वर्त्तमान पीठोंके आचार्य इससे परिचित हैं।

तत्र मुमुक्षुरुत्तराभिमुखस्तिष्ठेत्, यथा भगवदघोरतेजसा झटित्येव प्लुष्टपाशो भवेत्। तत्र परमेश्वरस्वातन्त्र्यमेव मूर्त्या-भासनया दिक्तत्त्वमवभासयति। तत्र चित्प्रकाश एव मध्यं, तत इतर प्रविभाग प्रवृत्तेः प्रकाशस्वीकार्यमूर्ध्वम्, अतथाभूतम्

---

१. तं० १५।२९०–२९४ २.

३. स्व० तन्त्र ३।४–७, २।२१–३०

अधः, प्रकाशनसंमुखीनं पूर्वम्, इतरत् अपरम् संम्मुखीभूतप्रकाश-त्वात् अनन्तरं तत्प्रकाशधारारोहस्थानं दक्षिणम् आनुकूल्यात्, तत्संमुखं तु अवभास्यत्वात् उत्तरम्, इति दिक्चतुष्कम् ।

यज्ञ गृहमें मुमुक्षु उत्तराभिमुख बैठे, जिससे वह भगवान् अघोरेशके तेजसे प्लुष्ट-पाश हो जाये। वहाँ परमेश्वरका स्वातन्त्र्य ही मूर्त्तिकी आभासनासे दिक्तत्त्वको अवभासित करता है। वह 'चित्' का प्रकाश ही 'मध्य' है। उसके अतिरिक्त भागकी प्रवृत्तिके कारण प्रकाशकी स्वीकृति ही 'ऊर्ध्व' है। प्रकाश रूपसे अस्वीकृत दिक् निचली है। प्रकाशनका साम्मुख्य पूर्व और असाम्मुख्य पश्चिम हैं। सम्मुखी भूत प्रकाशके कारण बादमें उस प्रकाशधाराका आरोहस्थान दक्षिण है क्योंकि उसमें आनुकूल्य है। उसके सम्मुख ही अवभास्य होनेके कारण वही उत्तर है। यह चारों दिशाओंका क्रम है।

यज्ञशालामें उपस्थित मुमुक्षु शिष्य पूजक है। परात्पर परमशिव ही पूज्य है। अन्य सारा सृष्टिका प्रसार आसन है[1]। आसन पर बैठकर ही पूजा होती है। परात्पर परमशिवका प्रकाश तो शाश्वत भासमान है। उसका साम्मुख्य उत्तर दिशा है। इसलिये सम्मुखताकी दृष्टिसे उत्तरा-भिमुख बैठनेका विधान किया गया है। इसका परिणाम बड़ा सुखद होता है। अघोरेश भगवान्‌के तेजसे सामने पड़ते ही मुमुक्षुका सारा पाश जलकर भस्म हो जाता है।

वास्तवमें (मल) दिक् नामकी किसी चीजका अस्तित्व नहीं है फिर भी परमेश्वरकी स्वतन्त्र शक्तिके द्वारा पूर्व पश्चिम आदि औपाधिक भेद का आभास होता है। यह मूर्त्ति वैचित्र्यका परिणाम है। देश-दिशा-क्रम आदि उपाधितः परमेश्वरमें ही आभासित है। मध्य, ऊर्ध्व और अधः का निर्देश करनेके बाद चारों दिशाओंके दिक्चक्रवालका संक्षेपमें यहाँ स्पष्ट रूपसे उल्लेखकर दिया गया है[2]।

तत्र मध्ये भगवान्, ऊर्ध्वेऽस्य ऐशानं वक्त्रम्, अधः पातालवक्त्रम् पूर्वादिदिक्चतुष्के श्रीतत्पुरुषाघोरसद्योवामा-

---

१. तं० १५।३१८ २. स्व० तन्त्र २।१६९-१७१

ख्यम्, दिक्चतुष्कमध्ये अन्याश्चतस्रः—इत्येवं संविन्महिमैव मूर्त्तिकृतं दिग्भेदं—भासयति—इति दिक् न तत्वान्तरम्। यथा च स्वच्छाया लङ्घयितुम् इष्टा सती पुरः पुरो भवति तथा परमेश्वरमध्यतामेति सर्वाधिष्ठातृतैव माध्यस्थ्यम् इत्युक्तम्। एवं यथा भगवान् दिग्विभागकारी तथा सूर्योऽपि, स हि पारमेश्वर्येव ज्ञानशक्तिरित्युक्तं तत्र तत्र। तत्र पूर्वं व्यक्तेः पूर्वा यत्रैव च तथा तत्रैव, एवं स्वाधीनापि स्वसंमुखीनस्य देशस्य पुरस्तात्वात्। एवं स्वात्म–सूर्य–परमेशत्रितयैकीभावनया दिक्चर्चा इति अभिनवगुप्तगुरवः।

मध्यमें भगवान् ऊर्ध्वमें ईशानका मुख, नीचे पातालमुख पूर्व दक्षिण-पश्चिम-उत्तर इन चारों दिशाओंमें क्रमशः तत्पुरुष, अघोरेश, सद्योजात और वामदेव हैं। चारों दिशाओंके मध्य अर्थात् १—पूर्व-दक्षिण, २–दक्षिण-पश्चिम ३–पश्चिम-उत्तर और ४–उत्तर-पूर्व ये चार अलग दिशायें भासित हैं। इसप्रकार 'संविद्' की महिमासे ही (रूपाधार) मूर्त्तिकृत भेदका आभास दिशामें होता है (इससे सिद्ध हुआ कि) दिक् कोई तत्त्व नहीं है। जैसे-जैसे अपनी छायाको लाँघनेका प्रयास कोई करता है वैसे वैसे वह आगे बढ़ती जाती है (अर्थात् बिम्बमें मध्यमें ही वर्त्तमान रहती है), उसीतरह दिशाका विभाग भी परमेश्वरकी मध्यताको प्राप्त करता है। यह कहा गया है कि, सर्वाधिष्ठातृता ही माध्यस्थ्य है।

शास्त्रोंमें जैसे भगवान् शिव दिग्विभागकारी हैं, उसी तरह सूर्य भी हैं। सूर्यको परमेश्वरकी ज्ञानशक्ति' कहते ही हैं। प्रथम (ज्ञानशक्तिकी) अभिव्यक्ति जहाँ है–वह दिशा पूर्व है, जहाँ सूर्य उदित है, वही पूर्व है। (यद्यपि) यह आभास स्वाधीन है (फिरभी) अपने सामनेकी दिशा-(आगेकी-ज्ञानकी दिशा) पूर्व ही है।

अभिनव गुप्तपादाचार्यके अनुसार दिक् चक्रमें तीनकी भावना करनी चाहिये। १—स्वात्मकी, २—सूर्यकी और ३—परमेश्वर की। स्वात्म, सूर्य और शिवको (इस 'त्रिक' को) भावनाके द्वारा एक मानकर उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार यह दिक् चर्चा सम्पन्न हुई।

'दिक्' क्या है ? क्या यह कोई तत्त्व है। इसका अधिष्ठाता कौन है? उसका रूप और क्रम क्या आभास है या तात्त्विक है ? 'क्रम' का रहस्य क्या है ? सूर्य क्या है ? आदि प्रश्नोंका यहाँ समाधान किया गया है। वस्तुतः दिक् कोई तत्त्व नहीं है। यह 'संविद्' शक्तिके मूर्त्तिवैचित्र्यका उल्लास मात्र है।

जैसे व्यक्ति अपनी छायाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता, उसी तरह व्यक्ति परमेश्वर शक्तिको नहीं लाँघ सकता। छाया आगे आगे बढ़ती जाती है। और सूर्यके शिरपर आने पर बीचमें चली आती है। यह कोई दिक् नहीं होता किन्तु क्रम भासित होता है। छाया सूर्यके अनुसार भासित है। यह दिक् भी परमेश्वरको अधिष्ठात्री शक्तिके द्वारा भासित है। परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है। सबका अधिष्ठान है। एक तरह कह सकते हैं कि, बीचमें है। यह बीचमें रहना उसका माध्यस्थ्य है। मध्यमें रहनेकी भावदशा है।

दिग्विभागके मूल कारण भगवान् हैं। महाभौतिक दृष्टिसे सूर्य भी दिशाओंके विभागके कारण दीख पड़ते हैं। सिद्धान्ततः सूर्य परमेश्वरकी ज्ञानशक्ति है। वह जहाँ उदित होता है, वही पूर्व दिशा है क्योंकि सम्मुख है। यद्यपि वह सूर्यके, ज्ञान शक्तिके या परमेश्वरके अधीन है फिर भी पुरोभागमें ही यह दिशा स्थित रहती है।

पूर्वके अतिरिक्त क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशायें सूर्यकी कक्षाके अनुसार प्रत्यक्ष भासित हैं। उपदिशायें (कोण) भी चार हैं। ऊपर और नीचे भी दिशायें हैं। एक 'मध्य' का भी आकलन है। भावना कहती है कि, इन दिशाओंमें भगवान्के मुख ही चमक रहे हैं। मध्यमें तो साक्षात् भगवान् भासमान हैं। ऊपर 'ईशान' का मुख है। दक्षिणमें 'अघोरेश' का मुख है। पश्चिममें 'सद्योजात' का मुख और उत्तरमें 'वामदेव' का मुख है। इन्हींके प्रभावमें चारों उपदिशायें भी आती हैं।

यह साराका सारा दिग्विभाग परमेश्वरके ऐश्वर्यका ही सुखद आभास है। पञ्चतन्मात्राओंकी सूक्ष्मतासे विकसित होकर यह स्थूल का स्तबक उद्भासित है। यही रूपका आधार बनता है। मूर्त्तिकी विचित्रता का क्रम बनता है। लगता है कि, यह दिशायें हैं। वस्तुतः दिक् कोई तत्त्व नहीं है। एक साधनात्मक रहस्यकी ओर भी यहाँ संकेत है। स्वात्म, सूर्य और परमशिवकी एकात्मकताका ध्यान साधकके लिये अनिवार्य है।

एवं स्थिते उत्तराभिमुखम् उपविश्य देहपुर्यष्टकादौ अहंभावत्यागेन देहतां दहेत् । सन्निधावपि परदेहवत्-अदेहत्त्वात् । ततो निस्तरङ्गध्रुवधामरूढस्य दृष्टिस्वाभाव्यात् या किल आद्या स्पन्दकला सैव मूर्त्तिः, तदुपरि यथोपदिष्टयाज्यदेवताचक्रन्यासः । प्राधान्येन च इह शक्तयो याज्याः, तदासनत्वात् भगवन्नवात्मादीनां शक्तेरेव च पूज्यत्वात्, इति गुरवः । तत्र च पञ्च अवस्था जाग्रदाद्याः, षष्ठी च अनुत्तरा स्वभावदशा अनुसंधेया—इति षोढा न्यासो भवति ।

ऐसी स्थितिमें उत्तर-मुँह बैठकर देह प्राण बुद्धि आदिमें अहंभावके परित्यागसे देहभावको दग्ध करे। दूसरे शरीरकी सन्निकटतामें भी अदेहके समान (अपने देहमें) भी भाव होना चाहिये)। तत्पश्चात् निस्तरङ्ग ध्रुवधाम में आरूढ (साधककी) स्वाभाविक दृष्टिसे उत्पन्न) जो पहली स्पन्दकला है, वही मूर्त्ति है। उसके ऊपर भी गुरूपदेशके अनुसार याज्य देवोंका न्यास करना चाहिये। प्रधानतः यहाँ शक्तियाँ ही याज्य हैं। उनका आसनरूप होनेके कारण और भगवत्स्वरूपनवात्माओंकी शक्तियोंकी पूज्य होनेके कारण (यही याज्य हैं) यह गुरु परम्परा है।

वहाँ ५ जाग्रत् आदि अवस्थायें हैं। छठीं अनुत्तर नामक एक 'स्व' भाव मयी दशा है। उसका भी अनुसन्धान करना चाहिये। इस प्रकार छः प्रकारका न्यास होता है।

यहाँ निम्नलिखित बातोंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है—

१—यज्ञशालामें जानेकी सारी प्रक्रिया पूरी करनेके बाद मुमुक्षु शिष्य जब प्रवेश करले, तो वह सर्वप्रथम उत्तरकी ओर मुँह कर बैठे। इससे शिवका सारा दक्षिण ऐश्वर्य उसमें समाहित हो जाता है।

२—पुर्यष्टकमें[1] देहाभिमानका परित्याग कर दे। देहभावको ज्ञानभावसे दग्ध कर दे। यह अनुभव करे कि, मेरा शरीर भैरवभावमें विलीन हो गया है। अब परम शान्तिसे समन्वित हूँ।

---

१. स्व० १०/९७५ ११/८५-८६

३—वह यह सोचे कि, मैं शान्त परमेश्वरके निश्चल धाममें बैठ गया हूँ। मेरे हृदय कमलमें विराजमान आत्मा हृदय, कण्ठ, तालु, आज्ञाचक्र और ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेशकर अब द्वादशान्तमें प्रकाशमान हो रहा है, मैं परतत्त्वमें अवस्थित हूँ। यह दृष्टि स्वभावतः वहाँ उत्पन्न हो जायेगी। उस समय अपना अस्तित्व, आदि-स्पन्दकी कलाके समान प्रतीत होने लगेगा।

४—प्रकृति (ऊ), पुरुष (य), नियति (व), काल (ल), माया (म), विद्या (क्ष), ईश्वर (र), सदाशिव (ह), और शिव अं (प्रणव) नौ[1] शिव-स्वरूपोंकी शक्तियाँ (कोष्ठ वाली) ही पूज्य हैं। शक्तियाँ ही शिवकी आसन हैं। वही याज्य और पूज्य हैं। इन्हींका न्यास मूर्तिरूपी अपने अस्तित्व पर करना चाहिये।

५—इसमें गुरुजनोंका अनुभव हो प्रमाण है।

६—अवस्थायें ५ हैं (जाग्रत-स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुर्यातीत) एक छठवीं अनुत्तर अवस्था है? इसका अनुसंन्धान करना चाहिये।

७—न्यास छः प्रकार के होते हैं।

तत्र कारणानां ब्रह्मविष्णुरुद्रसदाशिवशक्तिरूपाणां प्रत्येकमधिष्ठानात् षट्त्रिंशत्तत्त्वकलापस्य लौकिकतत्त्वोत्तीर्णस्य भैरवभट्टारकभेदवृत्ते न्यासे पूर्णत्वात्।

यदाहुः 'अन्तरङ्गरूढौ लब्धायां पुनः किं तत्त्वसृष्टिन्यासादिना' इति। तावत् हि तदन्तरङ्गं भैरववपुः यत् स्वात्मनि अवभासित सृष्टि-संहारावैचित्र्यकोटि। एवम् अन्योन्य मेलकयोगेन परमेश्वरीभूतं प्राणदेहबुद्ध्यादि भावयित्वा बहिरन्तः पुष्पधूपतर्पणाद्यैर्यथासंभवं पूजयेत्।

न्यासमें कारणरूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव, शिव और शक्ति सबका अधिष्ठान है। ३६ तत्त्वसमूहका लौकिकतत्त्वसे उत्तीर्ण भैरव-

---

१. स्व० ५/११

भट्टारकके भेदमें न्यास पूर्ण हो जाने पर भैरवीभाव हो जाता है। इससे यह (विषय) अनवकाश है।

क्योंकि कहते हैं—अन्तरङ्गकी रूढ़ि यदि, मिली पुनः क्या हेतु ?
तत्त्व सृष्टिमें न्यासकी, व्यर्थ बाँधते सेतु।

यह अन्तरङ्ग भैरव-शरीर ही है कि, स्वात्ममें ही अवभासित सृष्टि-संहारकी विचित्रताका अनुदर्शन हो।

इसप्रकार अन्योन्य मेलक-योगसे परमेश्वर रूपताप्राप्त प्राण-देह बुद्धि आदिका भावन कर बाहर और भीतर पुष्पधूप-तर्पण आदिसे यथा संभव पूजा करे।

करन्यास, अङ्गन्यास, अर्घपात्र न्यास, तत्त्वन्यास मूर्त्ति-देवन्यास और कारण न्यासोंकी प्रक्रियाके यथावत् वर्णनका यह प्रसङ्ग अब ग्रन्थकार समाप्त कर रहे हैं। कारण रूप ब्रह्मा हैं। इनका स्थान मूलाधार है। वहाँ पृथ्वी तत्त्वका प्राधान्य है। वहाँ ब्रह्मा तत्त्वकी व्याप्ति है। एक प्रकारसे वहाँ तादात्म्यकी अनुभूति तत्त्व और तत्त्वाधिष्ठातामें होती है। उसी तरह ३५ तत्त्वोंमें भी ब्रह्माकी तरह ही विष्णु, रुद्र, सदाशिव, शिव और शक्तिका अधिष्ठान है। न्यासकी अवस्थामें लौकिकमें अलौकिक कारणोंका भेदाभास समाप्तकर भैरवी भावकी प्राप्ति हो साधकका लक्ष्य होता है। इसमें तर्कके लिये अवकाश नहीं होता। शरीरमें ३६ तत्त्वोंका न्यास इस प्रकार होना चाहिये। शिष्यके तलवेसे लेकर गुल्फ तक पृथिवी, गुल्फसे नाभितक २३ तत्त्व, (जलतत्त्वसे प्रकृतितत्त्व तक) नाभिके ऊपर तालु तक पुरुष और मायातत्त्व, तालुसे ब्रह्मबिल तक विद्या, ईश्वर और सदाशिव नामक तीन तत्त्व और ब्रह्मबिलसे ऊपर शिव शक्ति तत्त्वोंका न्यास आवश्यक है।

सिद्धान्ततः यह स्वीकार करनेकी बात है कि, जब अन्तरङ्गमें 'रूढ़ि' की प्रक्रिया सिद्ध हो जाती है—उस समय तत्त्व-सृष्टिन्यास आदि अनावश्यक हो जाता है। यह अन्तरङ्ग रूढि अन्तर्यागसे ही सिद्ध होती है। अन्तर्यागसे साधक अन्तरङ्ग पर विजय प्राप्त कर लेता है। वह सचमुच भैरव रूप शरीर वाला हो जाता है। उसे समस्त सृष्टि-स्थिति संहारादि का स्वात्ममें ही अनुभव होने लगता है। इस स्थितिमें उसमें किसी वैचित्र्य की कोटिका अवभासन नहीं—होता है।

इस प्रकारकी न्यास विधियोंमें एक दूसरेका एक दूसरेसे मेलन होता है। यह मेलनकी प्रक्रिया बड़ी महत्त्वपूर्ण है। देहमें, प्राणमें और बुद्धि आदि में परमेश्वरका भाव जागृत हो जाता है। एक तरह बाहर भीतर सब परमेश्वरमय हो जाता है। यह भावनाका माहात्म्य है। ऐसी स्थिति में बाह्य पूजा भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है, जिससे अन्तर्याग पुष्ट होता है। फिर तादात्म्यकी उपलब्धि हो जाती है। इसलिये पञ्चोपचार या षोडशोपचार पूजन भी अवश्यमेव करना चाहिये।

तत्र शरीरे प्राणे धियि च तदनुसारेण शूलाब्जन्यासं कुर्यात्। तद्यथा—आधारशक्तिमूले मूलं, कन्द आमूलसारकं लम्बिकान्ते, कलातत्त्वान्तो दण्डः, मायात्मको ग्रन्थिः, चतुष्किकात्मा शुद्धविद्यापद्मं, तत्रैव सदाशिव भट्टारकः, स एव महाप्रेतः प्रकर्षेण लीनत्वात् बोधात् प्राधान्येन वेद्यात्मकदेहक्षयात् नादामर्शात्मकत्वाच इति।

शरीर में, प्राणमें और बुद्धिमें उसीके अनुसार शूलाब्जन्यास करना चाहिये। आधारशक्तिके मूलमें मूल, मूलके ऊपर कन्द तथा लम्बिका से कलातत्त्व तक दण्ड फिर मायात्मक ग्रन्थि और चतुष्किका[1] रूप शुद्धविद्या पद्म है। वहीं सदाशिव भट्टारक है। वही महाप्रेत है। प्रकर्ष पूर्वक (उसमें ही) लीन होनेके कारण और बोधके कारण प्रधानतः वेद्य रूप शरीरके क्षय हो जानेसे और नादके आमर्शके कारण (उसका महाप्रेतत्त्व सिद्ध है)।

शरीर, प्राण और बुद्धिमें शूलाब्जन्यासकी विधि-तन्त्रके कर्मकाण्डका ही एक प्रकार है। इसके विवरण कई तन्त्र ग्रन्थोंमें प्राप्त हैं। उन्हींका संक्षिप्तक्रम यहाँ दिया जा रहा है—

त्रिशूलकी चर्चा पिछले प्रकरणोंमें की जा चुकी है। यहाँ शूल कमलके न्यासकी विधि दिग्दर्शित है। शरीरमें आधार शक्तिकी अनुभूति साधकोंको निश्चित रूपसे होती है। उसे ही 'मूलाधार' कहते हैं। रीढ़की हड्डीमें 'मणिपूर' चक्रके लगभग चार अङ्गुल नीचे अर्थात् रीढ़के अन्त

---

१. मा० वि० ८/५५–८३

भागमें स्वयम्भूलिङ्गके नीचे धरा बीज प्रतिष्ठित है। जैसे पृथ्वीमें जड़ें फैलती हैं और वहींसे उन्हें रस मिलता है, उसीप्रकार मूलाधारके धरा बीजमें अनुभव करना चाहिये कि, यहाँ शूल कमलका मूल है। यही आधारशक्ति-मूलमें मूलका न्यास है। मूलमें कन्द होता है। उसका न्यास मूलके सार भागसे ऊपर होता है। वहाँसे, लेकर 'लम्बिका' तक कमल-नालका न्यास करना चाहिये। 'लम्बिका' तालुरन्ध्रका प्रतीक शब्द है। वहाँ एक लटकने वाला शिवलिङ्ग है, जिसे लम्बिका कहते हैं। नालमें तन्मात्रासे लेकर कलातत्त्व तककी प्रतिष्ठा है। इसे नालदण्ड या केवल 'दण्ड' भी कहते हैं। तन्मात्रायें और ५ महाभूत ५ चक्रोंमें योगियों द्वारा अनुभूत होते हैं। कुछ लोग नाभिके नीचे भी पंच महाभूतोंकी प्रतिष्ठा मानते हैं। 'कंद' के नीचे धरा, उसके ऊपर स्वाधिष्ठानका समुद्र, उसके ऊपर तेज, फिर वायु और आकाश आ जाते हैं। यही धराके ऊपरके ४ महाभूत ४ अङ्गुलमें प्रतिष्ठित माने जाते हैं।

नालदण्डके ऊपरी भागमें ग्रन्थि[1] (वृत्त या ढेंपी) होती है। यही मयात्मक गाँठ मानी जाती है। यह सभी पाशोंकी उत्पत्तिका स्थान है तथा निर्वैरपरिपन्थिनी है[2]। इसीमें कार्य-कारण सुख, दुःख ज्ञान आदिका निवास माना जाता है। इसीमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य आदिका निवास है[3]। माया ग्रन्थि पर ही चतुष्किका पद्म विकसित है। यही शुद्ध विद्या है[4]। इसमें नव शक्तियाँ और ईश्वर निवास करते हैं। इसीके ऊपर सदाशिव भट्टारक रहते हैं। उन्हींको महा-प्रेत कहते हैं[5]। प्रेतका अर्थ है—प्रकर्षपूर्वक उसीमें लीन होना। उसीमें लीन होने पर योगीको महाबोध उत्पन्न होता है। प्रधानतः इस अवस्था तक आते-आते समस्त वेद्य वर्ग विगलित हो जाता है। फिर नादानु-सन्धान होने लगता है। शुद्ध विद्यातक यह न्यास शूलाब्ज न्यास कहलाता है। एक प्रकारसे जैसे भगवान् शङ्करके हाथमें त्रिशूल हो और उससे समस्त शूलों (दुःखों) का नाश हो, उसी तरह इस अब्ज न्यासमें भी साक्षात् शङ्कर ही शूल कमलके रूपसे साधकके शरीरमें उल्लसित होते हैं।

---

१. स्व० १०/१० २. १०/११३९--४१ ३. स्व० १०/१०८९-१०९७
४. स्व० १०/११४२ ५. स्व० १०/११९०--१२२४

तन्नाभ्युत्थितं तन्मूर्धरन्ध्रत्रयनिर्गतं नादान्तवर्त्ति शक्ति-व्यापिनीसमनारूपमरात्रयं द्विषट्कान्तं, तदुपरिशुद्धपद्मत्रयम् औन्मनसम् एतस्मिन् विश्वमये भेदे आसनीकृते अधिष्ठातृतया व्यापकभावेन आधेयभूतां यथाभिमतां देवतां कल्पयित्वा यत् तत्रैव समस्वभावनिर्भरात्मनि विश्वभावार्पणं तदेव पूजनम्। यदेव तन्मयीभवनं तद्ध्यानं, यत् तथाविधान्तःपरामर्शसद्भाव-नादान्दोलनं स जपः। यत् तथाविधपरामर्शक्रम प्रबुद्धमहा-तेजसा तथाबलादेव विश्वात्मीकरणं स होमः, तदेवं कृत्वा परिवारं तत एव वह्निराशेर्विस्फुलिङ्गवत् ध्यात्वा तथैव पूजयेत्।

नाभिसे उठी, मूर्धाके तीन रन्ध्रोंसे निर्गत नादान्तर्वर्ती शक्ति, व्यापिनी और समनारूप तीन अरायें (द्विषट्) द्वादशान्त तक [वर्त्तमान हैं]। उनके ऊपर शुद्ध तीन कमल रूप उन्मना (है)। यह विश्वमय भेद (है)। इसमें आसनीकृत अधिष्ठाताके व्यापक भावसे आधेय भूत अपनी प्रवृत्तिके अनुसार इष्टदेवताकी कल्पना करनी चाहिये।

उस इष्टमें ही अर्थात् समस्वभाव निर्भर परमात्मतत्त्वमें ही इस समग्र भावका समर्पण (वास्तविक) पूजन है। तादात्म्य भाव ही ध्यान है। इस प्रकार अन्तः परामर्श सद्भावन करना (और उसीमें) आन्दोलित रहना 'जप' है। इस प्रकारके परामर्श क्रममें जागृत महातेज के बलसे स्वात्मका विश्वात्मीकरण ही होम है। इस प्रकारके अभ्याससे (एक आध्यात्मिक) परिवारकी (सृष्टि हो जाती है)। उसमें शैव ऊर्जाकी आग (धधकती है)। उससे स्फुलिङ्गोंकी जैसे उत्पत्ति होती है, उसी तरह ध्यान और ऐसी ही पूजा करनी चाहिये।

इस प्रसङ्गमें दो बातों का स्पष्टीकरण है। १-साधक अपने शरीरमें इष्ट की प्रतिष्ठाकरे और २-उसीकी पूजा, उसीका जप और उसीके तेजमें समाकर विश्वात्मकताका आकलन करे। यही सबसे बड़ी पूजा है।

शरीर चक्रमें नाभिसे निकला कमलनाल लम्बिका तक जाता ही है। वहाँसे शक्ति, व्यापिनी और समना तीन अरायें द्वादशान्त तक जाती हैं। द्वादशान्तके ऊपर उन्मनाके तीन कमल खिलते हैं। यह पूरा स्वरूप आसन बन जाता है। आसन आधार होता है। आधारमें आधेय होता है। वह आधेय ही अधिष्ठाता है-इष्ट है। यह साधनाका विषय है और शास्त्रसे, गुरुसे या इष्ट की कृपासे ज्ञात होता है।

इष्टसे सामरस्य स्थापितकर विश्वभावका उसमें अर्पण करना ही सच्ची पूजा है। तन्मयीभाव ही ध्यान है। तद्विषयक आन्तर परामर्शके स्पन्दनात्मक आन्दोलनसे आन्दोलित होना ही जप है। ऐसे महाभावमें रमणकरनेसे एक आध्यात्मिक ऊर्जाका महाप्रकाश उद्दीप्त हो जाता है। उसी प्रकाशमें स्वात्मैक्यदाढर्यसे एक प्रकार की विलक्षण शक्तिका प्रस्फुरण होता है। व्यक्ति विश्वात्मक भावसे ओतप्रोत हो जाता है। यही तान्त्रिक हवन है। आगजलने पर उससे छोटे छोटे अग्निकण निकलते हैं। इसी प्रकारका ध्यान आवश्यक है। साधक की ऐसी ही पूजा होनी चाहिए।

द्वादशान्तमिदं प्राग्रं त्रिशूलं मूलतः स्मरन्।
देवीचक्राग्रगं त्यक्तक्रमः खचरतां व्रजेत्॥

[रम त्रिशूल में, मूल से—द्वादशान्त-पर्यन्त।
चिति–चक्राश्रित त्यक्त–क्रम, खेचर बने तुरन्त॥]

(यह संग्रह श्लोक है। कही गयी बातोंका इसमें एकत्र संक्षिप्त कथन मात्र है)। यह शूलाब्जन्यास मूलसे द्वादशान्त पर्यन्त होता है। इसका स्मरण करता हुआ चैतन्यके अधिष्ठान चक्रोंमें साधक रमण करे। उसमें क्रमकी कोई आवश्यकता नहीं होती। ऐसी सिद्धि पा लेनेपर योगी आकाशचारी हो जाता है।

मूलाधाराद्विषट्कान्तव्योमाग्रापूरणात्मिका।
खेचरीयं खसंचारस्थितिभ्यां खमृताशनात्॥

[मूल सहित द्विषट्कतक पूर्ण पूर्णतः व्योम
स्थितिविहार-प्रद खेचरी अमृत पिलाती ओम्]

यह श्लोक भी संग्रह श्लोक है। मूलाधारसे द्वादशान्त तककी स्थितिके आगे आकाश है। उसमें स्थिति और बिहारकी शक्ति प्रदान करने वाली खेचरी मुद्रा होती है। उसीको सन्त साधक शून्य-गगन कहते हैं। वहाँ शून्यसे झरता अमृत पीकर साधक धन्य हो उठता है। यह साधनाकी प्रक्रियाका संकेतात्मक उल्लेख है। गुरु परम्परासे प्राप्त कर इसकी साधनासे मुमुक्षु जीवन्मुक्त हो जाता है।

एवम् अन्तर्यागमात्रादेव वस्तुतः कृतकृत्यता। सत्यतः तदाविष्टस्य तथापि बहिरपि कार्यो यागोऽवच्छेदहानाय एव। योऽपि तथा समावेशभाक् न भवति तस्य मुख्यो बहिर्यागः। तदभ्यासात् समावेशलाभो—यतस्तस्यापि तु पशुतातिरोधानाय अन्तर्यागः—तदरूढावपि तत्संकल्पबलस्य शुद्धिप्रदत्वात्।

इस प्रकार अन्तर्यागमात्रसे कृतार्थता (हो जाती है)। सचमुच स्वात्मसमावेश सिद्धका बाह्ययाग अवच्छेदमिटानेके लिये ही है। ऐसे साधकका बहिर्याग मुख्य नहीं होता। बहिर्यागके अभ्याससे समावेश लाभ (होता है) क्योंकि (सामान्य साधककी) पशुताके तिरोधानके लिये अन्तर्याग ही प्रधान साधन है। उसमें अभी रूढ़ि न होने पर भी उसके संकल्पके बलसे शुद्धि होती है।

यहाँ दो बातोंका स्पष्ट उल्लेख है—अन्तर्याग और २—बहिर्याग। अन्तर्यागसे साधक कृतार्थ हो जाता है। स्वात्मसमावेशका आनन्द उपलब्ध हो जाता है। ऐसे व्यक्तिके लिये बहिर्याग गौण होता है। सामान्य साधक भले ही अभ्यासके बलसे बहिर्यागसे समावेशकी दिशामें चले और अपनी पशुताका तिरोधान करे पर उसके लिये भी अन्तर्याग ही अनिवार्य है।

अथ यदा दीक्षां चिकीर्षेत् तदाधिवासनार्थं भूमिपरिग्रहं, गणेशार्चनं, कुम्भकलशयोः पूजां, स्थण्डिलार्चनं, हवनं च कुर्यात्। नित्यनैमित्तिकयोस्तु स्थण्डिलाद्यर्चनहवने एव। तत्र अधिवासनं शिष्यस्य संस्कृतयोग्यताधानम् अम्लीकरणमिव

दन्तानां, देवस्य कर्त्तव्योन्मुखत्वग्राहणम् । गुरोस्तद्ग्रहणम् । उपकरणद्रव्याणां यागगृहान्तर्वर्त्तितया परमेशतेजोबृंहणेन पूजोपकरणयोग्यतार्पणमिति ।

मुमुक्षु दीक्षाकी इच्छा होते ही उसके अधिवासके लिए १–भूमि-परिग्रह, २–गणेशार्चन, ३–कुम्भकलशकी पूजा, ४–स्थण्डिलपूजन और ५–हवन करे । नित्य और नैमित्तिक विधियोंमें स्थण्डिलपूजन और हवन ही (गृहीत) हैं ।

अधिवासनका अर्थ शिष्यमें संस्कृत-योग्यताका आधान है । दाँतोंके अम्ब्लीकरणकी तरह देवके कर्त्तव्यकी ओर उन्मुखताका ग्राहण, गुरु द्वारा उसका ग्रहण (भी है) । (पूजाकी) सामग्रीके द्रव्योंका यज्ञशालामें रखकर परमेश्वरके तेजके उपबृंहणसे (द्रव्योंमें) पूजाकी योग्यताका आधान भी है ।

सर्वप्रथम संसारकी विषमताका चिन्तन मुमुक्षुमें उत्पन्न होता है । उसके बाद दीक्षाकी आवश्यकताका अनुभव होता है । शिष्य गुरुके पास जाकर दीक्षा लेने की इच्छा करता है । इसे अधिवासन प्रक्रिया कहते हैं । भूमिका अधिग्रहण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । सदोष भूमिमें रहनेसे शरीर, मन और बुद्धि पर बुरा प्रभाव पड़ता है । इसलिये भूमि परिग्रहको दीक्षाका एक अंग ही माना जाता है । इसके बाद विघ्न विनिवारणके लिय गणेशकी पूजाकी जाती है । कुम्भ कलशकी पूजा भी आवश्यक है । वरुण तत्त्वकी प्रसन्नता इससे होती है । जिस वेदी पर बैठकर शिष्य अपने समस्त नियमोंका अनुशासनपूर्वक पालन करता है— उसकी पूजा भी आवश्यक है । उसके बाद आहुतिका विधान है । स्वच्छन्द-तन्त्रके पटल ३,४, और ११ में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है ।

नित्यनैमित्तिक कर्त्तव्योंमें भी स्थण्डिलकी पूजा और हवन आवश्यक कर्म माने जाते हैं । इतना कर्मकाण्ड अधिवासनकी योग्यताको बढ़ाता है । दाँतोंको शुद्ध करने के लिये जैसे अम्ब्लीकरण क्रिया की जाती है । अम्बष्ठा जिसे दन्तशठा भी कहते हैं—उससे आमलकके अम्ल प्रयोग द्वारा यह क्रिया की जाती है । इससे दाँतोंका संस्कार होता है ।

अणु से उदीप्त और संस्कृत, शिवत्त्वको प्राप्तकर लेनेवाला दिव्य देव आत्मा ही है। उसके कर्त्तव्यका ग्रहण करा देनेवाला संस्कार आवश्यक है। गुरु द्वारा ऐसे संस्कृत शिष्यका ग्रहण उसी समय होता है।

समस्त उपकरण (स्व० ३/४०-४७) भी परमेश्वरके तेजसे सम्पन्न दृष्टिसे देखे जाने पर दिव्य हो जाते हैं।

तत्र सर्वोपकरणपूर्णं यागगृहं विधाय भगवतीं मालिनीं मातृकां वा स्मृत्वा तद्वर्णतेजःपुञ्जभरितं गृहीतं भावयन् पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्। तत उक्तास्त्रजप्तानि यथासम्भवं सिद्धार्थधान्याक्षतलाजादीनि तेजोरूपाणि विकीर्य ऐशान्यां दिशि क्रमेण संघट्टयेत् इति भूपरिग्रहः। ततः शुद्धविद्यान्तमासनं दत्त्वा गणपतेः पूजाः ततः कुम्भम् आनन्दद्रव्यपूरितम् अलंकृतं पूजयेत्। ततो याज्यमनु पूगं न्यस्य तत्र मुख्यं मन्त्रं सर्वाधिष्ठातृतया विधिपूर्वकत्वेन स्मरन् अष्टोत्तरशतमन्त्रितं तेन तं कुम्भं कुर्यात्।

यज्ञशालाको सभी सामग्रियोंसे परिपूर्ण करके भगवती 'मालिनी' या 'मातृका' का स्मरण करना चाहिये। मातृकाके सारे वर्ण 'परावाक्' के परमप्रकाशसे प्रकाशमान होते हैं। उन्हीं तेजसे दीप्तिमन्त वर्णोंका भावन करते हुये और उनसे उपकरण द्रव्यों और पुष्पोंको भी दीप्त और भावित करते हुये पुष्पाञ्जलि देनी चाहिये।

इस क्रियाके अनन्तर अस्त्र (हूं फट्) मन्त्रोंसे दीप्त और अभिमन्त्रित सिद्धिप्रद पीला सरसों, धान्य और लावा आदिको बिखेरनेकी क्रिया करनी चाहिये (स्व० ३।६५) ईशान कोणमें उनको इकट्ठा कर लेना चाहिये। यह भू परिग्रहकी क्रिया दीक्षाके अधिवास प्रसङ्गमें अपना विशेष महत्त्व रखती है। लावा आदिको विकिर (मतङ्ग तन्त्र २।४) कहते हैं। इसमें तिल, यव, दूब, सरसों पीली, सफेद फूल (चन्दनपङ्कमें सने) और लावा रहते हैं।

अशुद्ध 'अध्वा' धरासे माया तककी आसनके रूपसे परिकल्पना कर उसपर गणपति (स्व० ३।४२, ४।३० मा० वि० ८।९०-९२) की पूजा करनी चाहिये। गणेश पूजनके उपरान्त मदिरासे परिपूर्ण घड़ेकी

पूजा पूरी श्रद्धाविधिसे होनी चाहिये। यहाँ एक छोटा सा न्यास है। जिसकी यजन किया है या जो यजनके योग्य है—वह याज्य है। पूगीफलको लाल धागेसे लपेटकर चावल पर स्वस्तिक बनाकर उसपर रखना पड़ता है। उसीपर याज्यका न्यासकर उसकी पूजा भी उसी प्रकार की जानी चाहिये।

इसके बाद मूलमन्त्रके जपका विधान है। मन्त्र ही सबका अधिष्ठान है। शिवरूप होनेके कारण उसमें अधिष्ठाताका भाव भी है। कुम्भ, याज्य और पूग विधानके बाद मूलमन्त्रका स्मरण (स्व० ३।७५) आवश्यक है। कुम्भ भी इसप्रकार चिन्मय हो जाता है। कमसे कम १०८ मन्त्र जप अनिवार्यतः आवश्यक है। मूल मन्त्र गुरु द्वारा प्राप्त करना चाहिये। वह रहस्यात्मक है। यहाँ उसका उद्घाटन हानिप्रद सिद्ध हो सकता है।

द्वितीयकलशे विघ्नशमनाय अस्त्रं यजेत्। ततः स्व दिक्षु लोकपालान् सास्त्रान् पूजयेत्। ततः शिष्यस्य प्राक् दीक्षितस्य हस्ते अस्त्रकलशं दद्यात्। स्वयं च गुरुः कुम्भमाददीत। ततः शिष्यं गृहपर्यन्तेषु विघ्नशमनाय धारां पातयन्तं सकुम्भोऽनुगच्छेत् इमं मन्त्रं पठन्—

भो भोः शक्र ! त्वया स्वस्यां दिशि विघ्नप्रशान्तये।
सावधानेन कर्मान्तं भवितव्यं शिवाज्ञया॥

दूसरे कलशमें विघ्न दूर करनेके लिए अस्त्र-पूजन करे। तत्पश्चात् सायुध लोकपालोंकी उनसे सम्बन्धित दिशाओंमें (वेदियों पर) पूजा करनी चाहिये। इसके बाद पहले दीक्षित शिष्यके हाथमें (उस) अस्त्र-कलशको दे। स्वयं गुरु उसे ग्रहण करे। पुनः यागगृहके किनारे-किनारे चारों ओर शिष्य कलशसे अविच्छिन्नधार छोड़ता हुआ चले और गुरु उसके साथ रहे। इसका यह मन्त्र है—मा० वि० ८।१०६

शक्र ! विघ्नकी शान्तिके, लिये, सजग स्वयमेव।
निजदिशिमें कर्मान्त तक, रहो शिवाज्ञा देव !

प्रथमतः कुम्भ स्थापन और पुनः उसके वाम भागमें कलश स्थापित होना चाहिये। इस कलशके साथ वार्धानी (स्व० ७८-८५) के प्रयोगका

भी विधान है। पहले वार्धानीसे ही चारों ओर जल गिरानेका क्रम वहाँ निर्दिष्ट है। तन्त्रसारका यह क्रम अलग है। लोकपालोंकी पूजा आज भी यज्ञोंमें विधिपूर्वक वैदिक विधिसे होती है। यहाँ तान्त्रिक विधिका प्रयोग है। गुरु शिष्य द्वारा अविच्छिन्न जलधाराके गिरानेके बाद स्वयं कुम्भ लेकर उसके पीछे अनुसरण करे। दीक्षित शब्दका प्रयोग भ्रामक है। अभी तो वह दीक्ष्य है। शिष्य दीक्षाके लिये अधिवासकर रहा है। इसलिये यहाँ 'दीक्ष्य' का ही प्रयोग होना चाहिये। अथवा दूसरा दीक्षित शिष्य अर्थ लिया जा सकता है, जो प्रकरणके अनुकूल नहीं है।

शक्रमन्त्रका अनुवाद कर दिया गया है। वह स्पष्ट है। किन्तु यह मात्र एक मन्त्र उचित नहीं है। सभी दिशाओंके लिये अलग-अलग लोकपालोंके नामोंके साथ उचित मन्त्र होना चाहिये। जैसे 'ॐ' शक्र पूर्वस्यां सन्निहितो भव नमस्ते, 'ॐ' अग्ने ! आग्नेय्यां दिशि सन्निहितो भव नमस्ते इत्यादि[1]।

त्र्यक्षरे नाम्नि-भो इत्येकमेव। तत ऐशान्यां दिशि कुम्भं स्थापयेद्। विकिरोपरि अस्त्रकलशम्। तत उभयपूजनम्। ततः स्थण्डिलमध्ये परमेशपूजनम्। ततः अग्निकुण्डम् परमेश्वर-शक्तिरूपतया भावयित्वा तत्र अग्निं प्रज्वाल्य हृदयान्तर्बोधाग्निना सह एकीकृत्य मन्त्रपरामर्श साहित्येन ज्वलन्तं शिवाग्निं भावयित्वा, तत्र न्यस्य अभ्यर्च्य मन्त्रान् तर्पयेत् आज्येन तिलैश्च। अर्घपात्रेण च प्रोक्षणमेव तिलाज्यादीनां संस्कारः।

भोः शक्र ! यही तीन अक्षरका सम्बोधन (उस श्लोकमें) है। अतः एक ही भोः रहना चाहिये (पहला नहीं)। गुरु लाकर ईशान कोणमें कुम्भ स्थापित करे। जहाँ 'विकिर' रखा गया है—उसपर अस्त्रकलश रखना चाहिये। फिर दोनोंकी पूजा होनी चाहिये। स्थण्डिल (वेदी) पर परमेश्वरकी पूजा होनी चाहिये।

---

१. स्व० ३।८९

इसके बाद अग्निकुण्डका क्रम है। अग्निकुण्ड (कुण्डलिनी रूप) परमेश्वरकी शिवशक्तिका प्रतीक है—ऐसी भावना करनी चाहिये। उसमें अग्नि प्रज्वलितकर हृदयमें जो ज्ञानाग्नि है; उससे उसका तादात्म्य आकलित कर, मन्त्र परामर्शके साथ जलते हुए शिवाग्निका भावन और मातृकामालिनीन्यास कर 'ॐ क्रिया शक्त्यात्मने कुण्डाय नमः' मन्त्रसे उसकी पूजा करनी चाहिये। घी और तिलसे मन्त्रोंका तर्पण यज्ञका आवश्यक अङ्ग है। अर्घपात्रके जलसे प्रोक्षण कर देनेसे घी और तिलका संस्कार हो जाता है।

श्लोकमें दो बार भोः का प्रयोग है। छन्दमें प्रयोग होने पर भी पूजामें एक ही भोः शब्दका प्रयोग होना चाहिये। गुरु कुम्भ लाकर ईशान कोणमें रख दे। अस्त्रकलश वहाँ रखना चाहिये, जहाँ विकिर द्रव्य ईशान कोणमें रखे हैं। इसके बाद पुनः उन दोनोंकी पूजा करनी चाहिये। वेदी पर प्रधानकी पूजा होती है। यहाँ परमेश्वर ही प्रधान है।

अपने हृदयमें बोध रूपी अग्नि प्रज्वलित है। कुण्डमें तत्काल प्रज्वलित संस्कृत[1] अग्निमें भी उसकी ऐक्य भावना करनी चाहिये। जलते अग्निकी तरह ही मन्त्रोंका परामर्श भी होता है। इनका भी तादात्म्य आवश्यक है। अर्घपात्रके जलसे आज्य और तिलोंको संस्कृत करके उन्हींसे मन्त्रोंको तृप्त करना चाहिये।

स्रुक् स्रुवयोश्च परमेशाभेददृष्टिरेव हि संस्कारः। ततो यथाशक्ति हुत्वा स्रुक्स्रुवौ ऊर्ध्वाधोमुखतया शक्तिशिवरूपौ परस्परोन्मुखौ विधाय समपादोत्थितो द्वादशान्त-गगनोदित-शिवपूर्णचन्द्र निःसृतपतत्परामृतधाराभावनां कुर्वन् वौषडन्तं मन्त्रम् उच्चारयन् च आज्यक्षयान्तं तिष्ठेत् इति पूर्णाहुतिः मन्त्र-चक्र सन्तर्पणी।

---

१. अग्नि वागीश्वरी पुत्र है। कुण्ड त्रिकोणमें उसका जन्म होता है। वहीं वह संस्कृत होता है।

स्रुक् और स्रुवा दोनोमें परमेश्वर-परमेश्वरी उभयकी अभेद दृष्टि ही (उनका) संस्कार है। पश्चात् यथाशक्ति हवन कर, स्रुक्को ऊपर मुँह और उसके ऊपर स्रुवाको नीचे मुख रखकर, उनमें शक्ति और शिव दोनों परस्पर उन्मुख हैं—ऐसी भावना करके बराबर पैर कर खड़ा होना चाहिये। सोचना चाहिये कि, द्वादशान्त गगनसे उदित शिवरूपी पूर्णचन्द्रसे निःसृत होकर अमृतकी धारा ही गिर रही है। वौषट् अन्त वाले मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए घीके समाप्त हो जाने तक खड़ा रहना आवश्यक है। यह पूर्णाहुति है। समस्त मन्त्र चक्रोंको तृप्त करती है।

इस दर्शनमें अभेद दृष्टिका ही प्राधान्य है। अन्तर्यागमें यह अभेद भाव पूरी तरह सिद्ध हो जाता है। जिसको ऐसी उच्च अनुभूति नहीं होती, उसे बहिर्याग अनिवार्यतः करना ही है। बहिर्यागकी स्थितिमें भी शक्ति-शिवसे पदार्थोंका अभेदभाव नितान्त आवश्यक है।

शक्ति रूप स्रुक् और शिव रूप स्रुवा इन दोनोंको परस्पर सम्मुखी-करणकी तरह नीचे ऊपर रखनेसे और अभेद दृष्टिसे मन पवित्र होता है। स्रुक् और स्रुवाका इससे संस्कार भी हो जाता है।

पूर्णाहुतिके समय स्वयं बराबर पैरकर खड़ा होना चाहिये। घीकी धारा जब अग्निमें गिरे तो यह भावना करनी चाहिये कि, द्वादशान्त विश्व गगनसे शिव रूपी सोमसे निःसृत सुधाकी धार ही गिर रही है। अन्तर्यागमें अपने शरीरके द्वादशान्तसे ऐसी धाराकी भावनाकी जाती है।

पूरा घी समाप्त होने तक वौषट् अन्तवाले निर्धारित मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए यह क्रिया सम्पन्न होती है। यही पूर्णाहुति है। उससे मन्त्रोंका सारा समूह तृप्त हो जाता है।

ततश्चरुं प्रोक्षितमानीय स्थण्डिलकलशकुम्भवर्द्धिषु भागं-भागं निवेद्य एक भागमवशेष्य शिष्याय भागं दद्यात्। ततो दन्तकाष्ठम्। तत्पातोऽग्नि-यम-निर्ऋतिदिक्षु अधश्च न शुभ इति। तत्र होमोऽस्त्रमन्त्रेण कार्यः। ततो विक्षेपपरिहारेण भाविमन्त्र-दर्शन योग्यतायै बद्धनेत्रं शिष्यं प्रवेश्य जानुस्थितं तं कृत्वा

पुष्पाञ्जलिं क्षेपयेत् । ततः सहसा अपासितनेत्रबन्धोऽसौ शक्ति-पातानुगृहीतकरणत्वात् संन्निहितमन्त्रं तत्स्थानं साक्षात्कारेण पश्यन् तन्मयो भवति । अनुगृहीत-करणानां मन्त्रसन्निधिः प्रत्यक्षः यतस्त्रस्यताम् इव भूतानाम् ।

(इसके बाद चरु पाक होता है) प्रोक्षित चरु लाकर स्थण्डिल, कलश-कुम्भ और अग्निमें एक-एक भाग निवेदन कर अवशिष्ट भाग शिष्यको देना चाहिये । (विधानतः चरुके तीन भाग करे । प्रथम भाग स्थण्डिल पर विराजमान शिवको, द्वितीय अग्निमें और तृतीय साधकको देय है । स्व० ३।११४–११५ प्रथम भागमें भी १० भाग कर, उसकी पूजा कर प्रत्येक भाग आवरण देवताओंको निवेदन करे । उसीमेंसे कलश पर भी निवेदित करना चाहिये) यह निर्देश है ।

इसके बाद दन्तधावनसे मुख पवित्र करे । (यह तन्त्रालोककी विधि है । स्वच्छन्द तन्त्रमें चरु प्राशनके बाद दूसरी विधि वर्णित है । वहाँ विनायककी चरुके बाद विशेष प्रायश्चित आदिका विधान है) चीरी अग्नि, दक्षिण, नैऋत्य और नीचे नहीं फेंकनी चाहिये । इसके बाद होम करना चाहिये ।

इसके बाद भावी मन्त्र-दर्शनकी योग्यताके लिये शिष्यकी आँखों पर पट्टी लगाकर गुरु उसे पुनः प्रवेश दे । उसे बज्रासनसे बिठावे । अंजुलियोंमें पुष्प देकर प्रक्षिप्त करावे । पुनः एकब एक आँखको पट्टी खोल दे । वह यह अनुभव करे कि, हमारी सारी इन्द्रियाँ शक्तिपात-पवित्रित हो चुकीं है । मन्त्रोंके सन्निधानमें उस स्थानका साक्षात्कार करे और तन्मय हो जाये । इन्द्रियाँ जब मन्त्र सन्निधानसे अनुगृहीत हो जाती हैं, तो एक प्रकारका दिव्य तादात्म्य लाभ और तृप्ति होती है । (भूत आदिसे) भयभीत प्राणी पर मन्त्र सन्निधान होने पर वह प्रत्यक्ष ही गिर पड़ता है या तन्मय (दीख पड़ता है) । उसी तरह दीक्ष्य भी स्वात्म सत्तामें सहसा दिव्यताका समावेश होनेसे तन्मयको तरह आविष्ट हो जाता है ।

यहाँ जिन विधियोंका वर्णन है—उसमें चरु पाक, चरु प्रोक्षण, चरु भाग और उनका निवेदन, दन्तधावन, चीरी फेंकनेकी दिशा, होममें अस्त्र

मन्त्रका प्रयोग, विक्षेपके निराकरणके लिये तथा दीक्ष्यकी भावी मन्त्र-दर्शनकी योग्यता के लिये नेत्र विधान, बद्धनेत्रदशामें उसके द्वारा पुष्पाञ्जलिका प्रक्षेपण, फिर, सहसा आँखोंकी पट्टीका अपासन, यज्ञगृह-स्थानका प्रत्यक्ष अवलोकन, उनसे तादात्म्य, इन्द्रियोंमें अनुग्रहका आकलन एवं मन्त्रके बलसे भूतपीड़ित प्राणियोंकी शक्तिकी तरह दीक्ष्यकी शान्ति आदि हैं।

यह सारे विधान वैदिक कर्मकाण्डके ही अनुरूप हैं। अन्तर यह है कि, वैदिक कर्मकाण्डमें द्वैतका भेद भूधर बड़ासे बड़ा होता चला जाता है। यहाँ इस भेदभूधरको सत्तर्ककी कुठारसे काट डालते हैं। शिवैक्यदार्ढ्यसे तादात्म्यानुभूतिके माध्यमसे दीक्षा प्राप्त शिष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। यहाँ अन्तर्यागकी सिद्धिके लिये ही बहिर्याग विहित माना जाता है।

ततः स्वदक्षिणहस्ते दीप्यतया देवताचक्रं पूजयित्वा तं हस्तं मूर्धहृन्नाभिषु शिष्यस्य पाशान् दहन्तं निक्षिपेत्। ततो वामे सौम्यतया पूजयित्वा शुद्धतत्त्वाप्यायिनं, ततः प्रणामं कुर्यात्। ततो भूतदेवतादिग्बलिं मद्यमांसजलादिपूर्णं बहिर्दद्यात्, आचामेत। ततः स्वयं चरुभोजनं कृत्वा शिष्यात्मना सह ऐक्यमापन्नः प्रबुद्धवृत्तिः तिष्ठेत्।

इसके बाद गुरु अपने दाँयें हाथमें देवता चक्रका वामहस्तसे पूजन करे। उस हाथको शिष्यके शिर हृदय, और नाभिको इस दृष्टिसे स्पर्श करे कि, शिष्यके सभी पाशनष्ट हो गये।

पुनः बाँयें हाथमें शुद्ध तत्त्वसे आप्यायित शक्ति तत्त्वका पूजन करना चाहिये। अब शिष्य प्रणाम करे (और आशीर्वाद प्राप्त करे[1] तथा गुरु दोनों हाथोंसे उसे उठावे।)

इसके बाद बलिकर्म करे। बलिमें मद्य, मांस, और जलका प्रयोग करे और बाहर दे। फिर आचमन करे। फिर स्वयं चरु भोजन करे। गुरुदेवके साथ ही यह भोजन क्रिया सम्पन्न हो। गुरु शिष्यकी ऐक्य भावनासे शिष्यकी प्रवृत्तियोंका त्वरित जागरण हो जाता है।

---

१. स्व० ३/१२९, १४२

इस विधिका नाम 'शिवहस्त विधि' है। दीक्षाके प्रसङ्गमें इसका बड़ा आशीर्वादात्मक और शक्ति जागरणात्मक महत्त्व है। यों तो गुरु साक्षात् शिव स्वरूप होता ही है फिर भी दीक्षाको पूर्णता प्रदान करनेके लिये अपने ही दक्षिण हाथमें अपने बाँये हाथसे ही शक्तिको उद्दीप्त करनेके लिये देवताचक्रकी पूजा करनी चाहिये। यह पूजा समस्त अध्वाकी पूरक होती है और दिव्यताको उद्दीप्त करती है।

इस उद्दीप्त शक्तिमन्त हाथसे शिष्यके शिर, हृदय और नाभिका आलभन करना चाहिये। इससे शिष्यकी चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ उद्दीप्त हो जाती हैं। क्योंकि गुरुके दाहिने हाथमें जिस देवता चक्रकी पूजा होती है, उनमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिवकी प्रधानतः प्रतिष्ठा होती है। गुरुकी अंगुलियाँ भी अंगुष्ठ-चित्, तर्जनी–आनन्द, मध्यमा–इच्छा, अनामिका–ज्ञान और कनिष्ठिका–क्रिया रूप होती हैं। इसप्रकार गुरुके हाथसे दीक्ष्यके अंगोंका स्पर्श उसे शक्तिमन्त बनानेमें पूर्ण समर्थ होता है।

गुरुका बाँयाँ हाथ सोम तत्त्वसे विभूषित है। दक्षिण हस्त सूर्य तत्त्व है। सोमतत्त्व सबको आप्यायित करता है। अतः उसकी पूजा भी करनी चाहिये। इस प्रकार 'अग्निसोमात्मकं जगत्' का वैदिक उद्घोष तान्त्रिक प्रक्रियामें भी महत्त्वपूर्ण है। शिष्यका स्पर्श उसके पारमेश्वर स्वभावको उद्दीप्त कर देता है [1]। शिष्य प्रणाम करता है। आशीर्वाद प्राप्त करता है और धन्य हो उठता है।

बलिकर्म यज्ञका एक प्रमुख अंग है। प्रणामके बाद शिष्यको बलि-प्रदान करनेकी आज्ञा गुरु प्रदान करता है। यह बलि–तीन प्रकारकी होती है—भूतबलि २—देवताबलि ३—दिग्बलि। इसमें मद्य, मांस और जलका प्रयोग होता है। बलि यज्ञगृहके बाहर करनी चाहिये। पश्चात् आचमन करना चाहिये।

बलिकर्म और आचमनके बाद गुरु और आत्मरूप शिष्य साथ ही चरुका भोजन करें। चरु प्राशनके बाद शयनका और व्यवहारका विधान है। गुरु शिष्यकी एकात्मकता यहाँ प्रतिष्ठित हो जाती है। वृत्तियोंमें जागरणका मन्त्र जीवनरसका संचार करता है। वृत्तियाँ उद्बुद्ध हो जाती हैं। गुरु शिष्यका यह स्वरूप सचमुच संसारमें अन्यत्र दुर्लभ है।

---

१. स्व० ३।१४३

स्वपन्नपि प्रभाते शिष्यः चेत् अशुभं स्वप्नं वदेत्, तत् अस्मै न व्याकुर्यात् । शङ्कातङ्कौ हि तथाऽस्य स्याताम्, केवलम् अस्त्रेण तन्निष्कृतिं कुर्यात् । ततस्तथैव परमेश्वरं पूजयित्वा तदग्रे शिष्यस्य प्राणक्रमेण प्रविश्य हृत्-कण्ठ तालु-ललाट-रन्ध्र द्वादशान्तेषु षट्सु कारणषट्कस्पर्शं कुर्वन् प्रत्येकमष्टौ संस्कारान् चिन्तयन् कंचित्कालं शिष्यप्राणं तत्रैव विश्रमय्य पुनरवरोहेत् । इत्येतापादिताष्टाचत्वारिंशत्-संस्कारोपरि कृतरुद्रांशापत्तिः समयी भवति ।

सोने पर प्रभातके समय शिष्य यदि अशुभ स्वप्न देखे, तो गुरुसे निवेदन करे । गुरु उससे स्वप्नकी व्याख्या न करे । उससे शिष्यके मनमें शङ्का और आतङ्क होंगे । केवल मूल मन्त्रसे उसकी निष्कृति कर देनी चाहिये ।

तदनन्तर उसी प्रकार परमेश्वरकी पूजा करनी चाहिये । पूज्यके सामने ही शिष्यके प्राणके क्रमसे उसके भीतर प्रवेश करना चाहिये । यह प्राण-प्रवेश-विधि है । पहले हृदय फिर कण्ठ, फिर तालु, तालुसे ललाट, ललाटसे ब्रह्मरन्ध्र और वहाँसे द्वादशान्त तक प्रवेश कर उनमें रहने वाले कारण षट्कका स्पर्श भी आवश्यक है । प्रत्येकमें आठ-आठ संस्कारोंका चिन्तन करना चाहिये । कुछ समय तक शिष्यके प्राणको उस स्तर पर विश्राम कराकर पुनः अवरोह क्रममें उसे साँसके स्तर पर लाना चाहिये । इस प्रकार शिष्य ४८ संस्कारोंसे युक्त हो जाता है । उस पर जब रुद्रांशकी आपत्ति होती है, तब वह समयी होता है ।

अशुभ स्वप्न बड़े भयङ्कर और हानिप्रद होते हैं । शिष्य जिस प्रकार गुरुसे अशुभ स्वप्नोंकी चर्चा करे—गुरुका कर्त्तव्य है कि, वह शिष्यसे उसका विश्लेषण न करे । अशुभ स्वप्नोंके कुछ प्रमुख स्वप्न इस प्रकार हैं—तैलाभ्यंग, तैलपान, रसातल-प्रवेश, अन्धकूपमें प्रवेश, अन्धकूपमें पतन, पङ्कमें फँसना, पेड़-सवारी या रथसे गिरना, पहाड़ और छतसे पतन, कान, नाक, हाथ, पाँवोंका कटना, दाँत-केशोंका गिरना, भालु और वानरोंका देखना, वेताल राक्षसादिका दर्शन, लाल आँखकी काली स्त्रीका

दर्शन, घरद्वार ढहना, शय्या वस्त्र-आसन आदिका टूटना, चोरी, गधा, ऊँट, कुत्ता, सियार, कङ्क, गीध, बक, काक, उलूक महिष आदि पर चढ़ना पका मांस खाना, खूनका अनुलेपन, काला लालवस्त्र, अपना ही मांस काला काले साँप द्वारा मांस खाना या विवाह आदि। इन स्वप्नोंके दर्शन से सिद्धि कोसों दूर है—यह अनुभव हो जाता है। फिर भी गुरु शक्तिका उत्स होता है। वह मूल अस्त्र मन्त्रसे या अन्य विधानोंसे अशुभ स्वप्न-दर्शनके कुफलका निराकरण कर देता है।

स्वप्नकी प्रक्रियाके अनन्तर गुरुका गौरव अपनी चरमसीमाका स्पर्श करता है। शिष्यके जीवनके निर्माणमें इस प्राण प्रवेश प्रक्रियाका अपना विशेष महत्त्व है। शिवके पूजनके उपरान्त शिष्यको शक्तिपात सम्पन्न बनानेका यह सबसे महान् उपक्रम है।

गुरु शिष्य में प्रथम इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियों में प्रवेशकर उसे संस्कार सम्पन्न बनाता है। फिर प्राणके क्रमसे हृदय देशमें प्रवेश करता है। यह अनाहत चक्रका स्थान है। यहाँ वायु बीज विद्यमान है। गुरु उसमें रहनेवाले दोषोंको अपने तेजसे जला डालता है। फिर वह कण्ठमें विशुद्ध चक्रसे ब्रह्मबिल होते हुए आज्ञा चक्रके स्तर पर शिष्यका परिशोधन करता है। वहाँसे ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) और द्वादशान्त तककी आध्यात्मिक यात्रा करता है।

ये छः स्थान कारणके स्थान हैं। १–ब्रह्मा, २–विष्णु ३–रुद्र ४–ईश्वर ५–सदाशिव और शिव यही ६ कारण हैं। यही हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और द्वादशान्तमें रहते हैं। गुरु इन सबका स्पर्श करता और शिष्यकी गुणवत्ताको जागृत कर देता है। प्रत्येक स्थानके आठ-आठ संस्कारोंके क्रमसे ६ × ८ = ४८ संस्कारोंसे शिष्यको सम्पन्न कर देता है। उसके प्राणोंका समायोजन करता है। उसे कुम्भककी स्थितिमें रखकर पुनः अवरोह क्रमसे वह आध्यात्मिक रूपसे शक्त बनाकर स्वात्म चमत्कार से चमत्कृत कर देता है।

इस प्रकार शिष्यके ऊपर ४८ संस्कारों[1] का प्रभाव स्वतः सम्पन्न हो जाता है। अब उसके ऊपर रुद्रांशका शक्तिपात हो जाता है। शक्तिपात

---

१. स्व० १०।३८६-४११, ४/७६

सम्पन्न होनेपर वह समयी हो जाता है। उसमें तीन बातें स्पष्ट आ जाती हैं। १–जात्युद्धार, द्विजत्वकी प्राप्ति और रुद्रांशके शक्तिपातकी सम्पन्नता। शिष्यको सारी चर्या संस्कार सम्पन्न हो जाती है। इन सबमें गुरुका महत्त्व सर्वोपरि है। वह दीक्ष्यको वस्तुतः द्विज बना देता है।

इन संस्कारोंसे सम्पन्न शिष्य अब समयी बनता है। समयका सामान्य अर्थ शर्त्त है। दो व्यक्ति या बहुत सारे व्यक्तियोंमें कुछ नियमोंके अनुपालन के जो निश्चय होते हैं—वे भी समय कहलाते हैं। समयका दूसरा अर्थ-कालसे सम्बन्धित है। समयके विशाल अर्थमें अवस्था, वातावरण और स्थिति सभी अर्थ निहित हैं। इस दर्शनमें समयका एक तीसरा अर्थ है। दीक्ष्य जब संस्कार सम्पन्न हो जाता है, उसे विशिष्ट नियमोंका पालन करना अनिवार्यतः आवश्यक होता है। वे नियम ही समय हैं और वह शिष्य समयी।

४८ संस्कारोंके नाम—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, व्रतबन्ध, ऐष्टिक, पार्विक, भौतिक, सौमिक, गोदान, उद्वाह, अष्टका, पार्वणी, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रायणी, चैत्री, आश्वयुजी, आग्नेय, अग्निहोत्र, दार्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध, सौत्रामणि, अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिका, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम, हिरण्यपाद; अश्वमेध, वानप्रस्थ पारिव्राज्य, दया, क्षान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल्य, अकार्पण्य, अस्पृहा।

ततः अस्मै पूज्यं मन्त्रं पुष्पाद्यैः सह अर्पयेत्। ततः समयान् अस्मै निरूपयेत् गुरौ सर्वात्मना भक्तिः, तथा शास्त्रे–देवे, तत्प्रतिद्वन्द्विनि पराङ्मुखता, गुरुवत् गुरुपुत्रादेः विद्यासम्बन्ध–कृतस्य तत्पूर्वदीक्षितादेः संदर्शनम् यौन-सम्बन्धस्य तदाराध–नार्थम्, न तु स्वत इति मन्तव्यम्।

स्त्रियो वन्ध्यायास्तज्जुगुप्सा हेतुं न कुर्यात्। देवतानाम गुरुनाम तथा मन्त्रं पूजाकालात् ऋते न उच्चारयेत्। गुरूपभुक्तं शय्यादि न भुञ्जीत। यत्किञ्चित् लौकिकं क्रीडादि तत् गुरुसन्निधौ न कुर्यात्। तदव्यतिरेकेण न अन्यत्र उत्कर्ष-बुद्धिं कुर्यात् सर्वत्र श्राद्धादौ गुरुमेव पूजयेत्।

इसके बाद शिष्यको 'मन्त्र' (गुरुमन्त्र) देना चाहिये। उसके साथ पुष्प[1] फल प्रसाद आशीर्वाद आदि अर्पित करना चाहिये। अब उसे समयोंका निर्देश करे—गुरुमें सर्वात्मना भक्ति, शास्त्रों और देवोंमें भी उसी तरह, उसके प्रतिद्वन्द्वीमें पराङ्मुखता, गुरुकी तरह गुरु-पुत्र आदिमें (श्रद्धा), सहपाठी जिससे विद्या सम्बन्ध हो अथवा पहले दीक्षित हो (उसे भी गुरुवत् देखना चाहिये) गुरुपुत्र यौनसम्बन्धसे (उत्पन्न हैं—यह भाव) केवल उनकी प्रतिष्ठाके लिये (यथावसर व्यक्त करे) स्वतः नहीं। वन्ध्या-स्त्री (भी पूज्य है) उससे घृणा न करे।

देवता और गुरुके नाम तथा मन्त्रका उच्चारण पूजाके अतिरिक्त दूसरे समय न करे। गुरुकी शय्या पर न सोवे। लौकिक खेल आदि व्यवहार गुरुके सामने न करे। उसके अतिरिक्त दूसरा उत्कृष्ट है—ऐसा भाव मनमें न लावे। सर्वत्र श्राद्ध आदि अवसरों पर गुरुकी ही पूजा करे।

वह शिष्य समयी हो जाता है-यह निर्देश ग्रन्थकारने किया है। उसके बाद जैसे यजमानको आशीर्वाद देते हैं, समयी दीक्ष्यको भी उसी समय 'मन्त्र' देना चाहिये। उसे पुष्प फलप्रसाद आदि अर्पित करना चाहिये, अब वह उपदेशका अधिकारी हो जाता है। उसके लिये समयका निरूपण कर देना चाहिये। समयके नियमोंके अनुसार ही उसकी चर्याका क्रम आवश्यक है।

परमेश्वर शास्त्रकी मर्यादाका आवर्त्तन उसका कर्त्तव्य हो जाता है[2]। चर्या और ध्यान आदिसे वह विशुद्धात्मा बन जाता है। अन्तमें ऐश्वर पदकी प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। कुछ लोगोंका इसमें मतभेद है। वे कहते हैं कि, समयीकी दीक्षाके अन्तमें साधक पुत्रक-दीक्षा अथवा भुवन-दीक्षाका अधिकारी होता है।

जहाँतक समयके नियमोंका सम्बन्ध है— इसमें दो प्रकारके दृष्टिकोण काम करते हैं। प्रथम दृष्टिकोण भुक्तिकामी साधकोंका है और दूसरा मुक्तिफलाभिलाषियोंका है।

---

१. स्व० ४।५००-५०१

२. स्व ४।७८

जो समयी होता है—वह अनेक नियमोंका पालन करता है। गुरु उससे यह पूछते भी हैं कि, तुम बुभुक्षु रहोगे या मुमुक्षु ? बुभुक्षुको भोगकी दीक्षा और मुमुक्षुको मोक्षकी दीक्षा दी जाती है। मन्त्र भी वासनाके अनुसार ही फल देते हैं।

साधक दो प्रकारके होते हैं। १–शिवसाधक २–लोकधर्मस्थ। मुमुक्षु भी दो प्रकारका होता है। १—सबीज २—निर्जीव। निर्बीज दीक्षामें किसी समयकी कोई विधि नहीं होती, निषेध भी नहीं होता।

समय दीक्षाके प्रसङ्गमें यह तथ्य भी द्रष्टव्य है। समय निम्नलिखित हैं—सर्वप्रथम गुरुदेवमें भक्ति, शास्त्र और दीक्षा तथा देवोंमें श्रद्धा आवश्यक है। गुरुदेवके प्रतिद्वन्द्वीके पराङ्मुख रहना है। गुरुपुत्र और जिनसे विद्या सम्बन्ध है तथा जो पहलेसे ही दीक्षा प्राप्तकर चुके हैं–सबका समादर आवश्यक है।

जहाँतक यौन सम्बन्धोंका प्रश्न है–गुरुकी तृप्ति ही, उसका आराधन ही मुख्य है। स्वतः उसमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। अथवा गुरुपुत्रोंके परिचयके प्रसङ्गमें ही गुरुके यौन सम्बन्धकी (कि, ये उनके पुत्र हैं आदि) चर्चा होनी चाहिये। स्वतः इसका उल्लेख नहीं होना चाहिये।

बाँझ स्त्रियोंके प्रति लोगोंके मनमें दुर्भाव होते हैं। परन्तु समयीको ऐसा नहीं करना चाहिये। केवल पूजाके समय ही देव और गुरुके नाम लेना चाहिये। 'मन्त्र' का उच्चारण भी पूजाके समय ही किया जा सकता है! इसके अलावे नहीं।

जिस शय्यापर गुरुदेव शयनकर चुके हों या उसका उपयोग कर रहे हों–उसका उपयोग शिष्यको नहीं करना चाहिये। लौकिक खेल आदि जिससे उद्दण्डता व्यक्त होती हो, गुरुके समीप नहीं खेलना चाहिये। गुरुसे बढ़कर किसीको उत्कृष्ट नहीं मानना चाहिये। श्राद्ध आदि सभी अवसरों पर गुरुकी पूजा सर्वप्रथम होनी ही चाहिये।

सर्वेषु च नैमित्तिकेषु शाकिनीत्यादिशब्दान् न वदेत्। पर्वदिनानि पूजयेत्। वैष्णवाद्यैरधोदृष्टिभिः सह संगतिं न कुर्यात्। एतच्छासनस्थान् पूर्वजातिबुद्धया न पश्येत्। गुरुवर्गे गृहागते यथाशक्ति यागं कुर्यात्। अधोमार्गस्थितं कंचित्

वैष्णवाद्यं तच्छास्त्रकुतूहलात् गुरूक्तयापि त्यजेत् । तदापि न उत्कर्षबुद्धया पश्येत् । लिङ्गिभिः सह समाचारमेलनं न कुर्यात्, तान् केवलं यथा शक्ति पूजयेत् । शङ्कास्त्यजेत् । चक्रे स्थितश्च-रमाग्र्यादिविभागं जन्मकृतं न संकल्पयेत् । शरीरात् ऋते न अन्यत् आयतन-तीर्थादिकं बहुमानेन पश्येत् । मन्त्र-हृदयम् अनवरतं स्मरेत्, इत्येवं शिष्यः श्रुत्वा प्रणम्य अभ्युपगम्य गुरुं धनदारशरीरपर्यन्तया दक्षिणया परितोष्य पूर्वदीक्षितांश्च दीना-नाथादिकान् तर्पयेत् । भाविविधिना च मूर्तिचक्रं तर्पयेत् ।

सभी प्रकारके नैमित्तिक कार्योंमें 'शाकिनी' इत्यादि शब्दोंका उच्चारण नहीं करना चाहिये । जितने भी पर्वके दिन होते हैं–उसमें विशेष पूजन करना चाहिये । वैष्णव आदि मतवादी साधकोंको दृष्टि उच्च नहीं मानी जाती । वे अधोदृष्टिवाले माने जाते हैं क्योंकि वे अमोक्षमें ही मोक्षकी लिप्सासे भ्रान्त होते हैं । इन लोगोंके साथ संगति नहीं करनी चाहिये । इस शास्त्रके अनुशासनमें प्रतिबद्ध दीक्षित शिष्योंको वे पहले किस जातिमें थे–कौन थे– इस भावनासे व्यवहार नहीं करना चाहिये । गुरु-वर्गसे यदि कोई भी घर आ जाय, तो अवश्य ही यथाशक्ति उत्सव मनाना चाहिये तथा यज्ञका आयोजन करना चाहिये ।

निम्नदृष्टि वाले वैष्णव आदि गुरुसे उनके शास्त्रज्ञानके कौतूहल या आकर्षणसे यदि मन्त्र भी ले लिया हो—तो उसका परित्याग कर देना चाहिये । छोड़नेके बाद उन्हें ऊँची या श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये । लिङ्गकी पूजा करने वालों, लिङ्गकी उपासना करने वालों और लिङ्गकी छाप लगाने वालोंसे आचारका मेलन नहीं करना चाहिये । यथाशक्ति उनकी सत्क्रिया करनी चाहिये । सारी शङ्काओंका परित्याग कर देना चाहिये । अटल विश्वास और दृढ़ आस्थासे शङ्कायें अपने आप नष्ट हो जाती हैं । उनका उत्तर मिल जाता है । चक्रमें स्थित साधकका यह कर्त्तव्य है कि, वह ऊँच-नीच जन्मका अन्तर अपने ध्यानमें न आने दे ।

शरीर ही सबसे बड़ा तीर्थ और देवायतन है—यह सोचकर देवस्थानों और तीर्थोंकी यात्राको महत्त्व नहीं देना चाहिये। मन्त्रको हृदयमें दृढ़ निष्ठासे रखकर स्मरण करना चाहिये। गुरुसे इस प्रकार उपदेशोंको सुनकर प्रणाम करे, उनका अभ्युपगमन करे अर्थात् हर तरह उनकी आत्मीयता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

धन, स्त्री और शरीर सबका अर्पणकर भी इस दक्षिणासे भी यदि गुरु सन्तोष प्राप्त करे, तो उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिये। साथ ही पहले ही अपने गुरुदेवसे दीक्षाप्राप्त गुरुभाइयों, दीनों और अनाथों को तृप्त करना चाहिये। यह सारे नियम समयचर्या से सम्बद्ध हैं। भविष्य में किस प्रकार मूत्तिचक्रका तर्पण किया जायेगा—यह गुरु उसे बता चुके हैं। उसी विधिसे मूत्तिचक्रका तर्पण होना चाहिये। शिष्य कब मूर्ति बनता है और किस प्रकार उसके चक्र भेदनकी क्रिया होती है तथा चक्र स्थित कारण देवगणकी कैसे साधनाकी जाती है—यह समयीको ज्ञात रहता है। समयी बन जाने पर ऐसा करना अनिवार्यतः आवश्यक है।

इत्थं समयी भवति। मन्त्राभ्यासे नित्यपूजायां श्रवणेऽध्ययने अधिकारी, नैमित्तिके तु सर्वत्र गुरुमेव अभ्यर्थयेत्, इति सामयिको विधिः।

अध्वानमालोच्य समस्तमन्तः पूर्णं स्वमात्मानमथावलोक्य।
पश्येदनुग्राह धिया द्विषट्क–पर्यन्तमेवंसमयी शिशुः स्यात्॥

करते हुए अध्व-विश्लेषण, मनमें पूर्ण स्वात्म समान
शिवका कृपा पात्र समयी शिशु द्वादशान्तपर्यन्त-समान
सजग देखता रहे तभी वह, कर सकता है स्वात्मोत्कर्ष
नित्य निमित्त कर्मके साक्षी, गुरु यह अनुभव करे सहर्ष!

इस प्रकार आचरण करनेसे और नियमोंके अनुपालनसे शिष्य समय-दीक्षित होता है और समयी कहलाता है। समयी पुरुष मन्त्रोंके अभ्यासमें नित्यपूजामें, शास्त्र श्रवणमें, शास्त्रके अध्ययनमें अधिकारी होता है। नैमित्तिकमें तो सर्वत्र गुरुकी ही अभ्यर्थना करनी चाहिये। यह विधि सामयिक विधि है।

समय दीक्षाका प्रसङ्ग यहाँ समाप्त हो रहा है। ऊपर कहे नियमोंका अनुपालन करना शिष्यके लिये अनिवार्य है। समय दीक्षासे समयीको इस शास्त्रके स्वाध्याय मनन-चिन्तनका अधिकार प्राप्त होता है। चाहे वह नित्य कर्म हो या नैमित्तिक कर्म, सर्वत्र गुरुकी अभ्यर्थनाका ही महत्त्व है। गुरुकी सेवामें दक्षिणाके रूपसे सर्वस्व समर्पणका महाभाव आजके भौतिकवादी युगको भले अच्छा न लगे, किन्तु गुरुके सर्वोच्च स्वरूपका ध्यान करते हुए यह अविधेय नहीं है। हाँ कामी या अर्थ लोलुप ही दुर्भाग्यवश गुरु मिल जाय, तब तो दूसरी बात है। ऐसे गुरुके लिये यह बातें लिखी हो नहीं गयी हैं। यह तो ऐसे गुरुकी बात है—

जो साक्षात् शिव है—स्वात्मसंविद् विमर्शका प्रतीक है। उसके सामने धन, स्त्री और इस तुच्छ भौतिक शरीरकी बिसात ही क्या है? भैरवीभावमें शाश्वत अवस्थित साक्षात् शिव स्वरूप गुरुदेवके सम्बन्धमें इस प्रकारकी ओछी बातोंका सोचना अपनी ही हीनवृत्तिका द्योतक है। इस सामयिक विधिको पूर्ण करनेके बाद संग्रह श्लोकका उपक्रम एक साथ ही वास्तविकताको आत्मसात् करनेकी प्रक्रियाको प्रदर्शित करता है। ग्रन्थकार हमारा ध्यान इन बातोंकी ओर आकृष्ट कर रहे हैं—

१—अध्वाका चिन्तन आवश्यक है। क्या अशुद्ध अध्वा है और क्या शुद्ध अध्वा है—यह आलोचन करना चाहिये, जिससे यह ज्ञान रहे कि, क्या हेय है? और क्या उपादेय है।

२—हृदयमें हृदयसे निरन्तर यह आकलन करना चाहिये कि, मैं स्वयं समग्रतया सम्पूर्ण महेश्वर स्वरूप हूँ। अपनेको कभी भी इदन्तावच्छिन्न अशुद्ध अहम्का अभिमानी अणु नहीं मानना चाहिये।

३—यह अनुभव करना चाहिये कि, मेरे ऊपर अनुग्रहकी अमृत वर्षा अनवरत हो रही है। मूलाधारसे द्वादशान्तपर्यन्त कारणचक्रोंका आरोहण और अवरोहण करते हुये मालिनी और मातृकान्यासोंसे संवलित साधनामें तन्मय रहना चाहिये।

४—इस प्रकार शिशु (अबोध शिष्य) साधनाके बलसे समयी बन जाता जाता है। सम्यक् अयन ही समय (सम्+अयगति) है। समय पालक ही समयी होता है।

सअलभा अपरिउण्णउ परभैरव अन्ताणु,
जाइवि अग्गणि सण्णउ जोअभिमी सत्ताणु।
एहस समयदिक्ख परभइरव जलणि हि मज्जणिण,
इत्थति लज्जहवन बहुपरिभव होइउ वाउजिण ॥

संस्कृतछाया—

सकलभावपरिपूर्णम् परभैरवमात्मानं
ज्ञात्वा, अग्निसंज्ञानयोगाभिमर्शात्मा
एतादृश समयदीक्षः परभैरवजले हि मज्जनेन
ईप्सति लाजाहवनं बहुप्रभावः भवति वायुः येन ।

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचिते तन्त्रसारे समय दीक्षा प्रकाशनं नाम त्रयोदशमाह्निकम् ॥१३॥

समस्त भावोंसे परिपूर्ण परभैरवरूप अपनेको जानकर अग्नि संज्ञान-योगका आमर्श करने वाला इस प्रकार समयी बनता है (समय दीक्षा प्राप्त करता है)। परभैरवके (अनुग्रह रूपी अमृत) जलमें वह निमज्जन करता है। समयी लावा आदि पदार्थोंका हवन करता है। इससे वह प्रभावशाली होता है और उससे जितायु हो जाता है।

इस संग्रह श्लोकमें यह निर्देश है कि समय दीक्षाका अधिकारी बननेके लिये पहली शर्त्त है—अपनेको अणु-पुद्गल-पशु न मानकर परभैरव रूप मानना। दूसरी बात हवन विधि है। अग्निशाला ही यागगृह है। वहाँ शिष्य जाता है और अग्नि संज्ञान योगका प्रत्यवमर्श करता है।

इसके बाद उसे समय दीक्षा मिलती है। वह परभैरव अमृत रसमें रमण करता है। लावा आदि हवनीय द्रव्योंका हवन करता है। प्राण पन्थसे गुरुके उसके अन्तःकरणमें प्रवेश और उसके मलोंको जला देनेके बाद वह महाप्रभावशाली महात्मा बन जाता है। इसके बाद ही उसे पुत्रक या आचार्य दीक्षा दी जा सकती है।

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके समय दीक्षा प्रकाशनामक तेरहवें आह्निकका डॉ॰परमहंस मिश्र द्वारा विरचित, नीर-क्षीर-विवेक महाभाष्य शुभं भूयात् ॥१३॥

चतुर्दशमाह्निकम्

अथ पुत्रक-दीक्षाविधिः। स च विस्तीर्णः तन्त्रालोकादवधार्यः। संक्षिप्तस्तु उच्यते। समयान्तं विधिं कृत्वा तृतीयेऽह्नि त्रिशूलाब्जे मण्डले सामुदायिकं यागं पूजयेत्, तत्र बाह्यपरिवारं द्वारदेवताचक्रं च बहिःपूजयेत्। ततो-मण्डलपूर्वभागे ऐशकोणात् आरभ्य आग्नेयान्तं पङ्क्तिक्रमेण गणपतिं गुरुं परमगुरुं परमेष्ठिनम् पूर्वाचार्यान् योगिनीचक्रं वागीश्वरीं क्षेत्रपालं च पूजयेत्।

अथ पुत्रक दीक्षा विधि। यह विधि तन्त्रालोक नामक ग्रन्थमें विस्तारसे वर्णित है। वहींसे इसका अवधारण होना चाहिये। संक्षेपसे यहाँ लिखी गयी है। समयीके नित्य कर्मके पश्चात् तीसरे दिन त्रिशूल कमल मण्डलमें सामुदायिक याग पूजन करे। वहाँ बाह्य परिवार और द्वार देवता चक्रको बहिः पूजा करनी चाहिये।

मण्डलके पूर्व भागमें ईशान कोणसे अग्नि कोण तक पंक्ति क्रमसे गणपति, गुरु, परम गुरु परमेष्ठी, पूर्वाचार्य योगिनीचक्र, वागीश्वरी और क्षेत्र पालकी पूजा करनी चाहिये[1]।

पुत्र भी पुत्रक होता है। शिष्य, दत्तक अथवा पुत्रवत् आज्ञाकारी एवं प्रतिपाल्य वत्स भी 'पुत्रक' कहलाता है। समयी शिष्यकी पुत्रक दोक्षा विधिका यह प्रकरण इस आह्निकका वर्णनीय विषय है। तन्त्रालोकके सोलहवें आह्निकमें इसका विशद विवेचन है। अधिक जानकारीके लिये तन्त्रालोकके १३ एवं षोडश आह्निकोंका अध्ययन आवश्यक है। तन्त्रसार तो उसीकी संक्षिप्त कृति है। यहाँ संक्षेपसे ही यह विषय प्रस्तुत है।

समयी एक पारिभाषिक शब्द है। जैसे धन वाला धनी कहलाता है, उसी तरह समयका पालन करनेवाला समयी होता है। समयका अर्थ है शर्त्त।

---

१. तं० १६।१–११

शिष्यको दीक्षाके पूर्व कुछ विशेष नियम अवश्य पालनीय होते हैं। तभी दीक्षाका वह अधिकारी होता है। समयी जब सारे नियमोंका यथावत् पालन कर लेता है, तब उसकी दीक्षाकी पहली क्रिया प्रारम्भ होती है। सबसे पहले 'समय' में स्थित शिष्यके पुत्रक भावमें नियोजनकी कामना गुरु करता है[1]। पहले दिन गुरुके तत्त्वावधानमें शिष्यका अधिवास[2] प्रारम्भ होता है दूसरे दिन मण्डलमें प्रवेश होता है। वहाँ ६, ८, १६, २४, और ४८ संस्कारोंकी विधियाँ होती हैं।

तीसरे दिन नये कर्म काण्डका प्रारम्भ होता है। सामुदायिक यागमें ५ चक्रोंके समस्त देवता पूजित होते हैं। देह, प्राण और बुद्धिकी मिली-जुली संस्कारकी क्रियाके कारण तीन शूलोंपर ३ कमल अन्तर्यागमें विहित हैं। उन्हें त्रिशूलाब्ज कहते हैं। आजकल इस प्रक्रियाका लोप हो गया है। वस्तुतः शरीरमें मूलाधार चक्रके कमलमें इच्छा, ज्ञान और क्रियात्मक त्रिकोण होता है। अन्तर्यागमें मूल प्रक्रियाका यह आधार है। इससे सुशोभित मण्डलमें दीक्षाका विधान सम्पन्न होता है। अन्तर्यागकी सिद्धिके लिये सर्वप्रथम बाह्य पूजाकी जाती है। द्वार देवता द्वारपाल हैं। उनका परिवार बाहर ही रहता है। वहीं उनकी पूजा होती है। इसके बाद मण्डलके पूर्वभागमें ईशानकोणसे लेकर अग्निकोण तक पंक्ति क्रमसे गणेश, गुरु, परमगुरु, परमेष्ठी, पूर्वाचार्य योगिनी चक्र, वागीश्वरी और क्षेत्रपालोंकी पूजा की जानी चाहिये। शैवसामरस्यके सुखकी चाह रखनेवाला बाह्य विधि-विधानमें प्रवृत्त नहीं होता। अन्तरकी दृढ़ताके लिये ही बाह्य विधि पूरी करता है।

सामुदायिक याग मण्डलमें ही सम्पन्न होता है। इसमें निरीक्षण, परीक्षण, ताडन (फावड़े आदिसे भूमि बराबर करना) आप्यायन (जल सिंचन) और विगुणन आदि व्यापार होते हैं। मातृका मालिनीका मेलन होता है[3]। स्वेच्छा पूर्वक यह सारी भूयसी क्रियायें की जाती हैं। सारे न्यास आदिकी क्रियायें भी सामुदायिक यागमें पूरी होती हैं।

---

१ तं० १५।४६४।४६९–४७०

२. (यागस्थले गुरुणासह वासः) यज्ञभूमि पर गुरुके साथ निवास। मा० वि०अ९/१

३. तं० १५/१४२, स्व० ४।१५१-१९१

अब द्वार-देवता चक्रकी पूजा होती है। मण्डलके पूर्वभागमें ईशान-कोणसे प्रारम्भकर अग्निकोण तक यह पूजा की जाती है। इस पंक्तिमें क्रमशः गणपति गुरुदेव, परमगुरु परमेष्ठी, पहलेके आचार्य योगिनी चक्र[२], वागीश्वरी और क्षेत्रपालकी पूजा विहित है।

तन्त्र दर्शनका यह कर्मकाण्ड वैदिक कर्मकाण्डको ही समान है। इसमें बीच-बीचमें इन्हें यह उद्घोषित करना पड़ता है कि, इस बाह्य पूजासे अन्तर्याग सिद्ध होता है—शिवात्मकता प्राप्त होती है और साधक शिव-तादात्म्यमें अधिष्ठित होता है[३]। वस्तुतः गुरु-कृपाके समक्ष यह कर्मकाण्ड अनपेक्षित है।

तत आज्ञां समुचितामादाय शूलमूलात् प्रभृति सित-कमलान्तं समस्तमध्वानं न्यस्य अर्चयेत्। ततो मध्यमे त्रिशूले मध्यारायां भगवती श्रीपराभट्टारिका भैरवनाथेन सह, वामारायां तथैव श्रीमदपरा, दक्षिणारायां श्रीपरापरा, दक्षिणे त्रिशूले मध्ये श्रीमदपरा, द्वे तु यथा स्वम्, एवं सर्वस्थानाधिष्ठातृत्वे भगवत्याः सर्वं पूर्णं तदधिष्ठानात् भवति इति।

इसके बाद समुचित आज्ञा लेकर शूल मूलसे श्वेत कमल तक सारे अध्वाका न्यासकर अर्चना करे। पश्चात् मध्यम त्रिशूलमें मध्य अरामें भगवती श्रीपरा भट्टारिका भैरवनाथके साथ (विराजमान है—यह जान-कर उनकी पूजा करे)। वाम अरामें श्रीमदपरा (की पूजा करनी चाहिये)। दक्षिण अरामें श्रीभगवती परापरा हैं। दक्षिण त्रिशूलके मध्यमें श्रीमदपरा, परा और परापरा दोनों यथारुचि (स्थित हैं)। इस प्रकार सब स्थानोंमें अधिष्ठाता रूपसे भगवती विराजमान हैं। माँ जगदम्बा भगवतीके अधिष्ठानसे सब पूर्ण हो जाता है।

गुरुदेवके आदेशसे ही दीक्षाकी समस्त क्रियायें सम्पन्न होनी चाहिये। वे इस विषयके विशेषज्ञ होते हैं। अन्तर्याग और बहिर्यागके तत्त्वज्ञ होते हैं। उन्हें शरीरस्थ समस्त चक्रोंका पूर्ण परिज्ञान होता है।

---

१. तं० १५/१८१–१६/११-१२

२. तं० १५/१५९, १४३, १४५, १४५, १५२, १५६ इत्यादि

आधारशक्ति चार अंगुल नाभिके नीचे है। गुरुदेव मूलाधारमें धरातत्त्व, स्वाधिष्ठानमें समुद्र रूप वरुणतत्त्व, उसके पोत और कन्दकी स्थितियोंके विज्ञाता हैं। वहींसे शूलका मूल प्रारम्भ होता है और नालदण्ड ऊपरकी ओर चलता हुआ, ग्रन्थिका भेदन करता हुआ, चतुष्किकाके विद्यातत्त्वमें 'क' 'ख' रूप पद्म विकसित हो जाता है। उसमें नव दल होते हैं। उसमें वामा, ज्येष्ठा, रौद्री, काली, कलविकरणी, बलविकरणी, बलप्रमथनी, सर्वभूतदमनी और मनोन्मनी शक्तियोंका अनुलोम तथा विभ्वी, ज्ञानी, क्रिया, इच्छा, वागीशी, ज्वालिनी, रौद्री, ज्येष्ठा और वामाका विलोम न्यास होता है। वह कमल श्वेत होता है[1]। शूल मूलसे लेकर इस श्वेत कमल तक सभी अध्वाका न्यास आवश्यक होता है[2]। इस तरह गुरुकी आज्ञाके अनुसार पूजन होना चाहिये।

उस नाभिसे निकले कमलमें तीन शक्ति शूल होते हैं। उनके शृङ्ग भागमें तीन कमलोंका आकलन होता है। मध्य त्रिशूलके उत्तर दक्षिणके बीचमें श्रीपरा शक्तिका आकलन होता है। यह शक्ति भैरव भट्टारकके साथ विराजमान रहती है। बाँयें शृङ्गमें श्री अपरा शक्ति तथा दाहिने शृङ्गमें श्री परापरा शक्तिका न्यास आवश्यक है[3]। दो शृङ्ग कमलोंमें भी यही प्रक्रिया अपनायी जाती है।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि, माँ परमाम्बा ही सबकी अधिष्ठात्री देवी हैं। सब कुछ उसका ही अधिष्ठान है। इस अधिष्ठान और अधिष्ठात्री भावसे यह सिद्ध हो जाता है कि, माँकी पूर्णताके कारण सभी अधिष्ठान भी पूर्ण हैं तथा सर्वत्र ऐकात्म्य भाव विलसित है।

ततो मध्यशूलमध्यारायां समस्तं देवताचक्रं लोकपालास्त्र-पर्यन्तम् अभिन्नतयैव पूजयेत्, तदधिष्ठानात् सर्वं पूजितम्। ततः कुम्भे कलशे मण्डले अग्नौ स्वात्मनि च अभेदेनैव अभेदभावनया पञ्चाधिकरणम् अनुसन्धिं कुर्यात्, ततः परमेश्वराद्वय-रस-बृंहितेन पुष्पादिना विशेषपूजां कुर्यात्। किं बहुना तर्पण-नैवेद्य

---

१. मा० वि० तन्त्र ८/५५-६६, ८१ २. स्व० ४/१०३

३. मा० कि० त० ८/७१-७५, तं० १६/१२-१६

परिपूर्णं वित्तशाठ्यविरहितो यागस्थानं कुर्यात्। असति वित्ते तु महामण्डलयागो न कर्त्तव्य इति। पशूँश्च जीवतो निवेदयेत्। तेऽपि हि एवम् अनुगृहीता भवन्ति इति कारुणिकतया पशुविधौ न विचिकित्सेत्।

इसके बाद मध्य शूलकी मध्य अरामें समस्त देवता चक्रको लोकपालास्त्र पर्यन्त अभेद भावसे ही पूजित करे। उसके अधिष्ठानसे सर्व (रूप परमेश्वर ही) पूजित होता है। इसके बाद कुम्भमें, कलशमें, मण्डलमें, अग्निमें और स्वात्ममें सर्वत्र अभेद भावनासे ही पञ्चाधिकरण अनुसन्धि करनी चाहिये। पुनः परमेश्वरमें अद्वय भाव जन्य आनन्द रसके संवर्धनसे पुष्प आदि उपकरण द्वारा विशेष पूजा करे। अधिक क्या? तर्पण, नैवेद्य आदिसे परिपूर्ण वित्त-शाठ्य रहित यागस्थान बनाना चाहिये। वित्तके अभावमें महामण्डल याग नहीं करना चाहिये[1]।

जीवित पशु भी निवेदन करे। पशु भी अर्पणसे अनुगृहीत होते हैं। करुणा भावसे पशु यज्ञमें विचिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

मध्यम शूलकी चर्चाकी जा चुकी है। उसमें पराशक्तिके स्मरणका निर्देश गुरुदेव कर चुके हैं। अब वहीं समस्त देववर्गका एवम् अस्त्रसहित लोकपालोंका स्मरण करना चाहिये[2] और पराशक्तिसे इनका अभेद चिन्तन करना चाहिये। अभेद भावका यह सुपरिणाम है कि, अधिष्ठात्री देवीके अधिष्ठान होनेसे सर्वभावमें सर्वका पूजन अन्तर्भूत हो जाता है। कहीं कोई अन्तर नहीं रह जाता। भावकी एकतामें कुम्भ, कलश, यागमण्डल, अग्नि और अपनेमें अभेद भाव अपने चरमरूपमें विकसित हो जाता है। पञ्चसन्धिकी धारणा सरलतासे हो जाती है[3]। शिवाद्वय भावके संवर्द्धनमें जीवनका चरम आनन्द उल्लसित हो जाता है। यही जीवनका 'रस' है। इस आनन्दवादके उल्लासमें पुष्प आदिसे की हुई पूजा भी परमानन्द दायिनी सिद्ध होती है। यह ध्यान देनेकी बात है कि, यह सारा उपक्रम धन पर निर्भर करता है। अभावकी दशामें महामण्डल यागकी व्यवस्था नहीं करनी चाहिये। यहाँ पशुबलिकी ओर संकेत किया गया है। जीवित पशु

१. मा० वि० तन्त्र-८/७८ २. १३/५४-५५, ११/४१ ३. तं० १६/२१

निवेदनकी ओर भी इङ्गित किया गया है। इस सम्बन्धमें विचिकित्साकी (व्यर्थ शङ्काकी) कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि निवेदित जीव भी परा देवीशक्ति द्वारा अनुगृहीत ही होता है। यह आगमिक सिद्धान्त है।

ततोऽग्नौ परमेश्वरं तिलाज्यादिभिः सन्तर्प्य तदग्रेऽन्यं पशुं वपाहोमार्थं कुर्यात्, देवताचक्रं तद्वपया तर्पयेत्, पुनः मण्डलं पूजयेत्, ततः परमेश्वरं विज्ञाप्य सर्वाभिन्नसमस्तषडध्व-परिपूर्ण-मात्मानं भावयित्वा शिष्यं पुरोवस्थितं कुर्यात्। परोक्षदीक्षायां जीवन्मृतरूपायाम् अग्रे तं ध्यायेत्, तदीयां वा प्रतिकृतिं दर्भगोमयादिमयीम् अग्रे स्थापयेत्। तथाविधं शिष्यं अर्घपात्रविप्रुट् प्रोक्षितं पुष्पादिभिश्च पूजितं कृत्वा समस्तमध्वानं तद्देहे न्यसेत्।

इसके बाद अग्निमें तिल घी आदि हविष्य द्वारा परमेश्वर सन्तर्पण कर उसके आगे दूसरे पशुको वपाहोमके लिये (प्रस्तुत) करे। देवता चक्रका भी उस वपासे तर्पण करे फिर मण्डलकी पूजा करे। पश्चात् परमेश्वरको विज्ञापित कर सबसे अभिन्न समस्त छः अध्वासे परिपूर्ण आत्माको भावित कर शिष्यको सामने उपस्थित करे।

जीवित रहते हुए भी मृतकी तरह मानकर दी जाने वाली परोक्ष दीक्षामें सामने ही उसका ध्यान करे। अथवा कुश गोबर आदिसे बनी उसकी प्रतिमा सामने स्थापित करे। ऐसे (ध्यानमें आये या प्रतिकृतिमें बने) शिष्यको अर्घपात्रके लघुलघु जलकणोंको छिड़ककर प्रोक्षित कर लें। इस प्रकार उसको पूजित कर समस्त अध्वाको उसके शरीरमें न्यस्त करे।

दीक्षाके इस प्रकरणमें ऐसे व्यक्तिकी दीक्षाकी ओर संकेत है, जो समक्ष उपस्थित न हो। समक्ष दीक्षाके अन्तर्गत समयदीक्षा, अधिवास, यज्ञशाला प्रवेश देवताचक्र पूजन, स्वात्ममें सर्वाध्वस्थापन और पुत्रक दीक्षाका एक क्रम बतलाया गया और इनकी विधियोंका संक्षेपमें उल्लेख किया गया है। तन्त्रालोक स्वच्छन्दतन्त्र आदि ग्रन्थोंमें दीक्षा विधिका विस्तारपूर्वक क्रमिक उल्लेख है। वस्तुतः तन्त्रसारकी इस संक्षिप्त विधिका प्रयोग भी वर्त्तमान इने गिने आम्नायोंमें प्रचलित है।

अग्निमें परमेश्वरकी तृप्ति तिल और घी आदि पदार्थोंके हवनसे सम्भव है। हवनमें तिल आज्यके साथ वपा[1] (मेद) का भी उल्लेख है। छः देवता चक्रका तर्पण भी वपासे सम्भव है। इस विधिके उपरान्त मण्डल पूजन, परमेश्वर स्मरण और स्वात्ममें समस्त अध्वावर्गका ऐक्य स्थापन शिष्यके लिये अनिवार्य है। तभी वह गुरुके पास बैठनेका अधिकारी बन सकता है।

परोक्ष दीक्षामें शिष्यकी ध्यानमूर्त्ति या कुश अथवा गोबर आदिकी मूर्ति स्थापितकर उसे अर्घ्यजलके[2] छीटोंसे प्रेक्षित कर लेना चाहिये और सभी अध्वावर्गका न्यास उस ध्यानमूर्ति या कुश आदिके द्वारा निर्मित पुतलेमें करना चाहिये।

तत इत्थं विचारयेत्–भोगेच्छोः शुभं न शोधयेत्। मुमुक्षोस्तु शुभाशुभमुभयमपि। निर्बीजायां तु समयपाशानपि शोधयेत्। सा च आसन्नमरणस्य अत्यन्तमूर्खस्यापि कर्त्तव्या इति परमेश्वराज्ञा। तस्यापि तु गुरु–देवताग्नि–भक्तिनिष्ठत्व–मात्रात् सिद्धिः। अत्र च सर्वत्र वासनाग्रहणमेव भेदकम्–मन्त्राणां वासनानुगुण्येन तत्तत्कार्यकारित्वात्। एवं वासनाभेदमनुसंधाय मुख्य–मन्त्र–परामर्श विशेषेण समस्तमध्वानं स्वदेहगतं शिवाद्वय–भावनया शोधयेत्।

इसके बाद इस प्रकार विचार करे—भोगेच्छुके शुभका शोधन नहीं होना चाहिये। मुमुक्षुके शुभ और अशुभ दोनोंका शोधन होना चाहिये। निर्बीज दीक्षामें समय विधिमें स्वीकृत पाशोंका भी शोधन होना चाहिये! यह दीक्षा ऐसे व्यक्तियोंको भी होनी चाहिये जो आसन्न मृत्यु हों या अत्यन्त मूर्ख हों। ऐसा परमेश्वर शास्त्रके व्याख्याता गुरुजनोंका आदेश है।

ऐसे लोगोंकी सिद्धि भी गुरु, देवता और अग्निमें भक्तिसे या प्रगाढ आस्थाद्वारा होती है। यह निश्चय है कि, इस शास्त्र या दूसरे शास्त्रोंके

---

१. मा० वि० तन्त्र १०/२०–२१ तं० १६/७१ २–तं० १६/३२

अनुसार वासनाके ग्रहणसे ही भेदवाद उत्पन्न होता है। मन्त्र भी वासनाके आनुगुण्यसे उन कार्योंको करते हैं। इस प्रकार वासनाके भेदका अनुसन्धान कर मुख्य मन्त्र विशेषका परामर्श करे। सभी अध्वाको अपने शरीरमें स्थित कर शिवाद्वय भावसे इन सबका शोधन होना चाहिये।

साधक शिष्य भोगेच्छु और मुमुक्षु भेदसे दो प्रकारके होते हैं[1]। दोनोंमें एक मौलिक अन्तर है—राग और विरागका। दूसरे शब्दोंमें श्रेय और प्रेयका। गुरु इस अन्तरको जानते हैं। स्वयं शिष्य भी अपने लक्ष्यसे परिचित होता है। प्रेयके परिष्कारसे उसकी परिणति श्रेयमें ही होती है। इसीलिये तन्त्र यह आदेश देता है कि, 'शुभ' (प्रेय) का शोधनकर उसे श्रेयकी ओर न जाने दिया जाय अन्यथा शिष्य इतोऽपि भ्रष्टः और ततोऽपि भ्रष्टः हो जायेगा। उसके भोगकी प्रवृत्ति तृप्त हो और पश्चात् वह विरागको ओर प्रवृत्त हो। मुमुक्षुके शुभ और अशुभ (संस्कार रूपमे अवशिष्ट मल) दोनोंका शोधन आवश्यक है, तभी उसके वैराग्यकी खेती लहलहायेगी।

शिवहस्त विधिसे आसन्नमरण पुरुषको भी दीक्षा दी जाती है। परोक्ष में रहनेपर भी दी जा सकती है। अत्यन्त मूर्खपुरुष को भी दीक्षित किया जा सकता है। शर्त्त यही है कि, इनकी गुरुमें देवताचक्र (६) में और अग्नि (संविद्) में दृढ़ आस्था हो। यहाँ समयाचार गौण हो जाता है। इन तीनोंके लिये भक्ति ही समय बन जाती है। वस्तुतः वासना ही भेदकी कारण है। चाहे सबीज या निर्बीज कोई भी दीक्षा हो, सर्वत्र वासनाके अनुसार ही मन्त्र भी काम करते हैं। गुरु सर्वज्ञ होता है। वह शिष्यकी वासनाओंका आकलन कर लेता है। वह मन्त्रोंका परामर्शक होता है। दीक्ष्य मन्त्रकी महत्ता और शिष्यका स्वरूप, दोनोंका विचार करनेके उपरान्त ही अध्वाका अनुसन्धान करता है। शिष्यके शरीरमें अध्ववर्गका न्यास किया जा चुका है। गुरुके शरीरमें वह है ही। शिवमें यह सब शाश्वत रूपसे विद्यमान ही है। इस प्रकार शिवाद्वयभावका शोधन गुरुको अवश्य करना चाहिये।

---

1. मा० वि० तन्त्र १०/४१-४२, स्वच्छन्द ४/६२-६३, ८५-८७

एवं क्रमेण पादाङ्गुष्ठात् प्रभृति द्वादशान्तपर्यन्तं स्वात्मदेहस्वात्मचैतन्याभिन्नीकृतदेह–चैतन्यस्य शिष्यस्य आसाद्य तत्रैव अनन्तानन्दसरसि स्वातन्त्र्यैश्वर्यसारे समस्तेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिनिर्भरसमस्तदेवताचक्रेश्वरे समस्ताध्वभरिते चिन्मात्रावशेषविश्वभावमण्डले तथाविधरूपैकीकारेण शिष्यात्मना सह एकीभूतो विश्रान्तिमासादयेत्[1] इत्येवं परमेश्वराभिन्नोऽसौ भवति ।

इस क्रमसे पैरके अँगूठेसे लेकर द्वादशान्त पर्यन्त अपने शरीर और अपने चैतन्यसे अभिन्नकृत देह-चैतन्य शिष्यको पाकर वहीं अनन्त आनन्द सरोवरमें स्वातन्त्र्य-ऐश्वर्य सार वाले, समस्त इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्ति पर निर्भर देवता चक्रेश्वरमें तथा सभी अध्वाओंसे परिपूर्ण, चिन्मात्रावशेष विश्व-भाव-मण्डलमें उस प्रकारके शिष्यके साथ एकीकरणसे विश्रान्ति प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकार वह शिष्य परमेश्वरसे अभिन्न हो जाता है। (यह मुमुक्षुकी दीक्षाका स्वरूप है।)

शिष्यके शरीरको चैतन्यके चमत्कारसे चमकृत करनेकी शक्ति गुरुके पास होती है। वह उसके शरीरके निम्नभागसे अर्थात् पैरके अंगूठेसे लेकर द्वादशान्ततकके अस्तित्वको चैतन्यामृतसे सराबोर कर देता है। वह स्वयं चैतन्यका प्रतीक होता है। शिष्य और स्वात्म-चैतन्यका तादात्म्य अनिवार्यतः दीक्षामें आवश्यक होता है। ऐसे शिष्यकी प्राप्तिसे गुरुके हर्षकी सीमा नहीं रहती। अनन्त आनन्दका समुद्र वहाँ तरङ्गित होता है। शिवके दो महत्त्वपूर्ण गुण हैं। १—स्वातन्त्र्य और दूसरा ऐश्वर्य। इन दोनोंका उत्स शिव है। उस चिन्मयके द्वारा ही यह विश्व दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह प्रतिफलित है। यह विश्वभाव मण्डल है। इसमें इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोंपर सम्यक् रूपसे निर्भर सभी छः देवताओंका मण्डल विलसित है। जैसे वाक् शक्तिमें चक्रेश्वर 'क्ष' भी निहित है, उसी प्रकार उस चिन्मय तत्त्वमें यह सभी दिव्यशक्तियाँ विद्यमान है। इस विश्व रूप भाव मण्डल और उस चिन्मयतत्त्वमें समानरूपसे सभी

---

१ तं० १६/३६–९२, २०६

अध्वा भी भरे हुए हैं। इस प्रकार यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि, शिष्य, आचार्य और चिन्मय महेश्वर तत्त्वमें ताद्रूप्य, और तादात्म्यका, ऐकात्म्यका अपरम्पार पारावार उर्मिल है। शिष्यके साथ इस एकीभावसे परम विश्रान्तिका अनुभव गुरुको होना चाहिये। यह महाभाव है। इस अवस्थामें सचमुच शिष्य परमेश्वरसे अभिन्न हो जाता है। भारतीय साधनाका यह उदात्त आकलन है। साधनाका यहाँ चरमोत्कर्ष प्रत्यक्ष होता है तथा प्रातिभ परिष्कारकी पराकाष्ठाका यह एक प्राञ्जल प्रकर्ष है। इसप्रकारकी दीक्षा भारतीय आचार्योंने दी और अपने शिष्योंको परमेश्वर तादात्म्यके अमृत रससे अभिषिक्तकर उन्हें धन्य बना दिया था। आज ऐसे गुरुजनोंकी बड़ी आवश्यकता है।

ततो यदि भोगेच्छुः स्यात्, ततो यत्रैव तत्त्वे भोगेच्छा अस्य भवति तत्रैव समस्तव्यस्ततया योजयेत्। तदन्तरं शेष– वृत्तये परमेश्वरस्वभावात् झटिति प्रसृतं शुद्धतत्त्वमयं देहम् अस्मै चिन्तयेत्। इत्येषा समस्तपाशवियोजिका दीक्षा। ततः शिष्यो गुरुं दक्षिणाभिः पूर्ववत् पूजयेत्। ततोऽग्नौ शिष्यस्य विधिं कुर्यात्–श्रीपरामन्त्रः अमुकस्यामुकं तत्त्वं शोधयामि इति स्वाहान्तां प्रतितत्त्वं तिस्र आहुतयः, अन्ते पूर्णा वौषडन्ता।

यदि शिष्य भोगकी इच्छा वाला है, तो जिस तत्त्वमें उसकी भोगकी इच्छा हो, गुरु उसे वहीं नियोजित कर दे। [उसके बाद] उसकी अवशिष्ट प्रवृत्तिकी शान्तिके लिये परमेश्वरके 'स्व' भावसे तत्काल प्रसृत शुद्धतत्त्वमय शरीर उसे देनेका चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार यह सारे पाशोंसे छुड़ाने वाली दीक्षा [सम्पन्न होती है]।

अब शिष्य गुरुदेवकी दक्षिणा आदिसे पूजा करे। तब गुरु अग्निमें शिष्यकी (अवशेष) विधि करे (यह इस प्रकार है) श्री परामन्त्रसे शिष्य नामके साथ तत्त्वका नाम लेकर उसके शोधनकेलिये प्रति तत्त्व तीन तीन आहुतियाँ 'स्वाहा' बोलते हुए दे। अन्तमें वौषट् तक ऐसा ही करना चाहिये।

भोगेच्छुकी दीक्षाका एक क्रम दे रहे हैं। वस्तुतः भोगकी प्रवृत्ति भी बड़ी विचित्र होती है। किसी तत्त्वमें विशेष प्रवृत्ति होती है, किसीमें कम।

गुरु इसका आकलन कर लेता है। समास और व्यास पद्धतिका आश्रय लेना चाहिये और शिष्यको उसकी प्रवृत्तिके अनुसार उसमें नियोजित करना चाहिये। अन्यथा इसके लिये उसे जन्मातरोंमें भटकना पड़ सकता है[1]।

गुरुको यह सोचना चाहिये कि, हमारे शिष्यकी इन शेष प्रवृत्तियोंका उपशम कैसे हो सकेगा ? इसके लिये परमेश्वरके 'स्व' भावसे तात्कालिक प्रभाव द्वारा निर्गत या निर्मित शुद्धतत्त्वमय देह उसे देना चाहिये अर्थात् अपने शक्तिपात प्रक्रिया द्वारा उसके शरीरमें उस शक्तिका संचार करते रहना चाहिये, जिससे वह शिव परमेश्वरके स्वात्म स्वरूपकी शुद्ध अवस्थाका आकलन कर सके। इस दीक्षाको ही समस्त बन्धनोंको उच्छिन्न करने वाली दीक्षा[2] कहते हैं।

शिष्यका यह कर्त्तव्य है कि वह गुरुके चरणोंमें दक्षिणा अर्पित करे। गुरुभी (ॐ ह्रीं देवदत्तस्य[3] शोधितचैतन्यस्य अमुकं तत्त्वं शोधयामि स्वाहा) इस मन्त्रसे प्रति तत्त्व तीन तीन आहुतियाँ प्रदान करे। न्यासमें हृदय, शिव, शिखा, कवच, नेत्र और अस्त्र इन स्थानोंसे क्रमशः अन्तमें नमः स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट् और फट् शब्दोंका प्रयोग होता है। यहाँ स्वाहान्त तीन तीन आहुतियाँ देनी चाहिये। अन्तमें पूर्णाहुति वौषट् को अन्तमें लगाकर करनी चाहिये[4]।

एवं शिवान्ततत्त्वशुद्धिः। ततो योजनिकोक्तक्रमेण पूर्णाहुतिः। भोगेच्छोः भोगस्थाने योजनिकार्थमपरा, शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थमन्या। ततो गुरोः दक्षिणाभिः पूजनम्। इत्येषा पुत्रक दीक्षा। यत्र वर्त्तमानमेकं वर्जयित्वा भूतं भविष्यच्च कर्म शुद्ध्यति।

अन्तः समस्ताध्वमयीं स्वसत्तां
बहिश्च संधाय विभेदशून्यः
शिष्यस्य धीप्राणतनूर्निजासु
तास्वेकतां संगमयेत्प्रबुद्धः ॥

---

१. स्व० ४।१३० २. स्व० ४।१३०–१६१, ३. शिष्यनाम
४. स्व०।४।१३२, १।७२ मा०वि० २३।१६,

शिष्य-स्वात्ममें नित षडध्वका बहिरन्तर कर अनुसन्धान,
अपने और शिष्यके प्रज्ञा-प्राण-देहमें ऐक्य विधान।
करता है प्रबुद्ध गुरुवर ही मिथः संगमन-सिद्ध बुधान,
विश्व विभेद शून्य विजितेन्द्रिय अद्वय अनूचान अम्लान।

इस प्रकार शिवान्त सभी तत्त्वोंकी शुद्धि होती है। तत्पश्चात् योजनानुसार पूर्णाहुति (होनी चाहिये)। पूर्णाहुति भी दो प्रकारकी (होती है) १—भोगकी इच्छा रखनेवाले साधककी भोगस्थानमें योजनाके लिये अलग और २ - शुद्धतत्त्व सृष्टिके लिये पृथक्। फिर दक्षिणासे गुरुपूजन करना चाहिये। यह पुत्रक दीक्षा है। इसमें भूत और भविष्यत् के कर्म शुद्ध हो जाते है। वर्त्तमान कर्म नहीं।

इस प्रकारकी दीक्षासे धरासे सदाशिव तकके सभी तत्त्व शिवमय हो जाते हैं। शिष्य ताम्रदिव्यकाञ्चन बन जाता है। शिष्यमें रुद्रांशके सम्पादनकी आवश्यकता होती है[1]। उसके प्राण, बुद्धि और शरीरमें मूल मन्त्रसे विश्लेषकरण, छेदन, अवगुण्ठन, समाकर्षण करना चाहिये। द्वादशान्त पर्यन्त शोधन, अङ्कुश और संहार मुद्रासे उसका संस्कार, गुरु द्वारा उसके हृदयमें प्रवेश, समरसीकरण, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ईश, सदाशिव और शिवकी एकात्मकताकी ऊर्ध्व स्थितिमें प्रवेश, चक्रोंका भेदन करते कराते हुए शिष्यमें रुद्रत्वका संयोजन–यह योजनिका प्रक्रियाका तान्त्रिक क्रम है[2]। इसके बाद पूर्णाहुति होनी चाहिये। भोगेच्छु और मुमुक्षुका समायोजन अलग अलग ढङ्गसे करना चाहिये।

इतनी क्रिया सम्पन्न कर लेनेके बाद गुरुदेवकी पूजा होनी चाहिये। पूजामें दक्षिणा आवश्यक है। यहाँ तक पुत्रक दीक्षाकी प्रक्रिया पूरी होती है। इसमें दीक्षित पुरुषके भूतकालके कर्म शुद्ध हो जाते हैं। भविष्यत् कर्म भी परिशोधित होते हैं। वर्त्तमान कर्मोंके शोधनमें शिष्यको सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

छः अध्वा शरीरमें मेरे और शिष्यके एक समान
पुर्यष्टकभी दोनोंके ही शुद्ध परस्पर हैं यह ध्यान[3]
सदा चाहिये करना प्रतिदिन गुरुप्रबुद्धको अनुसन्धान
शिष्य एकता नित्यसंगमन परमावश्यक वत्स विधान।

---

१. स्व० ४।२२४   २. स्व० ४/७४,   ३. ४/१०३--१०६

शिष्यैकभावं झटिति प्रपद्य
तस्मिन् महानन्दविबोधपूर्णे ।
यावत्स विश्राम्यति तावदेव
शिवात्मभावं पशुरभ्युपैति ॥

शिष्य शुद्ध हो चुका न इसमें मुझमें कोई अन्तर आज,
परमानन्द-विबोध-पूर्ण-गुरु-कृपासिन्धु विलसित विभ्राज ।
पशुभी पशुपति बना पा गया पंचकृत्य स्वातन्त्र्य स्वराज,
शुद्ध-स्वात्म-संविद्-समरस अब देह-स्थित षट् देवसमाज ॥[1]

गुरु द्वारा शक्तिपात करनेपर, योजनिकाके क्रमसे उसकी ऊर्ध्व स्थिति प्राप्तकर लेने पर गुरु और शिष्यका ऐकात्म्य स्थापित हो जाता है। गुरु और शिष्य दोनों महानन्द सम्वलित ज्ञानके समुद्रमें गोते लगाते हैं। पूर्णताका अनुभव करते हैं। गुरु शिष्यके चैतन्यको आत्मसात् करता है। और परमानन्द प्रकाश राशि-राजित संविदानन्दकी समग्रतामें विश्राम करता है।

गुरुके इस आनन्दवादी उत्कर्षमें शिष्यका चैतन्य स्वभावतः शैव-महाभावसे संवलित हो जाता है। वह अब पशु नहीं रह जाता अपितु शैवसंवित्-स्वातन्त्र्यकी महानुभूतिसे रसानुसिक्त हो जाता है। यह एक प्रकारकी सामरस्य दशा ही है। इसको दूसरे शब्दोंमें एक चैतन्य भावना[2] भी कहते हैं, जिसमें गुरु शिष्यका एकीभाव पुरस्कृत होता है। यह दीक्षा प्रक्रियाकी उच्च अवस्था है।

वस्तुतः इस विषयमें पहले जिन बातोंकी चर्चा पहले की गयी है, सब संस्कारके अङ्ग हैं। इसको यदि क्रमशः एक स्थान पर देखना चाहें, तो उसका क्रम यह हो सकता है—

१—शिष्यके देहमें पाशसूत्रों का वेष्टन, २—हृदय, कंठ, तालु, रन्ध्र, सहस्रार और द्वादशान्तमें वर्ण, मन्त्र, पद, कला, भुवन और तत्त्व अध्वाओंका अनुसन्धान ३—इस विषयका होम ४—अध्व व्याप्तिका गुरु द्वारा निरीक्षण ५—अध्वाका उपस्थापन ६—अध्वा अर्चन ७—होम

---

१. स्व० ४/३०४ २. स्व० ४/१३२

८—उसमें तीन पाशोंका ध्यान ९—कला और आधारशक्तियोंके न्यास १०—वागीश्वरीका स्थापन ११—पूजा १२—होम १३—शिष्य प्रोक्षण १४—ताडन १५—उसके चैतन्यका आकर्षण १६—द्वादशान्तमें उसका स्थापन १७—पुनः उसका ग्रहण १८—अपने हृदयमें उसका संयोजन १९—अपने द्वादशान्तमें प्रापण २०—वागीश्वरी गर्भमें संयोजन २१—तथा अनेक गर्भ निष्पत्तियोंके होम २२—भोगका मार्जन २३—भोगके अधिकार २४—भोग और २५—उनके लय २६—इनके तीनोंके होम २७—जाति शोधन २८—आयु शोधन २९—भोग शोधन ३०—रुद्रांशका आपादन ३१—विषयासक्तिका त्याग ३२—पाशका विश्लेषण ३३—विश्लेषका होम ३४—अशेष शरीर भावका परित्याग और ३५—एक चैतन्य भाव। इस क्रमसे चलते हुए गुरुके निर्देशमें शिष्य शिवत्त्वसे सम्वलित हो जाता है, उसमें शिवात्मभाव जागृत हो जाता है। 'समयी' इतना करने पर 'पुत्रक' हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि, अभी तक केवल शिवात्मभाव आता है। यह भावनाका विषय है। अभी शिवत्त्वापत्ति सम्भव नहीं है। क्योंकि इसके लिये भुवन दीक्षाके ४० संस्कार और कलाके ८ संस्कार करने शेष रहते हैं। तब निष्कृति होती है। कलासे क्षितिपर्यन्त यह संस्कार तब निवृत्त होता है।

ये सहु एकीभावलये विणु अच्छइ एह बिबोह समुद्द।
सो पसु भइरव होइ लये विणु अन्तर्नावजिउअस अस मुदु[१] ॥

संस्कृत छाया

येन सह एकीभावलयं विना अस्ति[२] एष विबोध समुद्रः।
सः पशुः भैरवः भवति लयं विना अन्तर्नादजितः असु[३] असमुद्रः॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे पुत्रकदीक्षा प्रकाशनं नाम चतुर्दशमाह्निकम् ॥१४॥

---

१. प्राकृत सौरसेनी मागधी आदिमें रुद्रका रुद्द भद्रका भद्द और मुद्रका मुद्द होता है। साथ हीसु, उस् और सुप् विभक्त्यन्त शब्दोंमें कहीं कहीं अन्त में उ हो जाता है। प्राय कुतः भी पाउ और कउ अपभ्रंशमें होता है।

२. काशकृत्स्न ६६३ श्वादिः अस = जीव, प्रकाश अस्य = अस्य

३. प्रा९ व्याकरण ६।६

गुरुमें लयके भी विना, जिसका बोध समुद्र।
लहराता वह पशु तुरत, होता भैरव रुद्र!
अन्तर्नादजयी सदा, जीव धन्य है धीर।
संविद्-मुद्रासे मुदित, भासित रश्मि-शरीर।

गुरुदेवके साथ शिष्यका एकीभाव विविध योजनिका क्रियाओंके द्वारा सम्भव होता है। दीक्षाकी यह एक अन्यतम विधि है। कभी-कभी दीक्ष्यके संस्कार जागृत हो जाते हैं। परिणामतः लयकी प्रक्रियाके बिना भी शिष्यका बोध समुद्र लहराने लगता है। वह पशु अब सामान्य पशु (पुद्गल-सकल पुरुष) नहीं रह जाता है। उसमें भैरवका महाभाव उल्लसित हो जाता है। अब किसी प्रकारके लयकी आवश्यकता नहीं होती।

उसके भीतर ही भीतर एक अद्भुत नाद-स्पन्द होता है और वह उसे जीत लेता है। असु अर्थात् जीव अस अर्थात् संविद् प्रकाशकी मुद्रासे उद्भासित हो उठता है। यह शक्तिपात दीक्षाका चमत्कार है।

श्रीमहामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके पुत्रक दीक्षा प्रकाशनामक चतुर्दश आह्निकका डॉ० परमहंसमिश्र द्वारा विरचित, नीर-क्षीर विवेक महा-भाष्य सम्पूर्ण शुभं भूयात् ॥१४॥

पञ्चदशमाह्निकम्

यदा पुनरासन्नमरणस्य स्वयं वा बन्धुमुखेन शक्तिपात उपजायते, तदा अस्मै सद्यः समुत्क्रमणदीक्षां कुर्यात् । समस्तमध्वानं शिष्ये न्यस्य तं च क्रमेण शोधयित्वा, भगवतीं कालरात्रिं मर्मकर्त्तनीं न्यस्य तया क्रमात्क्रमं मर्मपाशान् विभिद्य, ब्रह्मरन्ध्रवर्ति शिष्यचैतन्यं कुर्यात् । ततः पूर्वोक्तक्रमेण योजनिकार्थं पूर्णाहुतिं दद्यात्, यथा पूर्णाहुत्यन्ते जीवो निष्क्रान्तः परमशिवाभिन्नो भवति ।

जब आसन्न-मृत्यु दीक्ष्य (समयी) स्वयं (सूचित करे) या बन्धु बान्धव द्वारा अपने शक्तिपातकी सूचना दे, तो गुरु उसे तत्काल समुत्क्रमण दीक्षा दे[1] । सारे अध्वाको शिष्यमें न्यस्त करे । फिर उसका शोधन करे । भगवती कालरात्रि ! मर्मकर्त्तनी[2] का न्यास करना चाहिये । उसीसे क्रमशः मर्मके पाशोंका छेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्रमें शिष्यचैतन्यको स्थापित करना चाहिये । फिर पहले बताये क्रमसे योजनिकार्थ पूर्णाहुति देनी चाहिये, जिससे पूर्णाहुतिके अन्तमें जीव निष्क्रान्त होकर परमशिवसे अभिन्न हो जाता है ।

यह ज्ञात हो जाता है कि, व्यक्ति अब मरणासन्न है । मरणासन्नके लक्षण शास्त्रोंमें प्रसङ्गानुसार बतलाये गये हैं । उस समय स्वयं मरणासन्न व्यक्ति गुरुकी शरणमें जाये । उसके जानेमें असमर्थ होने पर उसके भाई-परिवारके सदस्य भी गुरुको इसकी सूचना दें । मरण जब अत्यन्त निकट आ जाता है, तो एक प्रकारसे आत्मामें चेतनाका उदय स्वभावतः होता है । इसे 'शक्तिपात' कह सकते हैं[3] । उस समय 'समुत्क्रमण' दीक्षा देनी चाहिये । मृत्यु द्वारा प्राणके निकाल लेनेकी शक्तिको 'उत्क्रान्ति' कहते हैं । प्राणके प्रयाणको 'उत्क्रमण' करना कहते हैं । इसीलिये उस समय दी जाने वाली दीक्षाको 'उत्क्रमण' दीक्षा कहते हैं । शक्तिपातकी अवस्थाके

---

१. तं० १६।१८२, १९।१–१६, २३ २. तं० १९।१० ३. तं० १९।२-४

स्पष्ट होने पर इसी दीक्षा पद्धतिका प्रयोग करना चाहिये। यही शाङ्करी दीक्षा है। इसको पा लेनेपर मरणधर्मा मनुष्य शिवत्त्वको प्राप्त हो जाता है। यह गुरुका कर्त्तव्य है कि, जब वह यह समझ ले कि, मेरा शिष्य अब जरासे ग्रस्त हो गया है, असाध्य रोगोंसे ग्रस्त हो गया है अथवा अबतबमें मरने वाला है, चाहे वह दीक्षित हो, समयी हो, जरा-रोग-ग्रस्त हो या सेवाभावमें लगा श्रद्धालु व्यक्ति हो; उस समय वह उसको उत्क्रान्तिकी ओर ले जाकर शिवत्वसे संवलितकर दे और उसे शिवमय बना दे।

इसके लिये उसे कुछ प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। सर्वप्रथम छ हों अध्वाओंका न्यास शिष्यके शरीरमें करना चाहिये। द्वितीयतः क्रमशः उसका शोधन करते हुए छुरिका न्यास करना चाहिये। दीक्षामें धारणाओंका बड़ा महत्त्व होता है। इस समय आग्नेयी धारणा द्वारा शिष्यके मर्मोंका उद्दीपन आवश्यक होता है। पैरके अंगूठेसे शिरतक वायुसे पूरितकर मर्मकर्त्तनी छुरिकाके द्वारा मलसे प्रभावित मर्मोंको काट डालना चाहिये। भगवती कालरात्रि इस क्रियाकी साक्षी होती हैं। वे छुरिका में निवास करती हैं। इस प्रकार मर्मोंके भेदन हो जानेसे वे मल, माता कालरात्रिमें ही विलीन हो जाते हैं और उनका विसर्जन हो जाता है[1]। शरीरके आधार १६ मर्मस्थानों और छः चक्रोंका इसप्रकार शोधन हो जाता है और ब्रह्मरन्ध्रमें शिष्यका पूर्ण चैतन्य प्रकाशमान हो उठता है। इसके बाद पूर्णाहुति दी जानी चाहिये। पूर्णाहुतिसे परमें नियोजन हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान त्रिशूल, मन्त्र, क्रिया और ध्यानके द्वारा सद्यः उत्क्रान्तिकी दीक्षा गुरु प्रदान कर देता है। परिणाम स्वरूप जीव शरीरको छोड़कर शिवत्त्वका सन्दर्भ पा लेता है। शिवमय हो जाता है[2]। यह मुमुक्षु-दीक्षाका क्रम है। शरीरके १६ मर्मस्थान–१–कुल (मेढ्के नीचे) २–विष (बीचमें) ३–शक्ति (बोधनादकी प्रवर्त्तक, मूलमें) ४–अग्नि, मूलके ऊपर ५–पवन (नाभिके नीचे) ६–घट (नाभिमें) ७–सर्वकाम (नाभि-हृदय-मध्य) ८–संजीवनी (हृदयमें) ९–कूर्म (वक्षमें) १०–लोल (गलेमें) ११–सुधासार (लम्बकोपरि) १२–सौम्य १३–विद्याकमल १४–रौद्र १५–चिन्तामणि और १६–सर्वाधार।

---

१. तं० १९/१०-१४

२. १९/२५-३०।

बुभुक्षोस्तु द्वितीया पूर्णाहुतिः—भोगस्थाने योजनाय, तत्काले च तस्य जीवनलयः, नात्र शेषवर्त्तनम्, ब्रह्मविद्यां वा कर्णे पठेत्। सा हि परामर्श-स्वभावा सद्यः प्रबुद्धपशुचैतन्ये प्रबुद्धविमर्शं[१] करोति। समय्यादेरपि एतत्पाठेऽधिकारः। सप्रत्ययां निर्बीजां तु यदि दीक्षां मूढाय आयातशक्तिपाताय च दर्शयेत्। तदाहि शिवहस्तदानकाले अयं विधिः—

बुभुक्षुकी दूसरी पूर्णाहुति होती है क्योंकि उसे भोगमें संयुक्त करना होता है। तत्काल उसके जीवका लय (हो जाता है)। यहाँ शेष वर्त्तनकी आवश्यकता नहीं। ब्रह्मविद्या कानमें दी जाती है। वह परामर्शमयी होती है। प्रबुद्धचैतन्य शिष्यको प्रबुद्ध-विमर्शमें समाहित कर देती है। समयी शिष्यको भी इस विद्याके पठनका अधिकार है। प्रत्यय सहित निर्बीज दीक्षा आयातशक्तिपात मूढको भी दी जा सकती है। उसी समय शिवहस्त विधिका प्रयोग (होता है)।

भोगकी इच्छा रखने वाला साधक शिष्य बुभुक्षु कहलाता है। इसके लिये गुरु दूसरे प्रकारसे पूर्णाहुति[२] की प्रक्रिया पूरी करते हैं। उसी समय शिष्यका जीवन समाप्त होता है। इसके लिये किसी अन्य वर्त्तन (व्यवहार या क्रिया) की आवश्यकता नहीं होती। गुरुमन्त्र ही ब्रह्मविद्या है। उसे कानमें देना चाहिये। ब्रह्मविद्या का 'स्व' भाव ही 'परामर्श' रूप है। उत्क्रमणके समय जब शिष्यका चैतन्य ब्रह्मरन्ध्रमें उद्दीप्त रहता है—उसी समय उसमें प्रबुद्ध 'विमर्श' का परम प्रकाश उजागर हो जाता है।

समयी आदि गुरुसेवक शिष्योंको इस विद्याके स्वाध्यायका अधिकार है। जप, होम, अर्चन और ध्यान आदिकी सिद्धियोंसे समृद्ध गुरु द्वारा दी गयी दीक्षा 'सप्रत्यया' कहलाती है[३]। निर्बीज दीक्षाकी विधिमें निर्बीजीकरणका प्रदर्शन भी गुरु कर सकता है। 'शिवहस्त' प्रदान करते हुए शिष्यका उद्धार करना चाहिये। मूढ-संशयापन्न व्यक्ति इस निर्बीजीकरण को देखना भी चाहते हैं। उन्हें दिखा देनेसे कोई हर्ज नहीं वरन् श्रद्धा ही पुष्ट होती है।

---

१. तं० १९/४२ २. तं० १९।१६ ३. तं० २०।८

त्रिकोणमाग्नेयं ज्वालाकरालं रेफविस्फुलिङ्गं बहिर्वात्या-चक्राध्मायमानं मण्डलं दक्षिण हस्ते चिन्तयित्वा तत्रैव हस्ते बीजं किञ्चित् निक्षिप्य ऊर्ध्वाधोरेफविबोधितफट्कारपरम्पराभिः अस्य तां जननशक्तिं दहेत्, एवं कुर्वन् तं हस्तं शिष्यस्य मूर्धनि क्षिपेत् ।

दाहिने हाथसे, रेफ (रूप) विस्फुल्लिङ्ग और ज्वालासे कराल आग्नेय त्रिकोणका ध्यान करना चाहिये। वह बाह्य वायुचक्रसे आध्मायमान मण्डल वाला है—ऐसा चिन्तन (करना चाहिये) उसी हाथमें एक बीज (धान आदिका) रखकर ऊपर और नीचे रेफसे उद्दीप्त 'फट्' प्रक्रियासे उस बीजकी प्रजनन शक्तिको जला देना चाहिये। इस प्रकारका तन्त्रकर उस हाथको शिष्यके शिर पर रखना चाहिये।

दीक्षा प्रक्रियाका यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है। शिवहस्त प्रदानकी चर्चा की जा चुकी है। यहाँ दक्षिण हाथको शक्ति सम्पन्न बनानेका विधान निर्दिष्ट है। इसे कोई सिद्ध योगी ही कर सकता है। सर्वप्रथम दाहिने हाथ में एक त्रिकोणकी प्रतिष्ठाकी जाती है। उसके बीचमें 'रं' बीजका आमर्श होता है। यह अग्नि बीज है। अग्निसे प्रज्वलित वह त्रिकोण आग्नेय हो जाता है। आग्नेय त्रिकोणमें ज्वाला उठ रही है। ज्वालासे वह कराल दीख रहा है। उसमेंसे चिनगारियाँ छिटक रही है। इस प्रकारकी शक्ति-पातात्म स्वयं गुरुकृत कल्पनाके द्वारा एक आध्यात्मिक वर्चस्व और तेज-स्विता वहाँ प्रतिष्ठित हो जाती है।

हथेलीमें बने और दीप्तिके प्रतीक उस त्रिकोण[1] के चारों ओर बाहर वात्याचक्रका आध्मान हो रहा है। हरहराती लहराती हवाका एक चक्र ही उस त्रिकोणके चारों ओर मण्डलाकार होकर लहरा रहा है। वह वायुबीजसे प्रभावित है। यह सारा चिन्तन हथेलीमें एक ऊर्जाको जन्म देता है। यह गुरुदेवके गौरवकी चिन्मय मरीचियोंके चमत्कारसे परिपूर्ण होती है।

ऊर्जासे ऊर्जस्वल उस त्रिकोणमें एक धानका बीज डाल दिया जाता है। उस बीजके नीचे 'रं' बीज है। ऊपर भी उसी बीजका प्रभाव है। फिर 'फट्' मन्त्रका बीजात्मक प्रयोग गुरुदेव करते हैं। परिणामतः बीजकी

१. तं० २०।२-६

प्रजनन शक्ति दग्ध हो जाती है। वही हाथ शिष्यके शिरके ऊपर रखते हैं[1]। जिससे उसके सारे पाश भस्मसात् हो जाते हैं। मन्त्रके ध्यान और उसकी प्रक्रियाके बलपर मल रूप माया जन्य कार्यों और उनके प्रभाव एवं फल सभी दग्ध हो जाते हैं। यह क्रिया साक्षात् स्वयं शिवके अनुग्रहसे प्राप्त आशीर्वादात्मिका क्रिया ही है।

इति द्वयोरपि एषा दीक्षा निर्बीजा स्वकार्यकरणसामर्थ्य-विध्वंसिनी भवति–स्थावराणामपि दीक्ष्यत्वेन उक्तत्वात्। वायुपुरान्तर्व्यवस्थितं दोधूयमानं शिष्यं लघूभूतं चिन्तयेत्–येन तुलया लघुः दृश्यते इति।

मर्मकर्तनविधौ लघुभावे, बीजभावविलये यदि मन्त्रः।
तत्तथोचितपथेन नियुक्तस्तत्तदाशु कुरुते परमेशः॥

इस प्रकार गुरु द्वारा प्रदत्त शिष्य और स्थावर दोनोंकी यह दीक्षा निर्बीज दीक्षा (है। यह) स्वसे सम्बन्धित कार्य-कारण भाव शक्तिका विध्वंस कर देती है। क्योंकि जङ्गमोंके साथ स्थावरोंकी दीक्षाका विधान भी शास्त्रोंमें है। वायु पुरान्तर्व्यवस्थित दोधूयमान शिष्यको हल्का सोचे जिससे वह लघु दीख पड़ता है।

मर्मछेद[2] विधि नियत द्रुत, मन्त्र करे तनुभाव।
बीज-विलय अनिवार्यतः भस्मसात् भवदाव॥

बीज भावमें कार्यकारण भाव अनिवार्यतः होता है। खाद-पानी हवाके संयोगसे बीजमें अङ्कुर निकल आता है। भून दिये जाने पर इस कार्यत्व कारणत्वकी समाप्ति हो जाती है। निर्बीज दीक्षा यही काम करती है[3]। वह स्थावरको भी मुक्त करती है। जङ्गमकी बात ही क्या है? निर्बीज दीक्षाके समय वायु मण्डलके अन्तरालमें रूईकी तरह काँपता शिष्य हल्के फुल्केपनका अनुभव करता है। जैसे तुला पर हल्का पदार्थ ऊपर उठकर पदार्थका लघुत्व गुरुत्व व्यक्त कर देता है[4]। इसी प्रकार आनन्द उद्भव, कम्प, निद्रा और घूर्णि की साधककी अवस्थायें साधकको उत्कृष्ट और निकृष्ट सिद्ध कर देती[5] हैं।

---

१. स्व० ४।५८–५९ २. मा० वि० तन्त्र १७।२८–३०
३. स्व० तन्त्र ४।४५३ ४।८७, १४८ ४. तं० २०।११ ५. तं० २०।१२–१५

मन्त्रका प्रयोग मर्मके वेधमें यदि उचित रीतिसे किया जाय तो, वह शिष्यके आन्तरिक और बाह्य सभी मलोंका निराकरण कर उसे उत्कृष्ट बना देता है। उसे निर्बीजता मिल जाती है। उसकी साधना सफल हो जाती है।

जं अनु अन्धि विसेसं घेतूण जडन्ति मन्त्रमुच्चरइ।
इच्छासत्तिप्पाणो तं तं मन्तो करेइ फुडम्॥

संस्कृत छाया—

यं यमनुसन्धि-विशेषं गृहीत्वा यजन्ति मन्त्रमुच्चरन्ति।
इच्छाशक्त्यात्मना, तं तं मन्त्रं कुर्वन्ति स्फुटम्।

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचिते तन्त्रसारे सप्रत्ययदीक्षा प्रकाशनं नाम पञ्चदशाह्निकम्॥ १५॥

हिन्दी पद्यानुवाद—

होम, मन्त्रजप की विधामें अनुसन्धि-विशेष।
इच्छा शक्ति जगा वहीं, करते स्फुट परिवेश॥

विशेष अनुसन्धियोंकी विधि अपनाकर दीक्षामें गृहीत साधक मन्त्रोंका महोच्चार और हवन आदि करते हैं। वे अपनी इच्छा शक्तिका सर्वप्रथम जागरण करते हैं। इच्छा शक्तिके जागृत हो जाने पर एक परिवेश बनता है। मन्त्रकी शक्ति भी स्फुटसे स्फुटतर और स्फुटतम होने लगती है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके 'सप्रत्ययदीक्षा प्रकाश' नामक पन्द्रहवें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा कृत नीर-क्षीर-विवेक महाभाष्य सम्पन्न शुभं भूयात्॥ १५॥

षोडशमाह्निकम्

अथ परोक्षस्य दीक्षा। द्विविधश्च सः—मृतो जीवँश्च। तत्र कृतगुरुसेव एव मृत उद्वासितो वा अभिचारादिहतो डिम्बाहतो मृत्युक्षणोदिततथारुचिः मुखान्तरायातशक्तिपातो वा तथा दीक्ष्य इत्याज्ञा।

अब परोक्षकी दीक्षा[1]का प्रारम्भ करते हैं। वह दो प्रकारका है। १—मृत और जीवन्त। गुरु सेवामें शरीरके क्षीण होनेसे (कोई दीक्ष्य) मर गया है (कोई) उद्वासित है, अभिचारसे हत है, डिम्बाहत है, मृत्युके क्षणमें ही उदित अपनी इच्छासे अधरतन्त्रकी दीक्षा लेनेसे उसमें शक्तिपात आ चुका है—ऐसे सभी लोग दीक्षाके अधिकारी है। (यह) कोई अपनी बात नहीं, अपितु गुरु एवं शास्त्र की आज्ञा है।

प्रश्न बड़ा जटिल है। एक अत्यन्त श्रद्धालु, सेवक गुरु सेवा करता रहा। निःस्वार्थ भावसे। भाव-विभोर था वह! गुरुदेवकी सेवामें ही उसका सारा जीवन समाप्त हो गया। क्या उसका जीवन निष्फल गया? क्या उसे दीक्षा प्राप्त व्यक्तियोंकी तरह मोक्ष नहीं मिल सकेगा? इन्हीं जिज्ञासाओंके समाधानका प्रयास यहाँ किया गया है। ग्रन्थकारका मत है कि, उस मृत व्यक्तिको भी दीक्षित कर उसका स्वात्मकल्याण किया जा सकता है। यही नहीं, यदि व्यक्ति उद्‌वासित हो, अभिचाररूपी मारण क्रियासे मार डाला गया हो, डिब (कठोर ठोस यन्त्र) से कुचल गया हो अथवा मृत्युके समय मरणासन्न व्यक्तिकी दीक्षाकी इच्छा हो जाय अथवा मुखान्तरसे अर्थात् बन्धु आदिके द्वारा बातों ही बातोंमें तीव्र, मध्य, या मन्द ढङ्गके शक्तिपात को चर्चा हो गयी हो! रत्नावलीके वाग् बाणोंसे विद्ध तुलसीदासकी तरह संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाने पर या शक्तिपात हो जाने पर भी गुरुदेव शिवत्त्व प्रदायिनी मृतोद्धारी दीक्षा दे सकते हैं—यह शास्त्रका निर्देश है[2]।

---

१. स्व० ५/५-७६ २. तं० २१/६-११

इस प्रकारकी दोक्षाका उद्देश्य जन्मान्तरको रोकना या शुचि और श्रीमान् व्यक्तियोंके घरमें जन्म लेना भी है। गुरु दीक्षाके बलसे दीक्षित व्यक्तिके समस्त मल ध्वस्त हो जाते हैं। परिणामतः निःश्रेयस् का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

अत्र च मृतदीक्षायाम् अधिवासादि न उपयुज्यते। मण्डले मन्त्रविशेषसन्निधये यत्र बहुला क्रिया, उत्तममुपकरणं पुष्पादि, स्थानं पीठादि, मण्डलं त्रिशूलाब्जादि, आकृतिः ध्येय विशेषः, मन्त्रः स्वयं दीप्तश्च, ध्यानपरस्य योगिनः तदेकभक्ति-समावेश-शालिनो ज्ञानिनश्च सम्बन्धः, इत्येते सन्निधानहेतवो यथोत्तरम् उक्ताः। समुदितत्त्वे तु का कथा स्यात्-इति परमेश्वरेण उक्तम्। ततो देवं पूजयित्वा तदाकृतिं कुशादिमयीम् अग्रे स्थापयित्वा गुर्वासादितज्ञानोपदेशक्रमेण तां पश्येत्[1]।

मृत दीक्षामें अधिवास आदि विधान अनुपयुक्त हैं। मण्डलमें मन्त्र-विशेषकी सन्निधिके लिये जहाँ बहुत सारी क्रियायें, उत्तम उपकरण पुष्प आदि, स्थान पीठ आदि, मण्डल त्रिशूलकमल, आकृति ध्येय विशेष और स्वयं दीप्त मन्त्र, ध्यान, योगी, आराध्यको भक्ति, समावेश, ज्ञानियोंके सम्बन्ध, ये सभी सन्निधानके हेतु हैं।

समुदितस्थितिकी कथा ही कुछ दूसरी है। यह परमेश्वरका कथन है। तत्पश्चात् देवका अर्चन कर उसकी कुशादिमयी आकृतिको आगे स्थापना कर गुरु द्वारा प्रतिपादित उपदेशका क्रमिक अनुदर्शन करना चाहिये।

मृत व्यक्तिकी आत्माका उद्धार करनेके लिए विशेष प्रकारकी दीक्षा दी जाती है। इसे मृतोद्धारी दीक्षा कहते हैं। यह दीक्षा राजा, आलसी, पतित मृत, बाल, आतुर, स्त्री और अत्यन्त वृद्धको दी जाती है[2]। जीवित व्यक्तिकी दीक्षामें पूर्व लिखित अधिवास आदि विधियाँ निर्दिष्ट हैं। वे मृतोद्धारी दीक्षामें उपयोगी नहीं हैं। मण्डलमें प्रवेश करनेका लक्ष्य क्या है? मन्त्रसे सामोप्य और उससे उत्पन्न होने वाली तृप्ति ही उसका उद्देश्य है।

---

१. तं० २१/१६-२३ २. २१/१२

उसमें अन्य सारी जितनी क्रियायें होती हैं, वे मन्त्रके सन्निधान की हेतु मानी जाती हैं। इनकी संख्या ११ हैं—११·क्रिया अर्थात् सारी विधियाँ २-उपकरण अर्थात् पूजाके फूल आदि सामान ३-स्थान अर्थात् पीठ आदि ४-मण्डल अर्थात् त्रिशूल कमल आदि ५-आकृति अर्थात् ध्येयका आकार विशेष ६-मन्त्र अर्थात् मननीय बीजवर्ण जिसमें स्वयं दिव्य ऊर्जाकी उद्दीप्ति होती है। ७-ध्यान अर्थात् ध्येय निष्ठ एकाग्रता ८-योग अर्थात् ध्याता और ध्येय का मिलन ९-तदेकभक्ति अर्थात् अनन्यभाव १०-समावेश अर्थात् तादात्म्य और ११-ज्ञान अर्थात् आराध्यके 'स्व' रूपका साक्षात्कार। भक्त, ज्ञानी और आराध्यसे एकाकारता प्राप्त मनीषीका सम्बन्ध आराध्यसे ही होता है। इसी सम्बन्धको उजागर करने वाली अन्य सारी प्रक्रियायें होती हैं। इनका एकत्र समुदय या व्यामिश्रण और भी महत्त्वपूर्ण होता है। ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट होते हैं। यह सारी प्रक्रिया गुरुके अधीन होती है। आराध्यकी पूजा करके मृतोद्धारी दीक्षाके अनुसार जिसे दीक्षा देनी है, गोबर या कुशसे एक आकृति बनानी चाहिये। देवताके आगे उसे रख देना चाहिये। उसके ऊपर शास्त्रकी आज्ञा अथवा गुरुजनोंके कथनानुसार दृष्टि द्वारा शक्तिपात करना चाहिये।

मूलाधारादुदेत्य प्रसृतसुविततानन्तनाड्यध्वदण्डं
वीर्येणाक्रम्य नासागगनपरिगतं विक्षिपन्व्याप्तुमीष्टे।
यावद्धूमाभिरामप्रचिततरशिखाजालकेमाध्वचक्रं
संच्छाद्यार्भाष्टजीवानयनमिति महाज्जालनामा प्रयोगः॥
एतेनाच्छादनीयं व्रजति परवशं संमुखीनत्वमादौ
पश्चादानीयते चेत्सकलमथ ततोऽप्यध्वमध्याद्यथेष्टम्।
आकृष्टावुद्धृतौ वा मृतजनविषये कर्षणीयेऽथजीवे
योगः श्रीशम्भुनाथागमपरिगमितो जालनामा मयोक्तः[1] ॥

मूलाधारसे उदित कर, अनन्त नाड़ियोंसे निर्मित, प्रसृत और सुवितत अध्वदण्डको अपने पराक्रमसे आक्रान्त करके, नासा गगन परिगत (स्थानमें शक्तिका) प्रक्षेप करते हुए यह क्रिया करनी चाहिये।

---

१. तं० २१/२४-२६, २७, २८, ३३, ३५, ३७, ४३, ४५

यह तब तक होनी चाहिये, जब तक धूम्रराशिसे सुशोभित प्रवृद्ध शिखासमूह वाले अग्निसे सारा अध्व मण्डल आच्छादित न हो जाय। यह अभीष्ट जीवको आनयन करनेवाला महाजाल नामक प्रयोग कहलाता है ॥

इस प्रक्रियासे आच्छादनीय प्राण परवश हो जाता है। प्रथमतः सम्मुख होता है। फिर उसका आनयन करते हैं। यदि सकल जीव समूह (का अपहरण होता हो) तो अध्वमध्यसे यथेष्टका ही आकर्षण करना चाहिये। उद्धृतिमें शिष्यके या मृतोद्धारी दीक्षाके पात्र जीवके कर्षणमें यह श्रीशम्भुनाथागमसे ज्ञात जाल नामक प्रयोग मेरे द्वारा (ग्रन्थकार द्वारा) उक्त है।

प्रथम श्लोकमें आचार्यके वर्चस्वका उल्लेख है। जैसे समुद्रसे मछलियों, कछुओं या अन्य जीव जन्तुओंको पकड़नेके लिये महादक्ष अभ्यत मल्लाह महाजालका प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार जीवके लिये आकर्षणका यह तान्त्रिक प्रयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है और ऐसे ही सिद्ध आचार्यके वश की बात है।

सर्वप्रथम आचार्य सिद्ध आसन पर विराजमान हो जाते हैं। मूलाधारसे कुंडलिनीके स्पन्दसे ऊर्ध्वप्रवर्त्तित प्राणको पूरक प्रक्रियाके द्वारा प्रबुद्ध करते हैं। प्राणायामकी पूरक, कुम्भक और रेचक क्रियाओंसे प्राण तत्त्वको आक्रान्त करना पड़ता है। अतः आचार्य प्राणशक्तिको अनन्त नाडी चक्रमें सम्प्रेषित करते हैं। नाडो चक्र सारे शरीरमें व्याप्त है और अनन्त है। इसमें प्राण ऊपर और नीचे आता जाता है। इस प्रकार नाडीका अध्व (मार्ग) दण्डकी तरह आकलित होता है। इस दण्डको शक्तिके बलसे आचार्य आक्रान्तकर लेते हैं। इस क्रियासे शरीर शक्तिका केन्द्र बन जाता है। उसी केन्द्रसे प्राण वायुका नासिका रन्ध्रसे ब्रह्माण्डमें प्रक्षेप करते हैं। एक तरहसे आचार्यका प्राणवायु विश्वमें व्याप्त हो जाता है। साधारण जाल भी जलमें प्रक्षिप्त किये जाते हैं। यहाँ व्यापक प्राण भी जालका काम करता है। जैसे धुएँसे शोभायमान लपटोंसे लपलपाती ज्वालाओंसे प्रोज्वल आग वातावरणको मानों आच्छादित करती है; उसी तरह आचार्यके प्राणकी आग समस्त अध्वचक्रको आच्छादित कर लेती है।

जैसे महाजालके प्रयोगसे समुद्रसे, नदियोंसे, जलराशिसे अभीष्ट इच्छित जीवोंको पकड़ लेते हैं, उसी तरह आचार्य अपने स्वात्मकी ऊर्जासे ऊर्जस्वल ओजमयी अस्मितासे सारे अध्वचक्रका आच्छादनकर लेते हैं। परिणामतः वे जीवके आनयनमें आगमिक प्रयोगसे समर्थतया सक्षम होते हैं। उसी प्रयोगको महाजाल नामक प्रयोग कहते हैं।

द्वितीय श्लोकमें महाजाल प्रयोगके परिणाम एवम् उसके प्रक्रियाक्रमका वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम परिणाम पर ध्यान केन्द्रितकर सबकी आशङ्काओंका निर्मूलन करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि, इस प्रक्रियासे आच्छादनीय जीव परवश हो जाता है। वह जालमें फँस जाता है। जाल खींचने पर सारे जीव सामने आते हैं। इस महाजाल प्रक्रियामें भी आच्छादित अध्वचक्रके सभी जीव सामने आते हैं। उसमेंसे अपने अभीष्ट दीक्ष्य जीवका आकर्षण किया जाता है। इस जीवानयन व्यापारसे पशुरूप बद्ध शिष्य जीवका उद्धार हो जाता है। यह आकर्षण, आनयन और उद्धारकी प्रक्रिया मृत पुरुषके जीवसे विशेषतः सम्बन्धित है। जिन जीवित जन्तुओं, प्राणियों और मनुष्योंको मृतोद्धारी दीक्षा दी जाती है, वे तो जीवित भी मृत ही हैं। उनमें चेतनाका पक्ष शून्य हो जाता है। उनपर भी यह प्रयोग किया जाता है।

ग्रन्थकार अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करनेके लिये यहाँ 'आप्तवाक्यं प्रमाणम्' इस उक्तिको चरितार्थकर रहे हैं। वे कहते हैं कि, यह मेरी कपोल कल्पना नहीं, अपितु श्रीशम्भुनाथ आगमका यह गुरुप्रदत्त परिनिष्ठित ज्ञानोपदेश है। मैंने यहाँ उसीकी चर्चाकी है।

दो सेनाओंमें युद्ध चलता है। कितने लोग मरते हैं। युद्धकी समाप्तिपर अपने जातीय आत्मीयवर्गमें सभी मिलते दीख पड़ते हैं। उसी तरह गुरुकृपासे आनीत, आकृष्ट और उद्धृत जीव गुरुके शरणमें स्वभावतः आ जाते हैं और उनका कल्याण हो जाता है। विज्ञानवेत्ता आचार्य चरणके प्रभावसे वे स्वर्गके बन्धन, प्रेतबन्धन, तिर्यग् योनि बन्धन और नरककी यातनासे तत्काल मुक्त हो जाते हैं। गुरुकी कृपासे मण्डलमें रखी कुश आदिको मूर्त्तियोंमें जीव अधिष्ठित हो जाते है। योग, मन्त्र, क्रिया और ज्ञानके वशीभूत होकर चैतन्य पथके पथिक हो जाते हैं। ऐसे सोये हुये चैतन्यवाले मृतकल्प जीवोंके उद्धारका यह महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग आचार्योंके विज्ञान पर ही निर्भर करता है।

बहिरपि इत्थं कथं न भवति, आकर्षणादौ विनाभ्यासात् ? इति चेत् रागद्वेषादियोगवशेन तत्प्रवृत्तौ ऐश्वर्यावेशायोगात्। ततो नियतिनियन्त्रितत्वात् अभ्यासाद्यपेक्षा स्यादेव इह तु अनुग्रहात्मकपरमेश्वरतावेशात् तथाभावः। परमेश्वर एव हि गुरुशरीराधिष्ठानद्वारेण अनुग्राह्यान् अनुगृह्णाति। स च अचिन्त्य-महिमा इति उक्तप्रायम्।

आकर्षण आदिके बिना अभ्यासके भी बाहर भी इस प्रकारकी क्रिया क्यों नहीं होती है? इस, प्रश्नका उत्तर है कि, रागद्वेष आदि योगके कारण और उस प्रकारकी प्रवृत्ति होनेसे ईश्वर भावके आवेशका योग नहीं हो पाता। नियतिसे नियन्त्रित होनेके कारण इसमें अभ्यास आदिकी अपेक्षा रहती ही है। इस दीक्षामें अनुग्रहात्मक परमेश्वरताके आवेश से ही वैसा होता है। परमेश्वर ही गुरु शरीरमें अधिष्ठित होता है। वही अनुग्रह करने योग्य शिष्यको अनुगृहीत करता है। वह अत्यन्त महिमा वाला है—यह कहा जा चुका है।

महाजालके प्रयोग आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके हो सकते हैं।[1] किन्तु बाह्य प्रयोगमें आकर्षणकी वह सफलता नहीं हो पाती। सफलताके लिये अभ्यास आवश्यक होता है। व्यवहारमें भी अभ्यासके के बिना जालका खींचा जाना सम्भव नहीं होता। ठीक उसी तरह राग-द्वेषसे प्रभावित हो जाने पर मुमुक्षा उपेक्षित हो जाती है। प्रवृत्तिका पक्ष प्रबल हो जाता है। परिणामतः ईश्वरभाव और ईश्वरका आवेश असम्भव हो जाता है। इसलिये यह ध्यान देना चाहिये कि, अणुत्वकी सीमाके कारण, ईश्वर भावके अभावके कारण अथ च 'नियति' से नियन्त्रित होनेके कारण साध्य अर्थ की सिद्धिके लिये अभ्यासकी अनिवार्य आवश्यकता होती है।[2]

यह नहीं कहा जा सकता कि, उक्त भाव तो इच्छाके अनुसार ही क्रियामें प्रवृत्तिसे बनते हैं। यह निश्चय है कि, परमेश्वरका अनुग्रह ही भावोंके निर्माणका कारण है। अनुग्रहसे ही पारमेश्वर आवेश होता है। आवेशसे ही महाभावकी भव्यता आविर्भूत होती है। साथ ही यह भी

---

१. २१/३६ २. तं० २१/४५

विशेषतः ध्यान देनेके योग्य है कि, गुरु मात्र भौतिक पिण्ड ही नहीं है। उसके रूपमें उसके शरीरमें परमेश्वरका ही अधिष्ठान हो जाता है। वह आम्नात विषयका अधिकारी होता है। परमेश्वर ही गुरु शरीरके माध्यम से सभी अनुग्रह योग्य शिष्यों पर अनुग्रह करता है। इस तथ्यकी चर्चा, उसके माहात्म्यकी मान्यताका ख्यापन इस ग्रन्थमें प्रसङ्गवश प्रायः किया ही गया है।

एवं जालप्रयोगाकृष्टो जीवो दार्भं जातीफलादि वा शरीरं समाविष्टो भवति, न च स्पन्दते—मनः प्राणादिसाम्रग्यभावात् तदनुध्यानबलात् तु स्पन्दतेऽपि तादृशेऽपि तस्मिन् पूर्ववत् प्रोक्षणादिसंस्कारः पूर्णाहुतियोजनिकान्तः। अत्र परं पूर्णाहुत्या तस्य दर्भाद्याकारस्य परतेजसि लयः कर्त्तव्यः। एवम् उद्धृतोसौ पूर्णाहुत्यैव अपवृज्यते—यदि स्वर्नरकप्रेततिर्यक्षु स्थितः मनुष्यस्तु तदैव ज्ञानं योगं दीक्षां विवेकं वा लभते—अधिकारिशरीरत्वात्, इति मृतोद्धरणम्।

इस प्रकार जालप्रयोगाकृष्ट जीव दार्भ या जातीफल (से कल्पित) शरीरमें समाविष्ट होता है किन्तु स्पन्दन नहीं करता क्योंकि मनप्राण आदि सामग्रीका वहाँ अभाव होता है। (जब) अनुध्यान होता है, तो उसके बलसे स्पन्दित भी होता है। उस रूपमें भी उसमें पूर्ववत् प्रोक्षणादिसंस्कार पूर्णाहुति योजनिका पर्यन्त (आवश्यक है)।

तत्पश्चात् पूर्णाहुतिसे उसके दार्भ आकृतिमें (समाविष्ट शिष्यका) परमप्रकाशमें विलय कराना चाहिये। इस प्रकार उद्धृत वह पूर्णाहुति के द्वारा ही अपवर्गका अधिकारी बन जाता है। भले ही वह स्वर्गमें हो, नरकमें हो, प्रेतयोनिमें हो अथवा तिर्यक् योनिमें हो। मनुष्य तो अधिकारी शरीरवान् होनेके कारण तत्काल ही ज्ञान, योग, दीक्षा अथवा (इहामुत्रार्थफल भोगका) विवेक पा जाता है। यह मृतोद्धार दीक्षा कहलाती है।

महाजालका यह तान्त्रिक प्रयोग बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। जीव जाल-क्रम प्रक्रियामें आनीत कर लिया जाता है। उस समय उसे प्रतीत होता है कि, मानो वह सोये हुए की तरह है। न स्पन्दन कर पाता है। न कुछ जानता है।

न ही कुछ बोल पाता है। न कुछ चाहता है क्योंकि यह सारी बातें तो शरीरमें होती हैं। संस्कार तो उसके रहते हैं पर शारीरिक मन आदि सामग्रीका नितान्त अभाव रहता है। किसी प्रकार वह स्पन्दित नहीं हो सकता। उसके सभी संस्कार (जीवितकी तरह) प्रकल्पित करना चाहिये। उस समय उसे निर्बीज दीक्षा दी जानी चाहिये। उसका शिवमें संयोजन करनेके उपरान्त पूर्णाहुतिके साथ ही जिस कुशमें या जायफलकल्पित शरीरमें वह पड़ा हुआ है; उसको भी सद्यः अग्निमें प्रक्षिप्त कर देना चाहिये। पहले वह दर्भ देहमें आश्रित होता है। मन्त्रके प्रयोग करने पर पूर्णाहुतिके समय उसकी सांसारिकता भी समाप्त हो जाती है। वह तब सचमुच पाशमुक्त हो जाता है। कह सकते हैं कि, वह पाशमुक्त होकर पुनरावृत्तिसे रहित शिवत्वसे संवलित साक्षात् शिव हो जाता है। भले ही उसके उस वर्त्तमान जीवनमें वह स्वर्गमें, नरकमें, प्रेतयोनिमें अथवा तिर्यक् पशुपक्षि योनिमें भी रहा हो—वहाँसे आनयनकर उसका उद्धार कर दिया जाता है। यह इस दीक्षाको बहुत बड़ी विशेषता है। जहाँ तक मनुष्यका प्रश्न है—उसकी तो मृतोद्धार दीक्षासे सरलतापूर्वक अनायास ही पाशबद्धता समाप्त हो जाती है क्योंकि इसके पास तो अधिकृत शरीर होता है। इसे तत्काल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। योग और दीक्षासे समन्वित रहकर वह विवेक प्राप्त कर लेता है[1]। इसका परिणाम मुक्ति है, जो उसे यहीं मिल जाती है।

जीवतोऽपि परोक्षस्य उत्पन्ने शक्तिपातेऽयमेव क्रमः, दार्भाकृतिकल्पन–जीवाकृष्टिवर्जम्। ध्यानमात्रोपस्थापितस्यैव अस्य संस्कारः। दीक्षा च भोगमोक्षोभयदायिनी–स्ववासनाबलीयस्त्वात्, भोगवासनाविच्छेदस्य च असंभाव्यमानत्वात् बहुभिः, दीक्षायामूर्ध्वशासनसंस्कारो बलवान् अन्यस्तु तत्संस्काराय स्यात्। परोक्षस्यापि दीक्षितस्य तथैव ज्ञानाद्याविर्भावः इति।

यदि व्यक्ति जीवित है और परोक्षमें स्थित है और उसमें शक्तिपात हो, तो उस अवस्थामें भी यही क्रम अपनाना चाहिये। इसमें

१. तं० २१/३७–४२

दर्भाकृति कल्पन अथवा जीवका आकर्षण नहीं होना चाहिये। ध्यान-मात्रसे ही वह उपस्थापित हो जाता है। फिर संस्कार होता है। दीक्षा भोग और मोक्ष भी देती है। कारण १—अपनी वासना बड़ी बलवती होती है। २-भोगकी वासनाका क्षय होना असम्भव प्राय है। ३-दीक्षामें ऊर्ध्वशासन-संस्कारका ही महत्त्व है। दूसरे लोग भी इसी प्रकार संस्कार्य हैं। परोक्षमें दीक्षित व्यक्तिको भी उसी प्रकार ज्ञान आविर्भूत होता है।

यदि कोई व्यक्ति जीवित हो किन्तु परोक्षमें, विदेशमें या दूर निवास करता हो, उसे गुरुके समक्ष उपस्थित होनेकी सुविधा न प्राप्त हो, तो उसे भी निर्बीज दीक्षा दी जाती है। हाँ, यह विचार करना आवश्यक है कि, क्या वह निर्बीज दीक्षाका अधिकारी है? क्या उसके ऊपर गुरु या परमेश्वरकी श्रद्धा और आस्थाके आधार पर शक्तिका अवतरण हुआ है, जिसे तन्त्रकी भाषामें शक्तिपात कहते हैं।

इस दीक्षामें दर्भ और जायफलके शरीर बनानेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वयं शरीरधारी है। गुरुके संकल्प मात्रसे ही उसके जीवका आकर्षण हो जाता है। दर्भके प्रयोगसे उसके तत्काल मरनेका भय रहता है, क्योंकि उस जीवको नये दर्भ शरीरका आश्रय मिलने पर (मनुष्य शरीर के) निष्क्रिय होनेका भय उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये यह आवश्यक है कि, ध्यान मात्रसे उसका संस्कार किया जाय। पूर्णाहुतिसे दर्भको अग्निसात् करनेकी प्रक्रिया यहाँ नहीं अपनायी जानी चाहिये।[१]

यह चर्चा तो की ही जा चुकी है कि, दीक्षा दो तरहकी होती हैं। शिष्यके संस्कारों पर भी यह निर्भर करता है कि, कौन-सी दीक्षा उसे अनुकूल पड़ेगी। इसमें तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात जिस पर ध्यान जाना चाहिये—१—अपनी वासनाकी बलवत्ता २—भोगके आग्रह और उसकी इच्छाका तोड़ना बहुतोंके द्वारा कितना असम्भव होता है। और तीसरी बात ३—कि क्या दीक्ष्य शैव शासनके संस्कारोंसे सम्वलित है? उसमें संस्कारकी बलवत्ता उत्तरोत्तर सम्बर्द्धित हो चुकी है?

---

१. तं० २१/४३–४४

इन बातोंकी चर्चा इसलिये आवश्यक है कि, गुरु और शिष्य दीक्षाकी परिस्थितियों पर दोनों अपनी अनुभूतियों पर और साथ ही संस्कारों पर विचार करते रहें। संस्कारके अनुसार ही दीक्षा फलवती होती है। वह मोक्ष तो देती ही है, भोग भी देती है। हाँ इन बातोंका ध्यान अवश्य रखना चाहिये।

जो शिष्य शैव संस्कार सम्पन्न नहीं हैं, शैव शासनकी सिद्धान्तवादितासे अनभिज्ञ हैं अथवा अन्य निम्नस्तरीय मतवादोंसे प्रभावित हैं—उनको भी यह दीक्षा देनी चाहिये। उन्हें ऊर्ध्वशासनके संस्कारोंसे सम्पन्न बनानेके लिये शैव दीक्षा अवश्य देनी चाहिये।

परोक्षमें रहने वाले व्यक्तिको दीक्षा देनेसे उसके अधस्तन संस्कार अत्यन्त पुनीत हो जाते हैं। ऐसे दीक्षित पुरुषमें भी ज्ञान, योग दीक्षा और विवेकका उदय हो जाता है और अन्तमें वह मोक्षका अधिकारी बन जाता है।[1]

परमेश्वरतावेशदाढर्यात् स्वातन्त्र्यभाग्गुरुः।
परोक्षमभिसन्धाय दीक्षितेति किमद्भुतम् ॥

शिवावेशदृढ गुरु स्वयं स्वातन्त्र्यान्वित नित्य।
दीक्षा दे दीक्षित करे विधि-परोक्ष-औचित्य ॥

साधनाकी परिपक्व अवस्थामें परमेश्वरके आवेशका आनन्द अनुभूतियोंका विषय है। आराध्यके अनुग्रहका अधिकारी द्वादशान्त अवस्थामें विराजमान हो जाता है। यह पुस्तकीय ज्ञानसे नहीं अपितु स्वतः साधनासे उपलब्ध स्थिति है। उस समय सिद्ध गुरुमें ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्यके शैव महाभाव स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा सर्व गुण सम्पन्न गुरु ही परोक्ष दीक्षा देनेका अधिकारी होता है। परोक्ष दीक्षासे शिष्यको मुक्त कर लेनेका गुरुतर कार्य अत्यन्त आश्चर्य जनक है किन्तु सिद्ध गुरुदेवके लिये इसमें आश्चर्य की कोई बात ही नहीं। स्वातन्त्र्य परमशिवका सर्वोत्कृष्टधर्म है। इसीके बल पर वह शक्तिमान् होता है और कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ है। गुरुमें भी दृढ़ शैव आवेशसे यह गुण आ जाता है।

---

१. २१/४५–४६

परम्म सिवतम्म अत्तण, प्पडिअं सच्छन्दभान।
परमत्थंजो आविसत्ताऽस दिक्खइ परोक्ख इवं पिसिस्सगणम् ॥

संस्कृत छाया—

परमं शिवतममात्मानं प्रतिपदं स्वच्छन्दभाजनम्।
परमार्थतः यः आविशति असौ दीक्षते परोक्षविधिं निजशिष्यगणम्।

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यं विरचिते तन्त्रसारे परोक्षदीक्षाप्रकाशनं नाम षोडशमाह्निकम् ॥ १६ ॥

इस श्लोकमें भी उसी विषयका प्रतिपादन किया गया है। परम शिवके संविदैकात्म्यमें दार्ढ्य सामान्य बात नहीं है। गुरु शिवमय हो जाता है और साक्षात् स्वाच्छन्द्य सम्पन्न बन जाता है। परमार्थतः वह शिवके आवेशसे आविष्ट रहता है। वही परोक्ष दीक्षाके द्वारा समस्त शिष्य समुदायका उद्धार करनेमें समर्थ होता है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके परोक्षदीक्षा प्रकाशन
नामक सोलहवें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा विरचित
नीर-क्षीर विवेक-महा-भाष्य सम्पन्न
शुभं भूयात् ॥ १६ ॥

इस प्रसङ्गमें तीन प्रकारके ऐसे व्यक्तियोंका उल्लेख है, जिन्हें शैव शासनमें दीक्षित किया जा सकता है। वे हैं—१-वैष्णव तन्त्रसे अनुशासित पुरुष। २-ऐसे लोग जिन्होंने उक्त तन्त्रोंमें प्रचलित व्रतोंको ग्रहणकर लिया है और ३-ऐसे पुरुष जो उत्तम शैव सिद्धान्तोंसे अनुशासित हैं। ऐसा होने पर भी वे लोग ऐसे गुरुकी उपसेवामें रहते हैं, जो अधर शासन (वैष्णव आदि) की सिद्धान्तवादिताको स्वीकार करते हैं। ये गुरु अधिकारी नहीं होते। पारमेश्वर दीक्षामें अनभिज्ञताके कारण वे शिष्यका उद्धार नहीं कर सकते। इन तीनों प्रकारके श्रद्धालु पुरुषोंके हृदयमें परमेश्वरकी कृपासे ही कभी स्वात्म सूर्यका प्रकाश होने लगता है। उनके हृदय कमल खिल उठते हैं। प्रत्यभिज्ञाका उदय हो जाता है। आत्माभिमुख्यका ज्ञान विकसित होता है और जगत्के आभिमुख्यका ज्ञान अस्त होने लगता है। यह परमेश्वरकी कृपाशक्तिका उस श्रद्धालुके ऊपर वर्षण ही है। यही शक्तिपात है। शक्तिपातसे परमेश्वरके प्रति उन्मुखता उत्पन्न हो गयी होती है। उस समय स्वयं उसमें सद्गुरुके शरणमें जानेकी प्रबल आकांक्षाका उदय होता है। वह सद्गुरुके पास जाता है। उसके उद्धारकी विधिका यहाँ उल्लेख किया गया है।

पहले दिन उससे उपवासका व्रत रखवाया जाय। दूसरे दिन सामान्य मन्त्रोंसे भगवान शङ्करकी पूजाकी जाय। श्रद्धालुकी चेष्टाओंको, उसकी प्रवृत्तियोंके भगवान्को सुनाया जाय और वहीं भगवान्के समक्ष उसको प्रस्तुत किया जाय। मन्त्र शक्तिके बलसे उसके पूर्व व्रत-आचरणको गुरु स्वयं ग्रहण करे और सामने रखे जलमें डाल दे। तब वह स्नान करे। पश्चात् दातुनसे मुँह साफ करे। उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे पुनः पूजनके लिये मन्दिरमें प्रवेश कराकर उससे ही पूजा करानी चाहिये।

ततः साधारणमन्त्रेण शिवीकृते अग्नौ व्रतशुद्धिं कुर्यात्। तन्मन्त्रसम्पुटं नाम कृत्वा 'प्रायश्चित्तं शोधयामि' इति स्वाहान्तं शतं जुहुयात्। ततोऽपि पूर्णाहुतिः वौषडन्तेन। ततो व्रतेश्वरम् आहूय पूजयित्वा तस्य शिवाज्ञया 'अकिञ्चित्करः त्वमस्य भव' इति श्रावणां कृत्वा तं तर्पयित्वा विसृज्य अग्निं विसृजेत् इति लिङ्गोद्धारः। ततोऽस्य अधिवासादि प्राग्वत्। दीक्षा यथेच्छम्।

सप्तदशमाह्निकम्

अथ लिङ्गोद्धारः

वैष्णवादिदक्षिणतन्त्रान्तेषु शासनेषु ये स्थिताः तद्गृहीत-व्रता वा, ये च उत्तमशासनस्था अपि अनधिकृताधरशासन-गुरूपसेविनस्ते यदा शक्तिपातेन पारमेश्वरेण उन्मुखीक्रियन्ते तदा तेषामयं विधिः। तत्र एनं कृतोपवासम् अन्यदिने साधारणमन्त्रपूजितस्य तदीयां चेष्टां श्रावितस्य भगवतोऽग्रे प्रवेशयेत्, तत्रास्य व्रतं गृहीत्वा अम्भसि क्षिपेत्। ततोऽसौ स्नायात्। ततः प्रोक्ष्य चरुदन्तकाष्ठाभ्यां संस्कृत्य बद्धनेत्रं प्रवेश्य साधारणेन मन्त्रेण परमेश्वरपूजां कारयेत्।

लिङ्गोद्धार विधिका उल्लेख किया जा रहा है। वैष्णवतन्त्रोंसे दक्षिण तन्त्रों तकके (सम्प्रदायानुसारी) अलग-अलग शासन (सिद्धान्त या अनुशासन के नियम) होते हैं। (बहुतसे श्रद्धालु) उन अनुशासनोंकी (सरणी में) स्थित होते हैं। कुछ लोग उन व्रतोंको ग्रहण कर लेते हैं (जो उक्त अनुशासनके होते हैं)। (तीसरे प्रकारके कुछ ऐसे लोग होते हैं) जो उत्तम शैव शासनमें स्थित तो हैं किन्तु (श्रद्धावश) वे अनधिकृत अधर (वैष्णवादि) शासनके गुरुजनोंकी उपसेवा करते हैं (जहाँ उनके संस्कार बिगड़ जाते हैं)। इन तीनों प्रकारके श्रद्धालु परमेश्वर शक्तिपातके कारण परमेश्वरकी कृपासे उन्मुख कर लिये जाते हैं—उस समय उनके लिये यह विधि-विधान है—१-पहले दिन उपवास करे। २—दूसरे दिन सामान्य पूजाके उपरान्त उसके पहलेके आचरणोंको भगवान् के समक्ष सुनाया जाय। वहीं उसे बुलाया जाय (और यह सब विधि उसे देखने दी जाय)। गुरु (मन्त्रके बलसे) उसके (पूर्वाचरित व्रतोंको) ग्रहण कर जलमें डाल दे। फिर वह नहाये। प्रोक्षण करे। चरु प्राशन करे। दातुनसे मुखका संस्कार कर ले। उसकी आँखों पर (अन्य रूपादि संस्कारों की छाया न पड़ सके इसलिये) पट्टी लगाकर प्रवेश करावे और सामान्य मन्त्रोंसे उसीसे परमेश्वरकी पूजा करावे।

तत्पश्चात् साधारण मन्त्रसे शिवीकृत अग्निमें व्रत शुद्धि करनी चाहिये। उस मन्त्रसे नामको सम्पुटितकर 'प्रायश्चित्तं शोधयामि स्वाहा' अन्तमें लगाकर शिष्य १०० आहुतियाँ दे। (स्वाहाके स्थान पर) 'वौषट्' लगाकर पूर्णाहुति करनी चाहिये।[1]

इसके बाद व्रतेश्वरका ॐ व्रतेश्वरायनमः इस मंत्रसे आवाहन और पूजन करना चाहिये। उसे यह सुनाना चाहिये कि भगवन्' 'त्वम् अस्य अकिञ्चित्करः भव'। व्रतेश्वरका तर्पण तथा विसर्जन करनेके बाद बाद अग्निका विसर्जन करना चाहिये।

यह लिङ्गोद्धारकी प्रक्रिया है। इसके बाद इस शिष्य की अधिवास आदिकी विधि करनी चाहिये। दीक्षा उसको इच्छाके अनुसार देनी चाहिये। भुक्ति या मुक्ति जो भी वह चाहे, उसे देकर उसे कृतार्थ करना चाहिये।

आराध्यके नामके साथ चतुर्थी विभक्ति और नमः लगानेसे वह मन्त्र बन जाता है[2]। साधारण मन्त्र सात प्रकारके होते हैं। इनसे अग्नि शिवमय हो जाते हैं। प्रणव भी साधारण मंत्र ही है। अग्नि देव प्रकाशके ही प्रतीक हैं। प्रकाश शिवरूप होता है। यज्ञकी अग्निमें शिवत्वकी प्रतिष्ठा होती है। उसी अग्निमें व्रतकी शुद्धिकी जानी चाहिये। नाम जब मन्त्रसे सम्पुटित होता है, तो उसमें शक्तिका समायोजन हो जाता है। एक तरहसे वह नाम भी मन्त्रात्मक हो जाता है। जैसे—'ॐ तारकेश्वराय देवदत्तोऽहं तारकेश्ववराय नमः प्रायश्चित्तं शोधयामि स्वाहा' इस मन्त्र से सौ आहुतियाँ देनी चाहिये। स्वाहा के स्थान पर 'वौषट्' लगानेसे यही पूर्णाहुतिका मन्त्र बन जाता है।

आवाहन, पूजन, श्रावण (निवेदन) प्रार्थन, तर्पण तथा देव और अग्नि का विसर्जन इतने आवश्यक कार्य आगम सम्मत हैं। व्रतेश्वरका आवाहन पहले ही आवश्यक है। तदनन्तर उनकी अर्चना और उनसे अपने और शिष्यके सम्बन्धमें निवेदन करना चाहिये। कि हे भगवन्! तुम इसके सम्बन्ध में कुछ (प्रतिकूल न करो) वरन् अकिञ्चित्कर हो जाओ। इस प्रार्थनाके बाद तर्पण करना चाहिये। पहले व्रतेश्वरका विसर्जन और बादमें अग्निका भी विसर्जन करना चाहिये।

---

१. तं० २२। २३–२४   २. तं० २२।२०, २३।७०

यह लिङ्गोद्धारकी प्रक्रिया है। इसके बाद अधिवास आदिकी विधि पहलेकी तरह करनी चाहिये। दीक्षाके सम्बन्धमें शिष्यकी इच्छा ही प्रमुख है। यदि भुक्तिदीक्षा चाहे, तो उसे वही दीक्षा देनी चाहिये। यदि मुक्ति-दीक्षा चाहता हो तो उसे वही देनी चाहिये।

अधरस्थोऽपि गाढेशशक्तिप्रेरितमानसः।
संस्कृत्य दीक्ष्यो यश्च प्राङ्निरतोऽसद्गुरावभूत् ॥

हिन्दी—**आस्थावश शिवशक्तिसे प्रेरित यदि अधरस्थ।**
निरत असद्गुरु तदपि वह दीक्ष्य सँवार वयस्थ।

(मान लिया कि एक आस्थावान् श्रद्धालु) अधर शासनमें स्थित है किन्तु गाढ ईश-शक्तिसे प्रेरित मन वाला है और पहले असद्गुरुमें निरत हो चुका है। इस स्थितिमें भी वह संस्कारके योग्य है। संस्कार कर उसे शैव दीक्षा दी जानी चाहिये।

शिवशासन सर्वोच्च शासन है। इस दर्शनकी तात्त्विकताका, इसकी मनीषाकी महनीयताका और तत्त्व सम्बन्धी विश्लेषणकी उत्कृष्ट स्थितिका अन्यदर्शन स्पर्श तक नहीं कर पाते। चार्वाक 'चैतन्य विशिष्ट शरीरको ही आत्मा कहता है'। नैयायिक बुद्धिके स्तरके ऊपर नहीं उठ पाते। इनके अनुसार मोक्षके अनन्तर आत्मा शून्यवत् रह जाता है। मीमांसक अहं प्रत्ययको ही आत्मा मानते हैं। यह भी एक प्रकारका बुद्धिवाद ही है। बौद्ध ज्ञानकी परम्पराको आत्मा मानते हैं। वेदान्त तत्त्ववेत्ता कभी प्राण, कभी असत् या शून्य अथवा विष्णु या ईश्वरको ही आत्मा मानते हैं। सांख्य विज्ञानाकल स्तर तक ही समाप्त हो जाता है। वैयाकरण पश्यन्ती या सदाशिव स्तर तक ही वैचारिक इतिश्री मानता है। इसीलिये कहा जाता है :—

बुद्धि तत्त्वे स्थिता बौद्धाः, गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पाञ्चरात्रिकाः ॥ अथवा
वैष्णवाद्यास्तु ये केचिद्विद्यारागेण रञ्जिताः
न विदन्ति परं तत्त्वं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम् ॥ पुनश्च
भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्ष लिप्सया ॥ इत्यादि

इसके अतिरिक्त २५ तत्त्वोंकी गवेषणामें ही ये सभी संलग्न हैं। वहीं शिव शासन ३६ तत्त्वोंको मानता है। इसलिये सभी सम्प्रदायवादो शिव-शासनकी अपेक्षा अधरस्थ हैं।[1]

ऐसे अधरस्थ व्यक्ति भी गाढ आस्था और श्रद्धाके आधार पर शिव शक्तिके अनुग्रहसे प्रेरित होकर शुद्धमनसे सद्गुरुके शरणमें आते हैं। शास्त्र कहता है कि, उस व्यक्तिको संस्कार सम्पन्न बनाकर दीक्षित किया जाना चाहिये। भले ही वह पहले असद्गुरुकी सेवामें निरत रहा हो। इस प्रकार दृढ़ तथा भगवत्प्रेरित श्रद्धावान् पुरुषको दीक्षा देकर लिङ्गोद्धार की प्रक्रिया पूरी करनी चाहिये।[2]

पसवअणुहं जोत्तम सासणुल इविणु पणु परमेसपसाइण।
पत्थइ सद्गुरुबोहपसाहणु सो दिक्खइ लिङ्गोद्धारिण॥

संस्कृत—

पशुरपि अन्वहं यः उत्तमशासनकुलः इत्येवंनु पुनः परमेशप्रसादेन।
प्रस्थित सद्गुरुपोतप्रसाधनम् स दीक्ष्यः लिङ्गोद्धारेण॥

श्रीमहामाहेश्वराचार्य श्रीमदभिनवगुप्त पादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे
लिङ्गोद्धरणं नाम सप्तदशाह्निकम्॥ १७॥

उत्तम शासन रत अगर प्रतिदिन पशु भी दीक्ष्य
प्रभु प्रसादसे गुरुचरण पोत प्राप्त-प्रिय शिष्य
लिङ्गोद्धारमयी सुभग दीक्षा लेकर धन्य
बन जाता अधरस्थ भी जपता मन्त्र अनन्य।

सामान्य जन भी उत्तम शासन स्थित होनेका सौभाग्य प्रभु प्रसादसे ही प्राप्त करता है। सद्गुरुके चरण जहाज हैं। जैसे पोत पर चढ़ा सांयात्रिक समुद्र पारकर लेता है, वैसे हो सद्गुरु शरणमें आया शिष्य मोक्षका अधिकारी बन जाता है। उसे लिङ्गोद्धार दीक्षा देकर अपना कृपापात्र बना लेना चाहिये।

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके
लिङ्गोद्धरण नामक सत्रहवें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र
विरचित नीर-क्षीर-विवेक नामक महा-भाष्य सम्पन्न
शुभं भूयात्॥१७॥

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ८ २. २२/३५, ४२

अष्टादशमाह्निकम्

अथाभिषेकः

स्वभ्यस्तज्ञानिनं साधकत्वे गुरुत्वे वा अभिषिञ्चेत् यतः सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवानेव साधकत्वे अनुग्रहकरणे च अधिकृतः [1] न अन्यः अभिषिक्तोऽपि । स्वाधिकारसमर्पणे गुरुः दीक्षादि अकुर्वन् अपि न प्रत्यवैति । पूर्वं तु प्रत्यवायेन अधिकारबन्धेन विद्येशपददायिना बन्ध एव अस्य दीक्षाद्यकरणम् ।

स्वभ्यस्तज्ञानीको ही साधकत्व या गुरुत्वमें अभिषिक्त करे क्योंकि सर्वलक्षणोंसे हीन (होने पर भी) ज्ञानवान् ही साधकत्वमें अनुग्रह करने के लिये अधिकृत है । दूसरा नहीं, भले ही वह अभिषिक्त भी क्यों न हो ? अपने अधिकारके समर्पणके प्रसङ्गमें गुरु दीक्षा आदि न करता हुआ भी प्रत्यवाय-ग्रस्त नहीं होता ।[2]

पहले प्रत्यवायसे अधिकारबन्ध से विद्येश पद प्रदान करनेवालेके द्वारा बन्ध ही इसकी दीक्षा आदिके अकरण में (कारण है ।)

अभ्यासके बल पर ज्ञान प्राप्त करना अपना विशेष महत्त्व रखता है । यह प्रसिद्ध है कि, ज्ञानका प्रकाश तीन प्रकारसे होता है । गुरुतः, शास्त्रतः और स्वतः । इसमें स्वतः ज्ञान प्राप्त करने वाला भाग्यशाली पुरुष गुरु और शास्त्रसे प्राप्त ज्ञान को भी अभ्यास द्वारा शतगुणित कर सकता है । ऐसे पुरुषका दो प्रकारसे अभिषेक किया जा सकता है । १-साधकके रूपमें और २-गुरुके पद पर ।

यह संशयरहित सत्य है कि, ज्ञानवान् सत्पुरुष ही साधक बन सकता है अथवा गुरुके स्तर पर विराजमान रह कर शिष्यों पर अनुग्रह की वर्षा कर सकता है । ऐसे ज्ञानी पुरुषके सम्बन्ध में उसके गुणों और लक्षणोंके विचार की भी आवश्यकता नहीं होती । हो सकता है—वह सभी लक्षणोंसे अपेक्षाकृत हीन हो किन्तु यदि वह ज्ञानवान् हो, तो निश्चय ही वह साधना करने कराने और अनुग्रह कारक गुरु बनने का भी अधिकारी है ।

---

१. तं २३/२,३,६०   २. त० २३/२६-२७

यदि वह ज्ञानी नहीं है, तो निश्चय ही वह भले ही अभिषिक्त हो चुका हो, पर उसे गुरुके महान् पद पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं। ज्ञान हीन गुरु 'कर्मी' होते हैं, अधिकारी नहीं।

एक दीपकसे दूसरा दीपक जलाया जाता है। अन्य सभी दीपक भी जलाये जा सकते हैं। कोई उसमें विशेषता नहीं होती, कोई बाधा नहीं पड़ती। उसी तरह एक गुरु दूसरे शिष्य को दीक्षादेकर ज्ञान प्रकाशसम्पन्न और देदीप्यमान बना सकता है। एसा न करने पर उसे कोई बाधा नहीं होती। एक गुरुने अपना गुरुत्वका अधिकार दे दिया, तो वह दूसरा कुछ नहीं हो जाता, गुरु ही रहता है। वह स्वतन्त्र विचरण करता है। वह दे या न दे दीक्षा, कोई फर्क नहीं पड़ता[१]। विद्या और सिद्धातन्त्रोंके अनुसार मन्त्रवीर्यकी प्राप्ति और सिद्धिके लिये विद्याव्रती होना अनिवार्य है[२]। प्रत्यवाय और अधिकारनियन्त्रणकी स्थितिदीक्षा न देने से ही सम्बन्धित है। विज्ञान, मन्त्र और विद्या भी बन्ध या अपकारक हो सकती है।

सोभिषिक्तो मन्त्रदेवतातादात्म्य-सिद्धये षाण्मासिकं प्रत्यहं जप होम विशेषपूजाचरणेन विद्याव्रतं कुर्यात्। तदनन्तरम् लब्धतन्मयीभावो दीक्षादौ अधिकुतः। तत्र न अन्योन्यान् दीक्षेत। न च योग्यं परिहरेत्। दीक्षितमपि ज्ञानदाने परीक्षेत। छन्दगृहीतज्ञानमपि ज्ञात्वा उपेक्षेत। अत्र च अभिषेक-विभवेन देवपूजादिकम्।

अभिषिक्त वह, मन्त्र देवतासे तादात्म्यसिद्धिके लिये छमाही या दैनन्दिन जप, होम और विशेष पूजाके आचरणसे विद्याव्रत करे। तदनन्तर तन्मयी भाव पा लेनेपर दीक्षामें अधिकृत हो जाता है। अयोग्यकी दीक्षा नहीं करनी चाहिये। योग्यका परिहार भी नहीं होना चाहिये। दीक्षित की परीक्षा भी ज्ञानदान प्रसङ्गमें करे। छद्म रूपसे ज्ञान पा लेने वालोंको उपेक्षा करनी चाहिये। अभिषेकके विभवसे देव पूजादि (समस्तकार्य) सम्पन्न होते हैं।)

गुरुका अभिषेक सम्पन्न हो गया है। अब उसे समस्त मन्त्रपद्धति देवीत्रय और भैरवचतुष्टय तथा अधोराद्यष्टक देवताओंसे तादात्म्य की सिद्धि करनी है। वह उसके लिये एक व्रतका आचरणकरे–ताकि लक्ष्यकी

३. मा॰वि॰तं॰ १०/३५, ४. तं॰३/२८/३९,२३/५५

सिद्धि हो सके। सबसे पहले उसका कर्त्तव्य है कि, वह एक षाण्मासिक चर्या स्वीकार करे। इसमें मौन रहे, न्यासपूर्वकमन्त्रों का जप करता रहे। त्रिकाल जप, हवन, ध्यान, शूलाब्ज विकासकी यौगिक प्रक्रिया अपनाये। साथ ही ब्रह्मचर्य रहे। त्रिशूलपरिमण्डलाभिषेक विधि द्वारा अभिषिक्त ऐसा महापुरुष अपने समस्त पाशोंको छिन्न भिन्न कर डालता है। मूल, कन्द, स्वाधिष्ठान मणिपूर,हृदय (अनाहत) कण्ठ (विशुद्ध) अलिक, तालु, आज्ञाविन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद, नादान्त व्यपिनी, समना, उन्मना सहस्रार और द्वादशान्त पर्यन्त महामन्त्र का समस्त या व्यस्तभावसे क्रमिक जप विद्याव्रतके अन्तर्गत है। विद्याव्रत का आचरण प्रतिदिन की संशय रहित चर्याके रूपमें करना चहिये। इसमें मन्त्रका बड़ा महत्त्व है। इसीसे तन्मयता आती है। करना यह है कि,हृदयचक्रमें स्वछ स्फूटितसे भी स्वच्छ शान्त नादगर्भ परा शक्ति सौणुन्म पभसे आती हुई द्वादशान्तमें जब समाहित हो जाती है, तभी तन्मयता सिद्धहोती है और मन्त्रजय चरितार्थ हो जाता है।

यह ध्यान देने की बात है कि, योग्य व्यक्तियों साधकों गुरुजनों को ही यह दीक्षा दी जानी चाहिये। अयोग्योंको यह दीक्षा नहीं देनी चाहिये। साथ ही योग्योंका परित्याग भी न हो यह ध्यान देना चाहिये। जो दीक्षित हैं। उसकी भी ज्ञानदानके अवसपर परीक्षा होनी चाहिये। परशुराम से कर्ण की दीक्षा की तरह यदिकोई छन्दभावसे दीक्षित हो जाय और यह बात खुल जाय, तो उसको अन्य कोई प्रतिक्रिया नहीं होनी चाहिये। केवल उपेक्षा कर देनी चाहिये। यह सब ऐश्वर्य अभिषेक दीक्षा का है। देव देवी-भैरव और अघोर आदिकी पूजा तभी तन्मयीभाव प्रदान कर सकती है।

स्वभ्यस्त ज्ञानतया स्वार्थपरार्थाधिकारतां वहतः।
साधक गुरुतायोगस्तत्र हि कायेस्तदभिषेकः १ ।

स्वयमभ्यास-विकाससे स्वार्थ-परार्थ-विवेक–
होता गुरु साधक, करे–उसका ही अभिषेक ॥

---

१. तं० २३।१०१

सम्यक् अभ्यास सम्यक् ज्ञान प्रदान करता है। तन्त्रकी भाषामें उसे स्वभ्यस्तज्ञान कहते हैं। ऐसा ज्ञानवान् गुरु स्वार्थ और परार्थको आधिकारिकताका वहन करता है। वह दो प्रकारका होता है। १–साधक और २—गुरु। यदि वह साधक है, तो अभ्यासके बल पर उसमें स्वतः गौरव आ जाता है। उसे दीक्षा देनेका अधिकार होता है। साधक केवल सिद्धिकी समीहा रखता है और गुरु परार्थमें अर्थात् लोक हितके लिये दीक्षा देता है। दोनों श्रेणीके लोगोंका अभिषेक करना चाहिये। अभिषेक करनेके बाद अभिषेक करनेवाला आचार्य अपना अधिकार उसे दे देता है और स्वयम् अधिकारके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। अभिषेक प्राप्त गुरु अब आचार्य बन दीक्षा देनेका अधिकारी हो जाता है। साधक तो आत्मिक सिद्धिमें संलग्न रहता है।

यह ध्यान देनेकी बात है कि, जो ज्ञानवान् है, शैव शास्त्रकी तात्त्विकतासे पूर्णतया परिचित है, स्वयं चिन्तक है—मनीषी है, भावक है और आध्यात्मिक उत्कर्ष स्तर पर पहुँचा है—वही अभिषेकका अधिकारी है। उसे ही अभिषेक दिया जा सकता है। कुछ ऐसे शिष्य भी होते हैं, जो ज्ञानी तो हैं और समय दीक्षाके अनुसार अभिषेक भी पा चुके है, पर वे दैशिक आचार्य नहीं बन पाते हैं। उनमें कुछ न्यूनत्व होता है। आन्तर बाह्य अध्वाके अनुसंन्धानकी विधियाँ बड़ी गहन होती हैं। उसमें इस ज्ञानकी कमी रहती है। यही लक्षणकी होनता कही जाती है। जो कुछ भी हो, सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी महत्ता है। यदि वह शैव-ज्ञानका पारदृश्वा विद्वान् है और उसकी अनुभूतियाँ परिपक्व हैं, तो वह भो दीक्षा दे सकता है। ऐसा पदवाक्य-प्रमाण-मर्मज्ञ परमकारुणिक सत्पुरुष सद्गुरुत्वका सम्यक् अधिकारी होता है और सप्तसत्री होता है। 'सप्त सत्री' के सात सत्र है १—दीक्षा २—व्याख्या, ३—कृपा, ४—मैत्री ५—शास्त्रचिन्ता ६—शिवैक्यप्रतिपत्तिदार्ढ्य और ७—दान। इस प्रकार साधक और गुरु दोनोंका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है[1]।

जो परि उण्ण सत्थसं अणु तस्य अनुग्गहमेतु पवित्ति।
कामणाइ जो पुणुसो साह उतइ उपा अरुहुरइ णहु चित्ति॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचिते तन्त्रसारे अभिषेक प्रकाशनं नाम अष्टादशमाह्निकम् ॥१८॥

---

१. तं० २३।४–३४

संस्कृत छाया—

यः परिपूर्ण सत्रांशमनु तस्य अनुग्रहमेत्य पवित्रितः
कामनया यः पुनः सः सार्थम् उत्तरति उपारोहति-
नमः चितेः ॥

परिपूर्ण-सत्र गुरुका अनुसरण करनेवाला उसके अनुग्रहसे पवित्र हो जाता है। कामनासे वही अपने लक्ष्यको पूर्त्ति करता है। उद्देश्य-सिन्धुको पारकर लेता है और चितिके उत्कर्षकी पूर्ण स्थितिको प्राप्त कर लेता है।

गुरु सप्तसत्री है। तान्त्रिक पद्धतिके सद्गुरु सप्तसत्री होते हैं। ऐसे गुरुके अनुसरणका आदेश शास्त्र देता है। उसीको दीक्षा देकर मुक्त करने का और अनुग्रह करनेका अधिकार होता हैं। सद्गुरुदेवकी कृपा प्राप्तकर शिष्यके समस्त कलुष नष्ट हो जाता है और परम पवित्र बन जाता है।

शिष्य दो प्रकारके होते हैं। १—सबीज दीक्षा प्राप्त और २–निर्बीज दीक्षा प्राप्त। सबीज दीक्षा भोगेच्छुकी होती है। भोगेच्छुकी कामना भोग-वादकी भूमिपर फलवती होती है। वह सद्गुरु शरणमें रहते हुए इस अपरम्पार ऊर्मिल इच्छा उदधिको पार कर लेता है। साथ ही चिति शक्तिके अनन्त सूक्ष्म आकाशमें विचरण करता है। यह अभिषेक दीक्षाका महत्त्व है।

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्याभिननवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके
अभिषेक प्रकाशन नामक आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा
विरचित नीर-क्षीर-विवेक महा भाष्य
परिपूर्ण शुभं भूयात् ॥ १८ ॥

एकोनविंशमाह्निकम्

अथ अधरशासनस्थानां गुर्वन्तानामपि मरणसमनन्तरं मृतोद्धारोदितशक्तिपातयोगादेव अन्त्य-संस्काराख्यां दीक्षां कुर्यात् । ऊर्ध्वशासनस्थानामपि लुप्तसमयानाम् अकृतप्रायश्चित्तानाम् इति परमेश्वराज्ञा । तत्र यो मृतोद्धारे विधिः उक्तः स सर्व एव शरीरे कर्त्तव्यः । पूर्णाहुत्या शवशरीरदाहः, मूढानां तु प्रतीतिरूढये सप्रत्ययाम् अन्त्येष्टिं क्रिया-ज्ञान-योगबलात् कुर्यात् । तत्र शवशरीरे संहारक्रमेण मन्त्रान् न्यस्य जालक्रमेण आकृष्य रोधनवेधनघट्टनादि कुर्यात्—प्राणसंचारक्रमेण हृदि कण्ठे ललाटे च इत्येवं शवशरीरं कम्पते ।

वैष्णवादि अधरशासनमें स्थित शिष्यसे गुरुपर्यन्त सबका मृत्युके तुरत बाद मृतोद्धार क्रियासे उत्पन्न शक्तिपात योगसे ही अन्त्य संस्कार दीक्षा करे । ऊर्ध्वशासनमें स्थित रहते हुए भी जिनके 'समय' लुप्त हो गये हैं और इसका प्रायश्चित्त नहीं किया गया है (ऐसे व्यक्तियोंकी भी अन्त्य-संस्कार दीक्षा होनी चाहिये । यह परमेश्वरका आदेश है ।

मृतोद्धारमें जो विधि निर्दिष्ट है, वह सारे शरीरमें करनी चाहिये । पूर्णाहुति द्वारा शवशरीरका दाह होना चाहिये । मन्दबुद्धि व्यक्तियोंको प्रतीतिके लिये सप्रत्यय अन्त्येष्टि क्रिया-योग बलसे करनी चाहिये । शव-शरीरमें संहारक्रमसे मन्त्रोंका न्यासकर जालक्रमसे आकर्षणकर रोधन-वेधन-और घट्टन आदि करना चाहिये । प्राणसंचार क्रमसे हृदय-कण्ठ और ललाट में (यह विधि करे) इस प्रक्रियाके पूर्ण होने की अवस्थामें शवशरीर काँप उठता है ।

अधर और ऊर्ध्व दो प्रकारके शासन विश्वमें प्रचलित हैं । अधर शासनके अन्तर्गत ऐसे मतवादी आते हैं, जो तात्त्विकताकी दृष्टिसे बहुत पीछे हैं । उनकी मनीषा माया तक सीमित रहती है । वे देह को, बुद्धिको और प्रायः अशुद्ध अहम्को ही आत्मा मानते हैं । विज्ञानाकल तक ही उनकी

पुरुष सम्बन्धी दृष्टि पहुँच सकी होती है। आर्य देशके संस्कारोंसे सम्पन्न मतवादियोंमें वैष्णव आदि, सभी अधर शासनमें ही स्थित माने जाते है विश्वके अन्य देशोंके लोगोंकी तो कोई बात ही नहीं है। उनकी दृष्टि तो नितान्त संकुचित है। उनके शिष्योंसे लेकर गुरुजन भी अधरस्थ ही हैं।

मृत्युके तुरत बाद उनके घरके लोग प्रार्थना करते हैं कि, हे परमेश्वर ! इसकी सुगति हो। प्रार्थनाके बलसे, उद्धार सम्बन्धी अभ्यर्थनाके प्रयोगसे मृतकमें एक प्रकारका शक्तिपात होता है। उसी समय उसकी मृतोद्धारदीक्षा होनी चाहिये। इसे ही अन्त्य संस्क्रिया कहते हैं। ऊर्ध्व शैवशासनके सिद्धान्तोंको मानने वालोंके लिये दीक्षाके नियमोंके अनुसार समयका पालन करना पड़ता है। समयका पालन करनेवाला 'समयी' कहलाता है। आलस्य और प्रमादवश बहुत सारे लोग समय पालन करना छोड़ देते हैं। समयपालन छोड़ देनेका प्रायश्चित्त होता है। बहुत लोग तो प्रायचिश्त्तकर पुनः समयी बन जाते हैं किन्तु अधिकतर ऐसे ही रह जाते हैं। इस अवस्था में ही उनकी मृत्यु भी हो जाती है। ऐसे लोगोंकी 'अन्त्यसंस्क्रिया' नामक यह दीक्षा आवश्यक है। कार्य तत्त्ववेत्ता गुरु ही कर सकता है। यह किसी व्यक्तिके व्यक्तिगत विचार नहीं हैं, अपि तु परमेश्वरकी आज्ञा है। 'श्रीदीक्षोत्तर शासन'–सम्मत यह बात शास्त्र निर्धारित और गुरुवर्ग समर्थित सिद्धान्त है।

मृतोद्धारकी विधिका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसमें जो प्रक्रिया अपनायी जाती है, वही प्रक्रिया शव शरीरमें भी अपनायी जानी चाहिये। पूर्णाहुतिरूप ही शवके शरीरका दाह करना चाहिये। कार्य ऐसा चाहिये, जिस पर सामान्य जन भी विश्वास कर सकें। ऐसे लोग जो तर्क करते हैं, अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण चाहते हैं, उनकी मनस्तुष्टिके लिये अथवा उनमें आस्था और शास्त्रके प्रति विश्वास उत्पन्न करनेके लिये सप्रत्यय विधि अपनानी चाहिये। इस प्रसङ्गमें तत्त्ववेत्ता गुरु क्रिया-योग, ज्ञानयोग और विशुद्ध योगके बलसे सारी शक्तिका प्रयोग कर अन्त्येष्टि दीक्षाका उपक्रम करे।

इसके लिये शव शरीरमें मन्त्रोंका न्यास अनिवार्य रूपसे होना चाहिये इस न्यासमें संहारविधिका आश्रय लेना चाहिये। मन्त्रके जितने वर्ण हैं, उनमें जो आखिरी है, उसे पहले आखिरका दूसरा-तीसरा वर्ण है, वह अन्तिम वर्णके रूप में प्रयुक्त होता है—यह संहारक्रम है। जैसे ॐ नमः

शिवाय' मन्त्र है। इसका संहार क्रम ॐ यवाशिमः न ॐ होगा। न्यास चरणसे लेकर मूर्धा पर्यन्त होना चाहिये। इसके बाद 'महाजाल'का प्रयोग आवश्यक है। इस प्रयोगसे प्राणका आकर्षण होता है। फिर प्राणका संचार चूंकि हृदय कण्ठ और आज्ञा चक्रतक विशेष रूपसे सम्बन्धित है, अतः इतने क्षेत्रमें विन्दुके द्वारा प्राणका रोधन, शक्तिबीजसे बेधन, नाद स्थानमें घट्टन और त्रिशूलसे उसका छेदन तथा सुषुम्नामें स्थित विसर्गसे बारम्बार ताडनकी क्रिया करनी चाहिये। परिणामतः दो बातें सामने आ सकती हैं। प्रथमतः उसका शरीर एक बार काँप उठ सकता है। अथवा शवका बाँया हाथ उठ सकता है। इसप्रकार लोगोंके मनकी आस्था दृढ़ होती है। उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि, इसका मोक्ष हो गया।[१]

ततः परमशिवे योजनिकां कृत्वा तद्देहत् पूर्णाहुत्या, अन्तेष्ट्या शुद्धानामन्येषामपि वा श्राद्धदीक्षां त्र्यहं तुर्ये दिने मासि मासि संवत्सरे सम्वत्सरे कुर्यात्। तत्र होमान्तं विधिं कृत्वा नैवेद्यमेकहस्ते कृत्वा तदीयां वीर्यरूपां शक्तिं भोग्याकारां पशुगत भोग-शक्ति-तादात्म्य-प्रतिपन्नां ध्यात्वा परमेश्वरे भोक्तरि अर्पयेत्। इत्येवं भोग्यभावे निवृत्ते पतिरेव भवति। अन्त्येष्टि-मृतोद्धरण-श्राद्धदीक्षाणाम् अन्यतमेनापि यद्यपि कृतार्थता तथापि बुभुक्षोः क्रियाभूयस्त्वं फलभूयस्त्वाय इति सर्वमाचरेत्।

तत्पश्चात् परमशिवमें योजनिका प्रक्रियासे संयोजनकर पूर्णाहुति द्वारा शवको जला देना चाहिये। अन्त्येष्टिसे जो शुद्ध है अथवा जो शुद्ध नहीं हैं, उनकी श्राद्धदीक्षा तीसरे चौथे दिन महीने महीने, अथवा वर्ष वर्ष पर करनी चाहिये।

(अन्त्येष्टि के अनन्तर) होमान्त विधि पूरी कर (अन्त में) नैवेद्य एक हाथमें लेकर वीर्यरूपा भोग्याकार शक्ति तथा पशुगत भोग शक्तिसे तादात्म्य प्राप्त (भोग्य) शक्ति के ऐक्यका ध्यानकर भोक्ता परमेश्वरमें अर्पित करे। इस प्रकार पशुकी भोग्यरूपताकी निवृत्ति हो जाने पर वह पशुपति हो जाता है। अन्त्येष्टि, मृतोद्धार और श्राद्ध दीक्षा किसीके

१. तं० २४।१–१६

द्वारा भी हो, या इनमेंसे किसीके द्वारा कृतार्थता (सम्भव हो) फिर भी भोगेच्छु के लिये अनन्त क्रियायें (अपेक्षित) हैं क्योंकि क्रिया पर ही फल निर्भर हैं। अतः सब विधियोंका यथावत् आचरण करना चाहिये।

इस प्रसङ्गमें यह ध्यान देना आवश्यक हैं १–शवसे सम्बन्धित जीवकी योजनिका क्रियाके द्वारा परमशिवसे चेतनासूत्रसे जोड़ना चाहिये। २—पूर्णाहुति रूपसे शवका दाह संस्कार कर देना चाहिये। जीव दो प्रकार के हैं—१–जो अन्त्येष्टि द्वारा शुद्ध हो गये हैं। २—जिनकी अन्त्येष्टि नहीं हुई है। दोनों प्रकारके प्रेतोंकी श्राद्धदीक्षा पहले तीसरे या चौथे दिन, फिर महीने महीने या इस बरस दिन पर होनी चाहिये।

श्राद्धके अन्तमें भोग अर्पित करना चाहिये। भोग नैवेद्यका लगता है। इसे एक हाथ में लेकर यह बात सोचनी चाहिये—१—परमेश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्तिने ही भोगरूपता प्राप्त की है। भोग्य पदार्थोंके सारे आकार उसी शक्तिके हैं। २—प्रेतकी भोगशक्ति भी उसी की थी। ३—यह भोग्य पदार्थ जिसे प्रेत भी भोग्य मानता था, वह भी पशुगत भोग शक्तिसे तादात्म्य सम्बन्धसे सम्पृक्त रहा है। ४—अब यह सारा नैवेद्य परम-भोक्ता परमेश्वरको ही अर्पित कर रहा हूँ। इतना ध्यान करनेके बाद नैवेद्य परमेश्वरार्पित कर देना चाहिये। प्रेतकी भोग्यवृत्तिका इस प्रकार परावर्त्तन हो जाता है। वह प्रेत जीव न रहकर शुद्ध शक्तिमान् बन जाता है। अन्त्येष्टि मृतोद्धार अथवा श्राद्ध तीनों दीक्षाओंमें से किसी एक दीक्षाके द्वारा प्रेतत्त्व मुक्ति हो जाती है और इसमें शैव भाव जागृत हो जाता है। फिर भी यह ध्यान देना चाहिये कि, भोगेच्छु शिष्य भोगकी आकांक्षा रखता है। यह सिद्धान्त है कि, 'जितनी क्रिया उतना फल', 'अधिक क्रिया अधिक फल' अतः सारी क्रियाओंका सम्पादन अवश्य करना चाहिये।[1]

मुमुक्षोरपि तन्मयीभावसिद्धये अयम् जीवतः प्रत्यहम् अनुष्ठानाभ्यासवत्। तत्त्वज्ञानिनस्तु न कोऽप्ययम् अन्त्येष्ट्यादि श्राद्धान्तो विधिः उपयोगी, तन्मरणं विद्यासंतानिनां पर्वदिनं संविदंशपूरणात्, तावतः संतानस्य एकसंविन्मात्रपरमार्थत्वात्

---

१. तं० २५।१–९

जीवतो ज्ञानलाभसंतानदिवसवत् । सर्वत्र च अत्र श्राद्धादिविधौ मूर्त्तियागः प्रधानम् इति श्रीसिद्धामतम् तद्विधिश्च वक्ष्यते नैमित्तिकप्रकाशने ।

मुमुक्षुकी तन्मयीभावकी सिद्धिके लिये जीवनमें ही प्रतिदिन अनुष्ठान के अभ्यासकी तरह (ही विधि करनी चाहिये)। तत्त्वज्ञानीके लिये ऐसी किसी विधि की आवश्यकता नहीं। अन्त्येष्टि मरणोद्धार या श्राद्ध-दीक्षा आदि विधियाँ उसके लिये उपयोगी नहीं है ? तत्त्वज्ञानीकी मृत्यु-का दिन उसकी शिष्य सन्ततिके लिये पर्व दिनकी तरह है क्योंकि उसी दिन संविद् रूपमें गुरु संविद् अंशका मरण रूप सायुज्य सम्पन्न होता है। सारी सन्तान परम्पराका परमार्थ एकमात्र संवित् तत्त्व ही है। जैसे जीवित पुत्रलाभ करनेपर (जन्मदिन पर्व मनाता है) उसी तरह ज्ञानलाभ दिन भी पुत्र लाभकी तरह पर्व दिन ही है।[1]

श्राद्ध आदि विधियोंमें मूर्तियागकी प्रधानता (सबको) स्वीकार्य है।)

सिद्धातन्त्रका भी यही मत है। मूर्त्तियागकी विधिका वर्णन नैमित्तिक प्रकाश प्रकरणमें किया जायगा।

जिस व्यक्तिमें मोक्षकी इच्छाका प्राधान्य है, वह सदा परमेश्वराद्वैत सिद्धिका अभ्यास करता है। शिव-तादात्म्य-प्रतिपत्तिकी दृढ़ताके लिये अभ्यास आवश्यक है। यह जानकर जीवनके प्रत्येक क्षणका उपयोग तन्म-यताकी सिद्धिके लिये करता है। उसके जीवनका वह अनुष्ठान बन जाता है। तत्त्ववेत्ता सिद्ध पुरुषकी तो बात ही कुछ दूसरी है। वह तो विधि-निषेधसे ऊपर उठ जाता है। उसके लिये अन्त्येष्टि क्रियासे लेकर श्राद्ध आदि विधियाँ कोई महत्त्व नहीं रखतीं। इनका उसके लिये कोई उपयोग नहीं। उसका मरण भी मङ्गलमय होता है। जिस दिन वह शिवसायुज्य प्राप्त करता है, संविद्का वह प्रतीक सीमाके बन्धनको तोड़कर असीम बन जाता है। अंश निरंश हो जाता है। पूर्णमदः और पूर्णमिदंकी उक्ति चरितार्थ हो जाती है। उसके शिष्य, उसकी परम्परा, स्त्री, पुत्र, पौत्र और उससे दीक्षित सभीके लिये वह दिवस मात्र निर्वाण-दिवस न रहकर पर्व दिन बन जाता है। यही पर्व शब्दका विग्रह (पूरयति इति पर्व) है।

---

१. तं० २५/११

संविद्का बोधही शिष्यका लक्ष्य है। उसके लिये यही परमार्थ है। ज्ञानका लाभ हो, बोधका उद्रेक हो और तत्त्वज्ञानके प्रकाश पुञ्जसे उसके ध्वान्तका विध्वंस हो जाये, तो वह पर्व उसके लिये अवश्य ही जीवनदायी सिद्ध हो जाता है। सांसारिक पुरुषके लिये पुत्र लाभ सबसे बड़ा सुख है। उसी तरह अपनी शिष्य परम्पराके लिये ज्ञानलाभका दिन पर्व है। जन्म-दिन और निर्वाण दिवस ये दोनों पर्वकी तरह मान्य हो जाते हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि, मूर्ति याग या स्थण्डिल यागका ही सर्वत्र प्राधान्य है।[1] यह सिद्धातन्त्रका मत है। नैमित्तिक प्रकरणकी प्रक्रियाका विवरण उसी प्रसङ्गमें प्रकाशित है।

अनुग्रहपरः शिवो वशितयानुगृह्णाति यं
स एव परमेश्वरीभवति नाम किं वाद्भुतम्।
उपाय परिकल्पना ननु तदीशना मात्रकं
विदन्निति न शङ्कते परिमितेप्युपाये बुधः॥

करता जन पर सदा अनुग्रह परमेश्वर वह परमोदार,
क्या विस्मय यह, शिवबन जाते सारे भक्त, नहीं दो चार।
यह उपाय-परिकल्पन केवल करणेश्वरका नव अनुभाव,
जान हृदयमें रखता निर्भय साधक-सिन्धु, दहकता दाव॥

शिव पंचकृत्य विधायी तत्त्व है। 'नमः शिवाय सततं पंचकृत्य-विधायिने' इस उक्तिमें यही रहस्य उद्घाटित है। सृष्टि, स्थिति, तिरोधान और अनुग्रह रूप पाँच कार्योंमें सर्वोत्तम उसका पाँचवा कार्य अनुग्रह है। वह शाश्वत अनुग्रह परायण है। स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न शिव जिस साधक उपासकके ऊपर अनुग्रह करता है, वह निश्चय ही परमेश्वर रूप हो जाता है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

आणवोपाय, शाक्तोपाय, शाम्भवोपाय और अनुपाय आदि जितने विज्ञान हैं, वे सभी आचार्योंके आकलन और अनुभूतियोंके आधार पर ही परिकल्पित हैं। वस्तुतः यह सब उसी परमशिवकी ईशना है। वह ईशितृ-शक्तिसे भी सम्पन्न परमतत्त्व है।

---

१. तं०२६।७६।

साधक यह सब जानता है। जानकर ही उपासनामें प्रवृत्त होता है। उसे किसी प्रकारकी शङ्का नहीं होती। परिमित उपायोंको करनेसे क्या लाभ ? इस प्रकारकी शङ्का वह नहीं करता। उसे यह ज्ञात है कि, परिमित ही अभ्याससे अमित हो जाता है। अमित होना उसका परामर्श है। ऐसा विचारक विज्ञानवान् है। बुध है। परिमित उपायोंके आचरणमें प्रवृत्त रहता हुआ भी वह अपरिमित-असीम शिवका संविदंशात्मक प्रतीक ही है।

एहु सरीर सअलु अह भवसरु इच्छामित्तणजेण विचित्ति उ।
सोथ्विअ सोक्खदेयि परमेसरु इअ जानन्त उरूढिपवित्ति उ॥

इति श्रीमदभिनव गुप्त पादाचार्य विरचिते तन्त्रसारे श्राद्धदीक्षा प्रकाशन नाम एकोनविंशमाह्निकम् ॥ १९ ॥

संस्कृतछाया—

एतत् शरीरं सकलम् अथ भवसरः इच्छानिर्मितेन येन विचित्रितम् तु।
श्रुत्वैव सौख्यदायकं परमेश्वरम् इति ज्ञानवान् उद्रूढपवित्रितस्तु।

यह शरीर है सकल कमल, संसार-सरोवर
इच्छा-निर्मित चितिविचित्र यह एक धरोहर।
सुखदायक सुन नाम परम पावन परमेश्वर
ज्ञानवान् आरूढ सदा होता सर्वेश्वर॥

संसार एक सरोवर है। इसमें कमल रूप सारे शरीर खिले हुए हैं। यह परमेश्वरकी इच्छासे ही निर्मित हैं। चिति विश्वसिद्धिकी हेतु है। चितिवैचित्र्यसे यह चारुतर है। इसमें चिति शक्ति सम्पन्न परमेश्वरका मनन श्रवण-चिन्तन करता हुआ ज्ञानवान् व्यक्ति परमशिव-सायुज्य प्राप्तकर लेता है और अपने जीवनको पावन और धन्य बना लेता है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तन्त्रसारके श्राद्धदीक्षाप्रकाश नामक उन्नीसवें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा विरचित, नीर-क्षीर विवेक महा-भाष्य सम्पूर्ण शुभं भूयात् ॥१९॥

विंशमाह्निकम्

शेषवर्त्तनार्थं प्रकरणान्तरम्

तत्र या दीक्षा संस्कारसिद्धयै ज्ञानयोग्यान् प्रति, या च तदशक्तान् प्रति मोक्षदीक्षा सबीजा, तस्यां कृतायाम् आजीवं शेषवर्त्तनम् गुरुरुपदिशेत् । तत्र नित्यं नैमित्तिकं काम्यम् इति त्रिविधं शेषवर्त्तनम् । अन्त्यं च साधकस्यैव तन्नेह निश्चेतव्यम् । तत्र नियतभवं नित्यं, तन्मयीभाव एव नैमित्तिकम्, तदुपयोगि सन्ध्योपासनं प्रत्यहमनुष्ठानं, पर्वदिनम्, पवित्रकम् इत्यादि । तदपि नित्यं स्वकाल नैयत्यात् इति केचित् ।

शेषवर्त्तनार्थ प्रकरणान्तर—

ज्ञानयोग्य शिष्योंको संस्कार शुद्धिके लिये देय दीक्षा तथा ज्ञानमें अशक्त दीक्ष्य पुरुषको देय सबीज मोक्ष-दीक्षाओंके सपम्न हो जाने पर आजीवन पालनीय शेषवर्त्तनका उपदेश गुरु करे। शेषवर्त्तन नित्य, नैमित्तिक और काम्य भेदसे तीन प्रकारका होता है। अन्तिम भेद केवल साधकके लिये (उपयोगी) है। अतएव वह यहाँ निश्चेतव्य नहीं है।

नियत भव ही नित्य (का विग्रह है) । नैमित्तिक तन्मयीभाव है। इसके उपयोगी सन्ध्योपासन, प्रतिदिन अनुष्ठान, पर्वदिन और पवित्रक इत्यादि। कुछ लोगोंके अनुसार अपने कालके नैयत्यको ही नित्य कहते हैं।

यह प्रकरण आचार्य; गुरु और दीक्षकके लिये नहीं अपितु दीक्षित व्यक्तिके लिये निर्मित किया गया है। दीक्षा दीक्षितको मुक्त करती है और शैव स्तर पहुँचा देती है। इस तथ्यमें तनिक सन्देह नहीं। यह चार प्रकारकी होती है । १—संस्कार शुद्धिके लिये, २—मोक्षके लिये, ३—भोगके लिये और ४—भोग और मोक्ष दोनोंके लिये। जहाँ संस्कारकी शुद्धिके लिये दीक्षा दी जाती है, वहाँ भी यह सोचना पड़ता है कि, यह ज्ञान योग्य है या नहीं ? यह बुभुक्षु है या मुमुक्षु है ? दीक्षा सबीज दी

जाय या निर्बीज ? क्या दीक्ष्यकी वृत्ति भोगप्रधान है ? इत्यादि। ऐसे स्थल पर भोग वृत्ति रूप व्यवधान उपस्थित हो जाता है और दीक्षा साक्षात् मुक्त नहीं कर पाती। जिन अवस्थामें यह साक्षात् मुक्तकर पाती है–वह है पुत्रक आदिकी या ज्ञान योग्य शिष्योंकी निर्बीज दीक्षा। उन्हें शेषवर्त्तनके विधिनिषेध नियन्त्रणकी कोई आवश्यकता नहीं होती। यह तो उन्हींके लिये आवश्यक है, जहाँ भोग वृत्ति ही मुक्तिका व्यवधान बन जाय। आजीवन निर्विघ्न संविदैकात्म्य सिद्धिके उद्देश्यसे ही शेषवर्त्तन-दीक्षाका प्रवर्त्तन गुरु करता है। क्रमशः गुरु सेवामें लगे रहने वाले दीक्षितके लिये शेषवर्त्तन तन्मयता प्रदान करनेमें सक्षम सिद्ध होता है।

यह तीन प्रकारका होता है। १–नित्य २–नैमित्तिक और ३–काम्य। यहाँ काम विधिका वर्णन नहीं किया गया है। नित्यकी परिभाषा है–नियत रूपसे होनेवाला। तन्मयीभावकी सिद्धि निमित्तिक ही होता है। शिवमें अद्वैतभावसे स्थित रहनेपर भाववर्गसे एक रस उत्पन्न होता है। उसी आनन्द रसके अर्पणसे तन्मयता सिद्ध होती है। सन्ध्योपासना एवम् अनुष्ठानमें निरत रहना चाहिये। पर्वदिनोंका पालन करना, पवित्रक विधि आदि शेषवर्त्तनमें अवश्य पालनीय हैं और नित्य हैं, क्योंकि किसी आचार्यके अनुसार ये अपने निश्चित समय पर ही होते हैं।

नैमित्तिकं तु तच्छासनस्थानामपि अनियतम्, तद्यथा—गुरुतद्वर्गागमनं तत्पर्वदिनं ज्ञानलाभदिनम् इत्यादिकम् इति केचित्। तत्र नियतपूजा, सन्ध्योपासा, गुरुपूजा, पर्वपूजा, पवित्रकमित्यवश्यं भावि। नैमित्तिकं ज्ञानलाभः, शास्त्रलाभो, गुरुतद्वर्गगृहागमनम्, तदीयजन्मसंस्कार–प्रायणदिनानि, लौकिकोत्सवः, शास्त्रव्याख्या, आदिमध्यान्ता, देवतादर्शनं, मेलकः, स्वप्नाज्ञा, समयनिष्कृतिलाभः इत्येतत् नैमित्तिकं विशेषार्चन-कारणम्।

नैमित्तिक कर्म उस शासनमें रहनेवालोंके लिये भी नियत नहीं होते। जैसे गुरु या तद्वर्गीयका आगमन, उनके [मान्य] पर्वदिन अथवा ज्ञान प्राप्तिका दिन इत्यादि, यह किन्हीं आचार्योंका मत है। इस प्रसङ्गमें नियत पूजा, सन्ध्योपासना, गुरुपूजा, पर्वपूजा और पवित्रक धारण तो

अवश्यं भावी कार्य हैं। नैमित्तिक कृत्यमें ज्ञानकी प्राप्ति, शास्त्रका लाभ, गुरु या तद्वर्गीयका घर पधारना, उनसे सम्बन्धित जन्म दिन, संस्कार-दिन और निर्वाणदिन, लोक प्रचलित उत्सव, शास्त्रोंके स्वाध्यायका प्रथम, बीचका और आखिरी दिन देवदर्शन, मेला भरना, स्वप्नमें आदेशका दिन, निष्कृति मिलनेका दिन ये सभी विशेषतः अर्चनाके कारण माने जाते हैं।

नित्य और नैमित्तिक कार्योंमें स्वभावतः बड़ा अन्तर है। नित्य कृत्यकी अवहेलना नहीं की जा सकती। नैमित्तिक कार्य तो सदैव अनिश्चित होते हैं। किसी निमित्तको लेकर होते हैं। जिस किसी मतवादको व्यक्ति मानता हो, उसके लिये भी नैमित्तिक कार्य नियत नहीं हो सकते। जैसे गुरुदेव घर पर पधारे। घर आने पर उनकी प्रत्यक्ष पूजा उनके आनेके कारण हुई। अतः वह नैमित्तिक रूपसे ही स्वीकार्य है। किसीके मतसे विशेष पर्व भी कारणवश हो सकते हैं—जैसे ग्रहण आदि। अथवा किसी विशिष्ट ज्ञानकी प्राप्ति भी नैमित्तिक हो सकती है। पर नित्य कार्यमें ऐसी कोई कारणता नहीं होती है। जैसे सन्ध्योपासन। निश्चित और निर्धारित पूजा, गुरुकी नित्यकी पूजा, पर्व निश्चित हैं—सक्रान्ति आदि, पवित्रीकरण आचमन आदि विधान भी नित्य कर्मकी श्रेणीमें हो आते हैं।

नैमित्तिक कामोंका एक दूसरा ही स्वरूप है। किसी तथ्यकी जानकारी जिस दिन हुई, वह दिन निमित्त बन जाता है। जैसे ज्ञानकी प्राप्तिके कारण ज्ञानलाभनिमित्तक सरस्वतीकी पूजा हुई। इसीप्रकार शास्त्र ज्ञानका, गुरु या तत्समकक्ष किसी व्यक्तिके आनेका, गुरुदेव जन्म या अन्य संस्कार या निर्वाणका, लोकप्रचलित पूजाका, शास्त्र स्वाध्यायके पहले, बिचले और अन्तिम दिनोंका, मेला और देवदर्शनका, स्वप्नके आदेशके अनुसार काम करनेका विशेष समय या निष्कृति पूर्तिके सारेके सारे समय और उनके कार्य और उनके पूजन सभी नैमित्तिक हैं।

तत्र कृतदीक्षाकस्य शिष्यस्य प्रधानं मन्त्रं सवीर्यकम् संवित्तिस्फुरणसारम् अलिखितम् वक्त्रागमेनैव अर्पयेत्, ततः तन्मयीभावसिद्ध्यर्थं स शिष्यः सन्ध्यासु तन्मयीभावाभ्यासं कुर्यात्। तद्द्वारेण सर्वकालं तथाविधसंस्कारलाभसिद्ध्यर्थं प्रत्यहं च परमेश्वरं च स्थण्डिले वा लिङ्गे वा अभ्यर्चयेत्।

दीक्षा प्राप्त शिष्यको मुख्यमन्त्र लिखकर नहीं अपितु मुखसे ही देना चाहिये। मुख्यमन्त्र गुरुमुखसे उच्चरित अवस्थामें ही वीर्यवान् रहता है। संवित्तिकी स्फुरत्ताका वह सार निष्कर्ष होता है। (लिखनेसे उसमें अन्तर पड़ जाता है)। तत्पश्चात् तन्मयीभावकी सिद्धिके लिये वह शिष्य सन्ध्याकालमें तादात्म्यका अभ्यास करे। मन्त्र द्वारा सर्वदा सुन्दर संस्कार सिद्धिके लिये प्रतिदिन परमेश्वरका पूजन स्थण्डिल या लिङ्गमें आवश्यक है।

विधिपूर्वक शिष्यकी दीक्षाकी प्रक्रिया पूरी हो चुकी है। अब उसे मन्त्र विधान पूरा करना है। प्रश्न है कि, क्यों न उसे लिखकर मन्त्र दे दिया जाय। इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि, ऐसा नहीं करना चाहिये। मन्त्रमें गुरुकी तपस्याकी ऊर्जा भरी होती है। मन्त्र संवित्-शक्तिकी स्फुरत्ताका सारतत्त्व होता है। इसीलिये वह रहस्यात्मक होता है। लिख देने पर वह मात्र सामान्य अक्षर रह जाता है। हृदयसे जब मन्त्रका स्पन्दन होता है, तब गुरुमें स्थित संवित् तत्त्वकी वीर्यवत्ता उसके अन्दर भरी रहती है। वह गुरुके मुखसे निकलकर शिष्यके कानके रास्ते उसके हृदय एवं मष्तिष्कको प्रकाशमान कर देता है। अतः मन्त्र लिखित रूपसे न देकर गुरुमुखसे ही देना चाहिये।

उस मन्त्रको जपते हुए सबसे प्रधान दायित्व होता है—तन्मयीभावकी सिद्धि ! शिष्य मन्त्रमय हो जाय, गुरुदेवमें रम जाय और महाशैव भाव पा जाय, इसके लिये उसे प्रयत्नशील होना चाहिये। चारों सन्ध्याओंमें उस तन्मयताका अभ्यास करना चाहिये। तन्मयता ही सबसे बड़ी बात है। इसी क्रियाको निरन्तर करनेसे शिष्य संस्कार सम्पन्न होता है। उसमें परिष्कार होने लगता है। अब उसे सन्ध्याके अतिरिक्त भी सदा सर्वदा अपनेको सँवारना चाहिये। इसके लिये उसे यदि आधारकी आवश्यकता हो, तो उसका भी आश्रय लिया जा सकता है। जैसे स्थण्डिलमें ही शिवत्त्वका संकल्पकर वहीं उसके समीप बैठे और प्रतिदिन उसीमें परमेश्वरकी भावना करे। इसप्रकार उसकी पूजा एक नया रूप ले लेगी। लिङ्ग पूजनमें भी प्रस्तरकी नहीं परमेश्वरकी भावना होती है। उससे तादात्म्यकी सिद्धिका अभ्यास अनायास हो जाता है। यह अर्चना अभ्यर्चना बन जाती है। इसीलिये इसका बड़ा महत्त्व है।[1]

१. तं० २६।३७-३८

तत्र हृद्ये स्थण्डिले विमलमुकुरवद्ध्याते स्वमेव रूपं याज्य-देवताचक्राभिन्नं मूर्त्तिबिम्बितमिव दृष्ट्वा हृद्यपुष्पगन्धासवतर्पण-नैवेद्यधूपदीपोपहारस्तुति-गीतवाद्यनृत्तादिना पूजयेत्, जपेत्, स्तुवीत तन्मयीभावमशङ्कितं लब्धुम् ।

आदर्शे हि स्वमुखम् अविरतम् अवलोकयतः तत्स्वरूप-निश्चितिः अचिरेणैव भवेत् । न चात्र कश्चित् क्रमः प्रधानम्, ऋते तन्मयी भावात् । परमन्त्र-तन्मयी-भावाविष्टस्य निवृत्त-पशुवासना कलङ्कस्य भक्तिरसानुवेधविद्रुत समस्तपाशजालस्य यत् अधिवसति हृदयं तदेव परमुपादेयम् इति अस्मद्गुरवः ।

हृद्य स्थडिलमें निर्मल मुकुरवत् ध्यान करने पर अपने रूपको ही याज्य देवता चक्रसे अभिन्न उस मूर्त्तिमें ही बिम्बितकी भाँति देखकर हृद्य पुष्प, गन्ध, आसव, तर्पण, नैवेद्य, धूप, दीप, उपहार, स्तुति, गीत, वाद्य और नृत्त आदिसे पूजा करे, (उसका) जप करे ताकि संशय रहित ढङ्गसे तन्मयी भावकी सिद्धि हो ।

दर्पणमें अपने मुखको निरन्तर देखने वाले को तुरत अपने 'स्व' रूपका निश्चय होता है । इसमें किसी क्रमका प्राधान्य नहीं । मात्र तन्मयी-भावका ही क्रम है । पर अर्थात् सर्वोच्च-सर्वोत्तम मन्त्रमें तन्मय रूपसे आविष्ट, पशु-वासनारूपीकलङ्कसे मुक्त और भक्तिरसके अनुबोधसे समस्त पाशसमूहसे रहित साधकके हृदयमें जो है, वही परम उपादेय है—ऐसा हमारी गुरु परम्पराके आचार्य कहते हैं ।

प्रथमतः सजी-सजायी भूवेदी पर समस्त पूजा-सामग्रीका प्रोक्षण होता है । फिर शिष्य उसमें निर्मल दर्पणका आकलन करता है । जैसे दर्पणमें अपना रूप अभिन्न भावसे दीख पड़ता है, उसी तरह याज्य देवताओंमें भी अभिन्नताकी अनुभूति होने पर लगता है कि, स्वात्म शिव ही स्थण्डिलमें मूर्त्तिमन्त हो रहा है । ऐसी अवस्थामें षोडशोपचार पूजन (यहाँ १२ प्रकार दर्शित है) या मानसोपचार पूजन निर्देशानुसार होना चाहिये । लक्ष्य होना चाहिये कि, दर्पणकी स्वात्ममयताकी सिद्धिकी तरह ध्येयकी तन्मयता शीघ्र सिद्ध हो सके ।

शीशामें अपना रूप दीखता है। तुरत अपने रूपका निश्चय हो जाता है। इसमें कारण तन्मयीभाव ही है। इसी प्रकार दीक्षासे मन्त्र पा लेने पर उसमें तन्मयीभाव सिद्ध होना ही चाहिये। इससे दो बातें विशेष रूपसे होती है। १–पशु-भावका कलङ्क मिट जाता है। साधक पशुपति स्तर पा लेता है। २–उसके सभी पाश-कला, विद्या, राग, नियति और काल नष्ट हो जाते हैं। इस अवस्थामें उसकी हृदयकी भावावस्था उद्दीप्त हो जाती है और वही परम उपादेय स्थिति है। यह गुरुजनों का मत है।

अधिशय्य पारमार्थिक–भावप्रसर–प्रकाशमुल्लसति या।
परमामृतदृक्त्वं तयाऽर्चयन्ते रहस्य-विदः॥
कृत्वाऽधारधरां चमत्कृतिरसप्रोक्षाक्षणक्षालिता—
मात्तैर्मानसतः स्वभावकुसुमैः स्वामोदसंदोहिभिः।
आनन्दामृतनिर्भरस्वहृदयानर्घार्घपात्रक्रमात्,
त्वां देव्या सह देहदेवसदने देवार्चयेऽहर्निशम्॥
तं० २६/६३–६४

पारमार्थिकी भावना—शय्या पर सो एक।
परमामृतदृक् उल्लसित, उससे तव अभिषेक॥६३॥
मूलाधार-धरती पर स्वाधिष्ठान सिन्धुसे ही,
सिंचित है मनकी मनीषा कुसुमावली।
मणिपूर-अग्निबीज-तेजसे मनोज्ञ मधु-माधव-सुगन्ध-राशि-नन्दनवन-बावली
अनहद अमृत-आनन्द रस निर्भर वह, आबूका अर्घ यह हृदय अरावली
बनकर विशुद्ध, मान गुरुवरकी आज्ञा नित्य,
पूजता हूँ माँके पद प्राप्तिकी उतावली॥६४॥

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्यने अपने मूल ग्रन्थके श्लोक ही उद्धृत किये हैं। इसमें यह व्यक्त करनेका प्रयास स्पष्ट है कि, रहस्यके ज्ञाता विज्ञजन पारमार्थिक भावनाओंके चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। वहाँ एक प्रकार परम अमृतमय संवित्सुधाका अनुभव होता है। सभी रहस्यवेत्ता उसीसे तुम्हारी पूजा करते हैं॥६३॥

मूलाधारसे लेकर आज्ञा तककी चक्र भेदनकी प्रक्रियाका एक आकलन प्रस्तुत है। मूलाधारकी धरती पर चमत्कारका रस मिलता है। उससे पूजा सामग्रीको प्रोक्षित करते हैं। स्वात्मसंवित्की सुगन्धसे भरपूर-भावके कुसुमोंसे आनन्दसुधा निष्यन्दिनी हृदय सरसी अनमोल अर्घ बन जाती है। देहरूप शिवालयमें मैं माँके पदों की पूजा करता हूँ ॥६४॥

इति श्लोकद्वयोक्तमर्थम् अन्तर्भावयन् देवताचक्रं भावयेत्। ततो मुद्राप्रदर्शनम्, जपः, तन्निवेदनम् । बोध्यैकात्म्येन विसर्जनम्। मुख्यं नैवेद्यं स्वयम् अश्नीयात्। सर्वं वा जले क्षिपेत्। जलजा हि-प्राणिनः पूर्वं दीक्षिताः चरुभोजनद्वारेण इति आगमविदः। मार्जारमूषकश्वादिभक्षणे तु शङ्का निरयाय इति ज्ञानी अपि लोकानुग्रहेच्छया न तादृक् कुर्यात्। लोकं वा परित्यज्य आसीत इति स्थण्डिल यागः।

ऊपरकथित दोनो श्लोकोंके अर्थ को अन्तर्भावित करते हुए (साधना करनी चाहिये)। इसके बाद मुद्रा प्रदर्शन, जप और फिर आत्मनिवेदन करना चाहिये। बोधैकात्म्य ही विसर्जन है। मुख्य नैवेद्य स्वयं खाना चाहिये अथवा जलमें फेंकना चाहिये। आगमविद् विद्वान् कहते हैं कि, सारे जलचर प्राणी चरुभोजनके द्वारा पहले ही दीक्षित हैं।

बिल्ली,—चूहों और कुत्तोंके उच्छिष्टसे नरककी शङ्का होती है। इसलिये ज्ञानवान् साधकभी लोककल्याणकी कामना से ऐसा न होने दे। अथवा सांसारिक सम्पर्क ही छोड़कर विचरण करे। यह स्थण्डिल याग प्रकरण सम्पन्न हुआ।

ग्रन्थकारका यह निर्देश है कि, ऊपरके दोनों श्लोकोंका अन्तर्भावन अनिवार्यतः करना चाहिये। साधक इस प्रकार तन्मयता पा लेता है। वही जीवनका लक्ष्य है। इस अन्तः पूजाके बाद मुद्राओंका प्रदर्शन करना चाहिये। फिर जप और इसके बाद जपका निवेदन माँके बायें हाथमें कर देना चाहिये।

नैवेद्य जो मुख्यरूपसे अर्पित है, उसके सम्बन्धमें कुछ विशेष निर्देश दिये गये हैं। पहला आदेश है कि, साधक स्वयम् उसको पाये। दूसरा आदेश है कि, यदि साधक स्वयम् न ग्रहणकरना चाहे तो पूरा मुख्य नैवेद्य जलमें फेंक देना चाहिये। यह ध्यान रहे कि, नैवेद्य को चूहे, बिल्ली और कुत्ते जूठा न कर दें। इससे नरक का भय होता है।

लोककल्याणकी कामना शाश्वत रूपसे सबमें होती ही है। अच्छा तो यह है कि, लोक की बात ही भुला दे! यदि लोक कल्याण की कामना है, तो यह ध्यान रहे कि, ऊपरके विधानके विपरीत न हो सके। इस प्रकार स्थण्डिल यागका यह प्रकरण पूर्ण हुआ[1]।

अथ लिङ्गे, तत्र न रहस्यमन्त्रैः लिङ्गं प्रतिष्ठापयेत्। विशेषाद्व्यक्तम् इति पूर्वप्रतिष्ठितेषु आवाहन-विसर्जन क्रमेण पूजां कुर्यात् आधारतया। तत्र गुरुदेहं, स्वदेहं, शक्तिदेहं, रहस्यशास्त्रपुस्तकं, वीरपात्रम्, अक्षसूत्रकम्, प्राहरणम्, बाणीयं मौक्तिकं, सौवर्णम्, पुष्पगन्धद्रव्यादिहृद्यवस्तुकृतं, मकुरं वा लिङ्गमर्चयेत्। तत्र च आधारबलादेव अधिकाधिकमन्त्रसिद्धिः भवति इति पूर्वं पूर्वं प्रधानम् आधारगुणानुविधायित्वात् च मन्त्राणां तत्र तत्र साध्ये तत्तत् प्रधानमिति शास्त्रगुरवः सर्वत्र परमेश्वराभेदाभिमान एवपरमः संस्कारः।

इसके बाद लिङ्गमें (पूजाका विधान है।) रहस्यके मन्त्रों द्वारा लिङ्गप्रतिष्ठा वर्जित है। विशेषतः व्यक्तलिङ्गकी (पूजा नितान्त वर्जित है)। जो पहलेसे प्रतिष्ठापित हैं, आधार होनेके कारण उनका आवाहन-विसर्जन क्रमसे पूजन करना चाहिये। गुरुशरीर, अपना शरीर, शक्ति-शरीर, रहस्यशासन पुस्तक, वीरपात्र, अक्षसूत्र, प्राहरण, बाणीय, मौक्तिक, सौवर्ण, पुष्प, सुगन्ध द्रव्य, कोई प्रियवस्तु, दर्पण तथा लिङ्ग आदि की पूजा होनी चाहिये। मन्त्रकी सिद्धि आधार पर निर्भर करती है।

---

१. तं० २६/६७—७४

अतएव जैसा आधार वैसी ही मन्त्रसिद्धि। इसमें पूर्व पूर्वका (आधारकी दृष्टि से) प्राधान्य है। यह बात शास्त्रगुरु (कहते हैं)। सबसे बड़ा संस्कार परमेश्वरमें अभेदका भाव ही है।[1]

तन्त्रालोककी उक्ति है—'इति श्लोक त्रयोपात्तमर्थमन्तर्विभावयन्' अर्थात् इन तीन श्लोकोंके अर्थको अन्तर्भावित करते हुए देव तर्पण करना चाहिये। तन्त्रसारमें केवल दो श्लोकोंके अर्थका अन्तर्भाव मुख्य माना है और स्थण्डिलका उसके सन्दर्भमें वर्णन किया गया है। स्थण्डिल यागके अनन्तर लिङ्ग पूजनसे सम्बन्धित शास्त्रके नियम लिखे गये हैं। विशेषतः इनके मतमें और मालिनीके मतमें कोई अन्तर नहीं है। वहाँ निर्देश है—'यजेदाध्यात्मिकं लिङ्गम्' अर्थात् आध्यात्मिक लिङ्गकी पूजा होनी चाहिये। बाह्य लिङ्गकी अर्थात् व्यक्त लिङ्गकी पूजा 'रहस्य' मन्त्रोंसे नहीं की जानी चाहिये। वास्तवमें प्राण-प्रतिष्ठा तो मन्त्रोंसे होती है। जो मन्त्र रहस्यात्मक हैं—उनको बाह्य प्रतिष्ठित कर देनेसे रूपविच्युति हो जाती है। वहाँ स्वयं शिव ही नहीं रह जाते—प्रतिष्ठापकका भी अहित हो जाता है।[2] गुरुकी आज्ञासे यदि लिङ्ग प्रतिष्ठाकी गयी है—वहाँ गुरुकी आज्ञासे मन्त्राधार प्राप्त है। अतएव वहाँ पूजामें आवाहन आदि क्रमका उपयोग करना चाहिये।[3]

व्यक्तलिङ्गका यहाँ निर्देश है। इसमें पहले सर्वोत्तमका कथन है। फिर उसके न रहने पर अन्य क्रमशः अप्रधान लिङ्ग कथित हैं। यहाँ उत्तर प्रधानकी चर्चा न कर पूर्व प्रधानकी चर्चाका उद्देश्य प्रधानकी महत्ताको सर्वप्रथम स्थान देना है। सर्वप्रधान व्यक्त लिङ्ग गुरुदेवका शरीर ही है। इसके बाद अन्य ग्यारहका उल्लेख है—१—स्वयंका शरीर ३—शक्ति शरीर ४—रहस्य शास्त्रकी पुस्तक ५—वीरपात्र (शङ्ख या कपाल) ६—अक्षसूत्र (रुद्राक्ष या ११५ या १०८ अथवा ५४ या २७ रुद्राक्षोंकी माला) ७—प्राहरण (खड्ग कृपाण आदि) ८—बाणलिङ्ग ९—मोती निर्मित १०—स्वर्णनिर्मित ११—फूल-गन्धके पदार्थ आदि प्रिय वस्तु तथा १२ दर्पण। इस प्रकार इन १२ में सर्वोच्च लिङ्ग गुरुदेवका पावन शरीर है। इनकी सुविधानुसार पूजा करनी चाहिये। यह ध्यान

---

१. तं० २७/१–३२–५९ २. २७/२–७ ३–तं० २७।५७, मा०वि०तं० १–१३

देनेकी बात है कि, आधारके अनुसार मन्त्र फल प्रदान करते हैं। साध्यके अनुसार आधारका निश्चय करना चाहिये। और उसीको प्रधान मानकर पूजाकी जानी चाहिये। यह हमेशा याद रखना चाहिये कि, भेदभावको मिटाकर सर्वत्र परमेश्वरकी अभिन्नताका भाव बना रहे। यही सबसे बड़ा संस्कार है। तत्त्वमें निश्चल समावेश ही जीवनका लक्ष्य है।[1]

अथ पर्वविधिः

तत्र सामान्यं, सामान्यसामान्यं, सामान्यविशेषो, विशेषसामान्यं विशेषो, विशेषविशेषश्च इति षोढा पर्व, पूरणात् विधेः। तत्र तत्र मासि मासि प्रथमं पंचम दिनं सामान्यम्, चतुर्थाष्टमनवम-चतुर्दशपञ्चदशानि द्वयोरपि पक्षयोः सामान्यसामान्यम्, अनयोरुभयोरपि राश्योः वक्ष्यमाणतत्तत्तिथ्युचितग्रहनक्षत्रयोगे सामान्य विशेषः, मार्गशीर्षस्यप्रथमरात्रिभागः कृष्णनवम्यां, पौषस्य तु रात्रिमध्यम् कृष्णनवम्याम्, माघस्यरात्रिमध्यम् शुक्लपञ्चदश्याम्, फाल्गुनस्य दिनमध्यम् शुक्लद्वादश्याम्, चैत्रस्य शुक्ल त्रयोदश्याम्, वैशाखस्य कृष्णाष्टम्यां, ज्येष्ठस्य कृष्णनवम्यां, आषाढस्य प्रथमेदिने श्रावणस्य दिवसपूर्वभागः कृष्णैकादश्याम् भाद्रपदस्य दिनमध्यं शुक्लषष्ठ्यां, आश्वयुजस्य शुक्लनवमीदिनम्, कार्तिकस्य प्रथमो रात्रिभागः शुक्लनवम्याम्—इति विशेष पर्व।

१–सामान्य, २–सामान्य सामान्य, ३–सामान्य विशेष, ४–विशेषसामान्य ५—विशेष ६—विशेष विशेष नामक छः प्रकारके पर्व होते हैं। विधिके पूरक होनेसे (पर्व कहलाते हैं)। सभी महीनोंके पहले ५ दिन सामान्य पर्व हैं। चौथे, आठवें, नवें, चौदहवें और पन्द्रहवें दिन दोनों पक्षोंके सामान्य-सामान्य पर्व हैं। दोनों पक्षोंमें जो राशियाँ

१. तत्त्वेनिश्चलचित्तास्तु, भुञ्जानोविषयानपि। न संस्पृश्येत दोषं पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ मा० वि० १८।८०।

पड़ती हैं उनमें तिथि, ग्रह और नक्षत्रोंके मेलसे (किसी विशिष्ट प्रभाव की उत्पत्ति होती है। वह पर्व) सामान्य विशेष (कहलाता है) अगहन कृष्ण नवमीकी रात्रिका पहला भाग, पूस कृष्ण नवमीकी रात्रिका आधीरातका भाग, माघ शुक्ल पूर्णिमाकी अर्धरात्रि, फाल्गुन शुक्ल द्वादशीका दोपहर, चैत्र शुक्ल त्रयोदशी, वैशाख कृष्ण पक्षकी अष्टमी, ज्येष्ठ कृष्ण नवमी और आषाढ़की पहली तिथिके (फाल्गुनसे ज्येष्ठकी सुदी १२, सुदि १३ बदि८मी९मी तथा आषाढ़के पहले दिनके दोपहर भी) श्रावण कृष्ण एकादशीके दिनका पहला पहर, भादों शुक्ल षष्ठीका दोपहर, कुआर शुक्ल नवमी पूरा दिन और कार्त्तिक शुक्ल नवमीका रात्रिका पहर-ये सभी विशेष पर्व कहलाते हैं।

यह प्रकरण पर्व भेद और उनके विवरणसे सम्बन्धित है। पर्वके ६ भेद होते हैं। दो सामान्यके भेद, दो सामान्य और विशेषको मिलाकर बने भेद तथा दो विशेषके भेद। इस तरह १–सामान्य २–सामान्य सामान्य ३–विशेष ४–विशेष सामान्य ५–विशेष और ६–विशेष-विशेष ये छः भेद हो जाते हैं। इनमें विधियोंकी पूर्त्ति होती है। इनका समय क्या होता है ? किस तिथिमें, किस मासमें, और दिन के किस भागमें कौन-कौन पर्व होते हैं—इस जिज्ञासाके उत्तरमें पर्वोंके अलग-अलग समय, तिथि, मास, और कलांशका वर्णन कर रहे हैं। वह इस प्रकार है—

१. सामान्य —प्रत्येक मासके पाँच दिन (जिस दिनसे महीनेका प्रारम्भ हो उसीसे ५ दिन)

२. सामान्य-सामान्य–दोनों पक्षोंके ४, ८, ९, १४ और १५वें दिन

३. सामान्य विशेष—दोनों पक्षोंके विशेष तिथि, ग्रह और नक्षत्रोंके संयोगसे सामान्य दिनोंमें भी विशिष्ट योग बनते हैं। जैसे शनि और रिक्ता तिथियोंके योगसे सिद्धियोग बनता है। यह सामान्य विशेष है।

४. विशेष सामान्य—इसका विवरण नहीं दिया गया है।

५. विशेष—बारहों महीनोंमें पड़ने वाले विशेष पर्व निम्नलिखित हैं—

१–अगहन–कृष्णपक्ष नवमीकी रातका पहला पहर

२–पूस–कृष्पक्ष नवमीकी रातका मध्यभाग अर्थात् मध्यरात्रि

३–माघ–शुक्लपक्ष पूर्णिमाकी मध्यरात्रि

४–फाल्गुन–शुक्लपक्ष द्वादशीका दोपहर
५–चैत्र–शुक्लपक्ष त्रयोदशीका दोपहर
६–वैशाख–कृष्णपक्ष अष्टमीका दोपहर
७–ज्येष्ठ–कृष्णपक्षकी नवमीका दोपहर
८–आषाढ़–कृष्णपक्षका पहला दिन
९–श्रावण–कृष्णपक्षकी एकादशी दिनका पहला पहर
१०–भाद्रपद–शुक्लपक्षकी षष्ठीका दोपहर
११–कुआर–शुक्लपक्षकी नवमी पूरा दिन
२२–कार्त्तिक–शुक्लपक्षकी नवमोकी रातका पहला भाग

इन पर्वोंमें तिथि ग्रह और नक्षत्रोंके योगसे समय चक्रके ये विशेष भाग विशिष्ट प्रभाव उत्पन्न करनेमें समर्थ हो जाते हैं। इसीलिये इस विशिष्ट समयोंमें साधककों अपनो साधनामें अवश्य लगना चाहिये। इसमें ध्यान, तादात्म्य प्रतिपत्ति और अनुभूतियोंमें परिष्कृति आदि कार्य अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

चित्राचन्द्रौ, मघाजीवौ, तिष्यचन्द्रौ, पूर्वाफाल्गुनीबुधौ, श्रवणबुधौ, शतभिषक्चन्द्रौ, मूलादित्यौ, रोहिणीशुक्रौ, विशाखाबृहस्पती, श्रवणचन्द्रौ इति। यदिमार्गशीर्षादिक्रमेण यथासंख्यं भवति आश्वयुजं वर्जयित्वा तदा विशेषविशेषः। अन्यविशेषश्चेत् अन्यपर्वणि तदा तत् अनुपर्व इत्याहुः।

सोमको चित्रा नक्षत्र, जीव (बृहस्पतिमें) मघानक्षत्र, तिष्य (पुष्य) नक्षत्र और सोमवार, पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र हो और बुध दिन हो, श्रवण नक्षत्र और बुधवार, शतभिषा नक्षत्र और सोमवार, मूल नक्षत्र और रविवार, रोहिणी नक्षत्र और शुक्रवार, विशाखा नक्षत्र और गुरुवार तथा श्रवण नक्षत्र और सोमवार (के योगसे विशेष प्रभाव उत्पन्न होते हैं)। यदि अगहनके क्रमसे क्रमशः ये संयोग गिने जायें, तो कुआरको छोड़कर उक्त सभी विशेष-विशेष पर्व कहलाते हैं। किसी अन्य पर्वमें कोई दूसरी विशेषता आ जाय, तो उसे आगमिक आचार्य अनुपर्व कहते हैं।

पर्वका छठाँ भेद है—विशेष-विशेष। दिनों और नक्षत्रोंके योगसे भी पर्व बनते हैं। जैसे—१-सोमको चित्रा नक्षत्र या शतभिष नक्षत्र अथवा श्रवण नक्षत्र या पुष्य नक्षत्र से। २-वृहस्पतिको मघा नक्षत्रके योगसे ३-बुधको पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्रसे, ४-रविवारको मूल नक्षत्र ५-शुक्रको रोहिणी नक्षत्रके योगसे ६—वृहस्पतिवारको विशाखा के योग से।

अगहनसे आरम्भ कर कार्त्तिक तकके मास क्रममें आश्विन कृष्ण पक्षकी गणना नहीं की जाती। वह पक्ष पितर लोगोंका पक्ष है। शुक्ल-पक्षकी दशमी तक देवांश प्रधान समय रहता है। यह समय भी साधनाके लिये सर्वोत्तम है। अन्य सभी मासोंके सभी पक्षोंमें दिनों और नक्षत्रोंके सुयोग विशेष-विशेष पर्व है।

कभी-कभी किसी एक विशेष पर्वमें कोई दूसरे पर्वमें भी आ पड़ते हैं। ऐसे पर्व अनुपर्व कहते हैं।

भग्रहयोगे च न वेलाप्रधानं, तिथेरेव विशेषलाभात्। अनुयागकालानुवृत्तिस्तु पर्वदिने मुख्या, अनुयागप्राधान्यात् पर्वयागानाम् अनुयागो, मूर्त्तियागः चक्रयागः इति पर्यायाः। तत्र गुरुः, तद्वर्ग्यः ससन्तानः, तत्त्ववित्, कन्या, अन्त्या, वेश्या, अरुणा, तत्त्ववेदिनी वा इति चक्रयागे मुख्य—पूज्याः, विशेषात् सामस्त्येन।

भ (नक्षत्र) और ग्रहके योग होनेपर वेलाकी प्रधानता नहीं होती। तिथिकी ही प्रधानता होती है। पर्वके दिन अनुयाग समयकी अनुवृत्ति मुख्यतः (अनिवार्य) है। पर्व यागोंमें अनुयागकी प्रधानता है। अनुयाग, मूर्त्तियाग और चक्रयाग ये पर्यायवाची शब्द हैं। इस चक्रयागमें मुख्यरूपसे पूज्य गुरु, गुरुके सन्तान सहित स्ववर्गीय तत्त्ववेत्ता, कन्या अन्त्या, वेश्या, अरुणा, तत्त्ववेदिनी स्त्री—ये मुख्यतः पूज्य हैं। यह पूजा सामूहिक होनी चाहिये।

ग्रह और नक्षत्रके योगके क्षण यद्यपि पुण्यकाल माने जाते हैं। इन्हें ज्योतिःशास्त्रमें संक्रान्तिकाल कहते हैं। पर मुख्यता तिथिकी ही देते हैं। तिथिका बल मिलन क्षणकी अपेक्षा अधिक होता है। यह ध्यान देनेकी बात है कि, पर्व दिनोंमें अनुयागकालकी अनुवृत्ति होती रहती है।

पर्वके यागकी अपनी परम्परा है। इसमें अनुयाग भी आते ही रहते हैं। अनुयागके दो पर्याय हैं–१–मूर्तियाग और चक्रयाग। तन्त्रालोकमें मूर्त्तियागके ५ भेद बतलाये गये हैं। १—केवलयाग, २—यमलयाग, ३—मिश्रयाग ४—चक्रयाग और ५—वीरसंकरयाग। यामलयाग क्रयकर लायी गयी पत्नीके साथ भी होता है। वेश्याके साथ भी इसका विधान है। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि, इनमें किसकी पूजा आवश्यक है।

पूजनीय लोगोंमें गुरुका स्थान सर्वोपरि है। गुरुके पुत्र और उनके सवर्गीय भी पूज्य हैं। कोई ऐसा व्यक्तिजो आचार्य हो और वास्तविक तथ्यसे अवगत हो-तत्त्ववेत्ता हो, तो उसकी पूजा भी होनी चाहिये। चक्रयागमें स्त्रियोंकी प्रधानता है। खरीदकर लाई गई कुमारी अन्त्यज स्त्री, वेश्या, ऋतुमती अथवा शैवदर्शनकी तत्त्व परम्परामें पारङ्गत कोई स्त्री, इस यागमें पूजित होते हैं।

इनके पूजनकी विशेष विधियाँ हैं। अत्यन्त संयमके साथ यामलभावके रहते हुए भी मिथुनभाव नितान्त वर्जित है। यह भय है या रहता है कि, किसी स्त्रीकी पूजा हो रही हो, एकान्त हो, तो वासना उद्दीप्त हो उठे। इसीलिये सामूहिक पूजा ही श्रेयस्कर है। नग्न 'योनि' शक्ति रूप है। उसका दिव्यभावके समावेशके साथ पूजन समान्यतया सामाजिकताके विपरीत पड़ता है। भले ही भावकी उच्चता हो पर उससे मानव कभी परीशान भी हो उठता है। इसीलिये सामूहिक पूजाका निर्देश दिया गया।

तत्रमध्ये गुरुः तदावरणक्रमेण गुर्वादिसमय्यन्ते वीरः शक्तिः इति क्रमेण–इत्येवं चक्रस्थित्या वा पङ्क्तिस्थित्या वा आसीत, ततो गन्ध, धूपपुष्पादिभिः क्रमेण पूजयेत्। ततः पात्रं सदाशिवरूपं ध्यात्वा शक्त्यमृतध्यातेन आसवेन पूरयित्वा तत्र भोक्त्रीं शक्तिं शिवतया पूजयित्वा तयैव देवताचक्रतर्पणं कृत्वा नरशक्तिशिवात्मकत्रितयमेलकं ध्यात्वा आवरणावतरणक्रमेण मोक्षभोगप्राधान्यं बहिरन्तश्च तर्पणं कुर्यात्। पुनः प्रतिसंचरण क्रमेण एवं पूर्णं भ्रमणं चक्रं पुष्णाति।

चक्र यागके मध्यमें गुरुको आवृतकर केन्द्रमें गुरु और समयी शिष्य बैठें। इसमें वीर फिर शक्ति, फिर वीर और फिर शक्तिका क्रम चाहिये। इस प्रकार चक्रात्मक स्थितिके अनुसार (बैठें) अथवा पंक्ति पंक्तिके क्रमसे बैठना चाहिये। इसके बाद गन्ध, धूप और फूल आदिसे पूजा करनी चाहिये।

पात्रको सदाशिव रूप मानते हैं। उसी रूपमें उसका ध्यान भी करना चाहिये। शक्तिसुधाके रूपमें ध्यात सुरासे उसे भरना चाहिये। भोक्त्रीशक्तिकी शिवरूपमें पूजाकर उसी आसवसे देवताचक्रका तर्पण करना चाहिये। इस समय नर, शक्ति और शिव इस त्रिकका ध्यानकर आवरण अवतरण क्रमसे भोग प्राधान्य और मोक्ष प्राधान्य क्रमकी बात सोचते हुए बाह्य और आन्तर दोनों विधियोंसे तर्पण करना चाहिये। फिर उसीके उल्टे क्रमसे चक्र भ्रमण पूर्णकर लेना भी अत्यन्त आवश्यक है।

चक्र यागमें सर्वोपरि पूज्य गुरु ही माना जाता है। इसमें बैठनेके दो क्रम हैं—१—चक्र स्थितिमें या २—पंक्ति स्थितिमें। गुरुकी पूजा करनी हो, तो उनको घेरकर गोलाईमें बैठकर उनकी पूजा होती है या उनके आगे पंक्तिबद्ध बैठकर।

पहले फूल और सुगन्धित पदार्थोंसे, सामान्य पूजा फिर विशेष पूजा करनी चाहिये। अर्घ्य पात्रमें सदाशिवका ध्यानकर उसे शक्ति सुधा रूप सुरासे भरकर भोक्त्रीशक्ति एवं शिवका ध्यानकर सदाशिव, शक्ति और शिवके प्रभावका उद्भावनकर वातावरण शिवमय बनाकर सबको दिव्य-सुरामृतसे तृप्त करना चाहिये। यहाँ नर, शक्ति और शिव इस त्रिकमें भोग मोक्षको दृष्टिगत रखते हुए बाहर-भीतर तृप्तिका उपक्रम आवश्यक है। क्रमशः गुरु, समयी, वीर और शक्ति रूप चक्रमें स्थितिके क्रमसे वह अमृत वितरित होता है फिर शक्ति, वीर और समयीसे होता हुआ गुरु तक पहुँचता है। इस प्रक्रियासे यह चक्र पुष्ट होता है।

तत्र आधारे विश्वमयं पात्रं स्थापयित्वा देवताचक्रं तर्पयित्वा स्वात्मानं वन्दितेन तेन तर्पयेत्, पात्राभावे भद्रं वेल्लित-शुक्तिः वा, दक्षहस्तेन पात्राकारं भद्रं, द्वाभ्यामुपरिगत-दक्षिणाभ्यां निःसन्धीकृताभ्यां वेल्लित-शुक्तिः, पतद्भिः

विन्दुभिः वेतालगुह्यकाः संतुष्यन्ति। धारया भैरवः। अत्र प्रवेशो न कस्यचित् देयः। प्रमादात् प्रविष्टस्य विचारं न कुर्यात्। कृत्वा पुनर्द्विगुणं चक्रयागं कुर्यात्। ततोऽवदंशान् भोजनादीन् च अग्रे यथेष्टं विकीर्येत। गुप्तगृहे वा संकेताभिधानवर्जं देवताशब्देन सर्वान् योजयेत् इति वीरसंकरयागः।

वीर संकर यागका क्रम दूसरा है। यहाँ विश्वरूप आधारमें सुरामय अमृतपात्र की स्थापनाकर देवता चक्रकी पूजा कर उस देववन्दित अमृतसे अपनेको पूर्णतया तृप्त करना चाहिये। पात्र न हो, तो शंखकी तरह वेल्लित सीपीका पात्र जिसकी वारि गोलाकार हो, लेना चाहिये। या भद्र (दाहिने हाथकी अंजुलि) का ही पात्र बना ले। वेल्लित सीपीके भी न मिलने पर बायीं अंगुलीके ऊपर दाहिनी इस प्रकार रखे कि, वह छिद्र रहित पात्र बन जाय–इसे भी वेल्लित शुक्ति कहते हैं।

यदि इन हस्तपात्रोंसे अमृत विन्दु चू पड़ते हों, तो उनसे वेताल और गुह्यक तृप्त होते हैं। इससे धारा पूर्वक अमृत गिराया जाय, तो उससे भैरव तृप्त होते हैं। इस यागमें दूसरेका प्रवेश निषिद्ध है। यदि भूलसे कोई आ हो जाय, तो उसकी उपेक्षा कर दी जानी चाहिये। उसपर ध्यानका प्रायश्चित है–दूना चक्रयाग अथवा संकर याग।

इस अमृतपानके समय वहाँ उपस्थित व्यक्तियोंको अवदंश तथा भोजन आदि जो पदार्थ हों, परोसना चाहिये। गुप्तगृहमें सभी देव रूप हो जाते हैं। अतः उन्हें उनके नामसे नहीं पुकारना चाहिये। यह वीर संकरयाग कहला। है।

चक्रयागमें पात्र सदाशिव रूप माना जाता है। वीर संकर यागमें पात्र विश्वमय रूपसे मान्य है। शिवामृतसे ही समस्त देवचक्रका तर्पण होता है। वह वन्दनीय है। उसकी वन्दनाके उपरान्त ही उससे स्वात्माकी तृप्ति भी करनी चाहिये। चषक कई प्रकारके होते है। रत्नचषक, शुक्ति और धातुचषक, मृत्तिका चषक और सबके अभावमें अंजुलिचषक, दाहिनी अंजुलिको 'भद्र' चषक और बायें हथेली पर दाहिनी हथेली ऐसे रखी जाय कि, उसमें छिद्र न रहे-उसे 'वेल्लित शुक्ति' चषक कहते हैं। पीते समय बूँदोंके गिरनेसे वेताल और गुह्यक तृप्त होते हैं। धारा संपातसे भैरव तृप्त होते हैं।

इस अमृतयागमें दूसरेका प्रवेश निषिद्ध है। संयोग वश कोई चला भी जाय, तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। इस सम्बन्धमें सोच विचारके प्रायश्चित्तस्वरूप दुगुना चक्रयाग करना चाहिये। उस स्थानमें सम्मिलित सभी दिव्य हो जाते हैं। उनकी पहचान वहाँ देवतावाचक शब्दसे ही की जाती है। उनके सामनें अमृत पानके समय अवदंश और भोजन सामग्री भी परोसना आवश्यक होता है। इस प्रकारका याग वीरसंकरयाग है।

ततोऽन्ते दक्षिणाताम्बूलवस्त्रादिभिः तर्पयेत्। इति प्रधानतमोऽयं मूर्त्तियागः। अदृष्टमण्डलोऽपि मूर्त्तियागेन पर्वदिनानि पूजयन् वर्षादेव पुत्रकोक्तं फलमेति, विना सन्ध्यानुष्ठानादिभिः इति वृद्धानां भोगिनां स्त्रीणां विधिरयम्। शक्तिपाते सति उपदेष्टव्यो गुरुणा।

वीर संकरयागमें उपस्थित या सम्मिलित सभी साधकोंका सम्मान दक्षिणा, उत्तरीय और ताम्बूल आदिसे करना चाहिये। यह प्रधान मूर्त्ति याग है। जिस व्यक्तिने प्रति संचरण क्रमसे मण्डल भ्रमणकी विधि नहीं देखी है–वह भी मूर्त्तियागके माध्यमसे पर्व दिनोंकी पूजा सम्पन्न करते हुए एक वर्षके अन्दर ही पुत्रक दीक्षाकी साधनासे प्राप्य फल पा सकता है। वृद्धों, भोगमें लगे लोगों और साधनोंमें असमर्थ स्त्रियोंके लिये विना सन्ध्या आदि अनुष्ठानोंके भी शक्तिपात होने पर यह उपदेश गुरु द्वारा प्रदेय है।

पर्वयागमें अनुयागोंकी प्रधानता होती है। अनुयाग ही चक्रयाग और मूर्त्तियाग भी होता है। मूर्त्तियागमें वीर संकरयागकी विधि भी पूरी की जाती है। सभी सम्मिलित साधक वहाँ दिव्य भावसे भावित हो जाते हैं। यागकी समाप्तिमें उनका सम्मान आवश्यक होता है। उन दिव्यभाव भावित मूर्त्तियोंको वस्त्र पिन्हाना, उन्हें बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्यसे समन्वित करनेके लिये ताम्बूल देना तथा जाते समय यज्ञकी पूर्णताके लिये दक्षिणा देना मूर्त्तियाग प्रक्रियाका विशेष अंग है।

यहाँ साधनाके प्रसङ्गमें वृद्ध व्यक्तियों, भोग (प्रवृत्तिमार्ग) में लगे लोगों और स्त्रियोंके सम्बन्धमें विचार किया गया है। समर्थ साधक तो अनुयागों चक्रयागोंमें संचरण प्रतिसंचरण करता हुआ मण्डल (चक्र)

परिभ्रमणकर लेता है किन्तु जिन्होंने यह विधि देखी भी न हो, उनके लिये क्या विधान है ? जो सन्ध्या आदि अनुष्ठान नहीं कर पाते, उनको कैसे याग फलोंसे लाभान्वित किया जाय ? यह मुख्य प्रश्न है।

इसके उत्तरके रूपमें ग्रन्थकारने अपना विचार यहाँ प्रस्तुत किया है। ऐसे लोग अपनी जिज्ञासाकी शान्तिके लिये, श्रद्धा और आस्थाको तृप्त करनेके लिये गुरुजनों या पूज्यगुरु वर्गीय व्यक्तियोंको अपने यहाँ बुलावें। उनका आदर सम्मान करें। पर्व दिनोंकी पूजा करते रहें, तो उनके इस व्यवहारमें उन्हें वही फल मिल जाता है, जो पुत्रक दीक्षा प्राप्त शिष्योंको प्राप्त होता है। हाँ इसके लिये सतत लगे रहना आवश्यक है। कमसे कम १ साल तक लगातार करनेसे उनमें शक्तिका जागरण हो जाता है। ऐसी अवस्थामें गुरुदेव भी प्रसन्नताका अनुभव करते हैं और फिर उपदेश देकर अवश्य ही उन्हें कृतार्थ करते हैं।

अथ पवित्रक विधिः

स च शिरोरत्नमालात्रिशिरोमतश्रीसिद्धामतादौ विधिपूरकः पारमेश्वराज्ञापूरकश्च, उक्तं चैतत् श्री तन्त्रालोके 'विना पवित्रकेण सर्वं निष्फलम्' इति। तत्र आषाढशुक्लात् कुलपूर्णिमादिनान्तं कार्यं पवित्रकम्। तत्र कार्त्तिककृष्णपञ्चदशी कुलचक्रं नित्याचक्रं पूरयति इति नित्यातन्त्रविदः। माघशुक्लपञ्चदशी इति भैरवकुलोर्मिविदः दक्षिणायनान्तपञ्चदशी—इति श्री तन्त्रसद्भावविदः।

शिरोरत्नमाला, त्रिशिरस् सिद्धान्त ग्रन्थ और श्री सिद्धामतके अनुसार यह सभी विधियोंका पूरक है। परमेश्वरके आदेशोंका अनुपूरक है। तन्त्रालोकका मत है—'पवित्रकके विना सब कुछ निष्फल है'। आषाढ़ शुक्लसे लेकर कुलपूर्णिमाके दिनान्त तक पवित्रक बनाया जाता है। नित्यातन्त्रज्ञ कहते हैं कि, कार्त्तिक कृष्ण पञ्चदशी कुल और नित्याचक्रोंकी पूरयित्री है। 'भैरव कुलोर्मि' सिद्धान्तवादियोंका मत है कि, माघ शुक्लपञ्चदशी ही कुल और नित्या चक्रोंकी पूरिका है। दक्षिणायनका जिस पञ्चदशीको अन्त होता है, वही इसकी पूरक है-ऐसा श्रीतन्त्रसद्भाव-मतवादी मानते हैं।

पवित्रक धारण करना कर्मकाण्डका एक अङ्ग है। इसके धारणके पश्चात् ही संकल्प ग्रहण करते हैं और कर्म काण्डका प्रारम्भ होता है। तन्त्र शास्त्रके प्रसिद्धग्रन्थों में भी इसका निर्देश है। जैसे शिरोरत्नमाला, त्रिशिरोमत और श्रीसिद्धामतमें यह उल्लेख है कि, पवित्रक, विधिपूर्वक धारण करना चाहिये। पवित्रक परमेश्वर की आज्ञाका पूरक है। तन्त्रालोकका भी यही मत है। उसमें लिखा है—'पवित्रकके विना सब कुछ व्यर्थ हैं। इस मतके अनुसार आषाढ़शुक्ल प्रतिपदासे कुल पूर्णिमा गुरुपूर्णिमा अर्थात् आषाढ़ीपूर्णिमा तक पवित्रक निर्माण किया जाता है। कार्त्तिकी अमावस्या कुलचक्र और नित्याचक्रोंकी पूरिका है—यह मत नित्यातन्त्र मानने वालोंका है। भैरवकुलोर्मि वेत्ता विद्वान् इसका श्रेय माघशुक्ल पञ्चदशीको देते हैं। श्रीतन्त्रसद्भाव के अनुसार चलनेवाले लोग उस तिथिको देते हैं, जिसदिन दक्षिणायन समाप्त होता है। इसप्रकार अन्यान्य मतवादोंके विचार प्रस्तुत कर पवित्रकके महत्त्वका स्थापन किया गया है।

तत्र विभवेन देवं पूजयित्वा आहुत्या तर्पयित्वा पवित्रकं दद्यात्। सौवर्णमुक्तारत्नविरचितात् प्रभृति पटसूत्रकार्पास कुशगर्भान्तमपि कुर्यात्। तच्च तत्त्वसंख्यग्रन्थिकं पदकलाभुवन-वर्णमन्त्रग्रन्थि च जान्वन्तमेकं नाभ्यन्तमपरं, कण्ठान्तमन्यत्, शिरसि अन्यत्–इति चत्वारि पवित्रकाणि देवाय गुरवे च समस्ताध्वपरिपूर्णतद्रूपभावनेन दद्यात् शेषेभ्य एकम् इति।

विभवसे देव पूजनकर आहुतियोंसे तर्पणकर पवित्रक देना चाहिये। स्वर्ण मुक्ता, रत्न विरचितसे लेकर रेशम, कपास और कुशगर्भोंसे भी (पवित्रक बनाना चाहिये) उसमें तत्त्व संख्या ३६ के अनुसार ३६ गाँठें होनी चाहिये। अथवा पद कला, भुवन, वर्ण और मन्त्रोंकी संख्याके अनुसार भी गाँठें दी जा सकतीं हैं।

लम्बाई घुटनेतककी एक, नाभितककी दूसरी, कण्ठ तक तीसरी और शिरपर (धार्य) चौथी ये चार मालात्मक पवित्रक देव (आराध्य) को और गुरु देवको अर्पित करना चाहिये। इसमें समस्त अध्वसे परिपूर्ण तद्रूपका भावन आवश्यक है। शेष लोगोंको एक-एक पवित्रक देना चाहिये।

वैदिक कर्मकाण्डमें पवित्रक दाहिने हाथकी अनामिकामें धारण करने का विधान है। शैव दीक्षामें दीक्षित शिष्यको पवित्रक गलेमें धारण करना होता है।

सर्वप्रथम समारोह पूर्वक उदारता पूर्वक, खुले हाथ और खुले हृदयसे आराध्य भगवान्की आराधना होनी चाहिये। पूजन और हवन करना चाहिये। उन्हें तृप्तकर पवित्रक अर्पण करनेकी क्रिया पूरी करनी चाहिये।

पवित्रक सोनेका बना हो, उसमें मोती और रत्न जड़े हों, तो सबसे अच्छा, नहीं तो रेशमके धागेसे बना हो, कपासके सूतसे निर्मित हो अथवा कुशके ऊपरी भागसे जो खींचने पर ऊपर आ जाता है, ऐसे मृदुल कोमल कुशसे भी बनाया जाता है।

उसमें ३६ गाँठें होनी चाहिये। क्योंकि शैवशास्त्र ३६ तत्त्व मानता है। ३६ गाँठें हों तो पद ८१ कला ५ भुवन २४० वर्ण ५० मन्त्र ११ की संख्याओं[१] के अनुसार भी गाँठें दी जा सकती हैं। एक पवित्रक घुटने तकका दूसरा नाभितकका कण्ठतकका और चौथा शिरपर उसी नापका पवित्रक आराध्य अथवा गुरुदेवको अर्पित करना चाहिये। यह भावन करना चाहिये कि, सभी छः अध्वाओंसे परिपूर्ण विश्वमय हमारे पूज्य गुरुदेव हैं। इस भावनासे भावित होकर पवित्रक अर्पित करना चाहिये वहाँ कोई यदि गुरुके आत्मीय हों, जो उनके साथके हों, तो उन्हें भी एक पवित्रक देना चाहिये, भले ही वह शिरस्य ही क्यों न हो।

ततो महोत्सवः कार्यः, चातुर्मास्यं सप्तदिनं त्रिदिनं च इति मुख्यान्वापत्कल्पाः। सति विभवे मासि मासि पवित्रकम्, अथ वा चतुर्षु मासेषु, अथवा सकृत्, तदकरणे प्रायश्चित्तं जपेत्, ज्ञानी अपि सम्भवद्वित्तोऽपि अकरणे प्रत्यवैति, लोभोपहितज्ञाना-करणे ज्ञाननिन्दापत्तेः। 'यदा प्राप्यापि विज्ञानं दूषितं परमेश-शासनं तदा प्रायश्चित्ती।' इति वचनात्।

इत्येषपवित्रकविधिः।

---

१. महार्थमञ्जरी, कारिका २७ भाष्य

इस क्रियाके सम्पन्न होनेके उपलक्ष्यमें महोत्सव करना चाहिये। चातुर्मास्य में सात दिन या तीन दिन अथवा आपत्कल्पा स्थिति में एक दिन (महोत्सव होना चाहिये)। विभव होनेपर महीने महीने पवित्रक अर्पित करना चाहिये अथवा चार महीनों में चारबार या एक बार ही सही अर्पित करना चाहिये। ऐसा न करने पर प्रायश्चित्त होता है। इसके लिये प्रायश्चित्तका जप करना चाहिये। ज्ञानी व्यक्ति भी सम्भवद्वित्त भी हो, तो न करने पर प्रत्यवायका भागी होता है। लालचवश पैसा बचाने के लिये न करने पर, जानते हुए भी न करने पर उस ज्ञान की ही निन्दा की आपत्ति होती है। कहा गया कि, विज्ञान पाकर भी यदि परमेश्वरके शासनको दूषित करता है, तो वह प्रायश्चित्तका भागी होता है। इस प्रकार यह प्रवित्रक विधि पूर्ण होती है।

आराध्य, गुरुदेव और शेष व्यक्तियोंको पवित्रक अर्पित करनेके बाद महोत्सव मनाना चाहिये। चलना तो यह चार महीना चाहिये अथवा सात दिनोंतक का या तीन दिनों तकका तो होना ही चाहिये। सामान्यतया यह नियम सदा पालनीय हैं। आपद् अवस्था में भी जैसे मुख्य कार्य नहीं छूटते या छोड़े जाते, उसी तरह (मुख्य कार्यकी तरह) अवश्य पालनीय कृत्य है। सम्पत्ति हो, सुविधा हो और ऐश्वर्यका उल्लास हो, तो यह नियम, पवित्रक प्रदान करने की यह प्रक्रिया महीने महीने होनी चाहिये। अथवा चतुर्मासके चारों महीनोंमें होनी चाहिये। अथवा चार महीनों में एक बार ही सही, इसे अवश्य करना चाहिये।

इसके न करने पर प्रायश्चित्त रूप जप करना पड़ता है। ज्ञानी मनुष्य बहुधा प्रमाद कर बैठते हैं। धन जुटानेकी सम्भावनामें भी सोचते सोचते यह नियम टूट जाता है। यह ठीक नहीं। इस नियमके न पालन करनेसे बड़े विघ्न उपस्थित हो जाया करते हैं। जो जानकार व्यक्ति है—वह जानकर नियम न पालन करे अथवा पैसा बचाने की लालच में यदि न करे तो सब यही कहते हैं कि, इसका ज्ञान ही व्यर्थ है। कुछ भी हो, ज्ञानकी (शैवसिद्धान्त) निन्दा नहीं होनी चाहिये। एक स्थान पर यह कहा गया है कि, विज्ञान पाकर भी यदि उसे दूषित करता है, तो वह प्रायश्चित्तका भागी होता है। इस प्रकार यह पवित्रक विधि पूर्ण होती है।

ज्ञानलाभादौ लौकिकोत्सवान्तेऽपि सर्वत्र संविदुल्लासाधिक्यं देवताचक्रसन्निधिः विशेषतो भवति, इति तथाविधाधिक्यपर्यालोचनया तथाविधमेव विशेषमनुयागादौ कुर्यात् ।

ज्ञानलाभ आदि अवसरों पर अथवा लौकिक उत्सवोंके अन्तमें भी सर्वत्र संविद् शक्तिके उल्लासका आधिक्य होता है। (ऐसे अवसरों पर) देवताचक्रकी सन्निधि विशेषरूपसे होती है। इस तरह तथाविध आधिक्यकी पर्यालोचना करने के कारण उसी प्रकारका विशेष कृत्य अनुयाग आदिमें करना चाहिये।

जिस समय किसी शिष्यको या साधकको गुरु द्वारा, शास्त्रद्वारा अथवा स्वतः अभ्यासद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उस समय एक विलक्षण वातावरण बन जाता है। चतुर्दिक् संवित् शक्तिका उल्लास प्रसरित हो जाता है। उल्लसित संवित् शक्तिकी अधिकता होती है मानो प्रकाशका समुद्र ही उमड़ पड़ता है। ऐसे वातावरणमें देवता चक्रकी समीपता सरलतासे प्राप्त हो जाती है। इसीलिये ऐसी समीपताको विशेषसन्निधि कहते हैं।

यह पर्यालोचन कोई ज्ञानवान् ही कर सकता है। वही जान सकता है कि, कैसे संवित् शक्तिका उल्लास यहाँ हुआ है। संवित् की इस अधिकता का उपयोग क्या है ? इतनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्तिसे सम्पन्न तत्त्ववेत्ता गुरु अनुयाग चक्रयाग अथवा मूर्त्तियागके अवसरों पर ऐसी विशेष व्यवस्था कर लेता है, जिससे सारी प्रक्रिया परिष्कृत पुलकित और पावन बन जाती है।

व्याख्याविधिः

सर्वशास्त्रसम्पूर्णं गुरुं व्याख्यार्थम् अभ्यर्थयेत, सोऽपि-स्वशिष्याय परशिष्यायापि वा समुचितसंस्कारोचितं शास्त्रं व्याचक्षीत। अधरशासनस्थायापि करुणावशात् ईश्वरेच्छावैचित्र्योद्भावित शक्तिपात—संभावनाभावितहृदयो व्याचक्षीत-मर्मोपदेशवर्जम्। तत्र निम्नासनस्थितेभ्यः तत्परेभ्यो नियमितवाङ्मनःकायेभ्यो व्याख्या क्रियमाणा फलवती भवति।

सर्वशास्त्र पारङ्गत गुरुसे तत्त्वकी व्याख्याके लिये अभ्यर्थना करनी चाहिये। वह भी अपने तथा दूसरेके शिष्योंके लिये समुचित संस्कार-प्रद उचित शास्त्रकी व्याख्या करे।

जो शिष्य अधरशासनों में स्थित हैं, उन पर भी करुणावश, ईश्वरकी इच्छाकी विचित्रतासे उद्भावित शक्तिपातकी संभावनाका भावनकर हृदयवान् बनकर तत्त्वकी या शास्त्रकी व्याख्या करे। हाँ यह ध्यान रहना चाहिये कि, मर्मका उपदेश ऐसे समय भी न करे।

निम्न आसन पर बैठे उत्तरदायित्त्व निभानेमें तत्पर, वाणी मन और शरीर पर नियन्त्रण रखने वाले शिष्यों या जिज्ञासुओंके समक्ष व्याख्या फलवती होती है।

तत्त्वकी व्याख्याका अधिकार सबको नहीं है। व्याख्याका वही अधिकारी हो सकता है, जो सर्वशास्त्र पारङ्गत हो। सारे शास्त्र उसे हस्तामलकवत् हों। सबका उसको पूरा ज्ञान हो। ऐसे गुरुसे ही यह प्रार्थना करनी चाहिये कि, भगवन् इन अमुक तथ्योंकी व्याख्याकर कृतार्थ करें।

इस प्रार्थनाके बाद ही गुरु अपने शिष्यके लिये अथ च दूसरे गुरुजन से दीक्षित शिष्यके कल्याणके लिये भी शास्त्रकी व्याख्या करे। उसे यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि, वह शिष्य भी समुचित संस्कार सम्पन्न है या नहीं। उसकी योग्यताके अनुकूल ही, उसके स्तरको ध्यान रखकर ही शास्त्र की व्याख्या की जानी चाहिये।

गुरु यह जानते हैं कि, इस विश्वका सारा वैचित्र्य परमेश्वरकी इच्छा पर ही निर्भर करता है। कभी-कभी उसकी इच्छा शक्तिकी स्वातन्त्र्य-शक्तिके द्वारा सामान्यज्ञानसे सम्पन्न साधारण व्यक्तियोंमें भी शक्तिका जागरण हो जाता है—उन पर शक्तिपात हो जाता है। इसी सम्भावनासे भावित करुण गुरुदेव अधर शासनोंमें दीक्षित शिष्योंके कल्याणके लिये भी तत्त्वकी व्याख्या कर देते हैं। उस अवसर पर यह ध्यान रखना चाहिये कि, रहस्यका उद्‌घाटन न हो जाय। ऐसी व्याख्यायें उन्हीं शिष्योंके लिये कल्याणकारिणी सिद्ध होती हैं, जो विनम्र, गुरुसे नीचे आसन पर बैठने वाले, तन, मन और वचनसे नियन्त्रित और समर्पित भाव वाले होते हैं। अर्थात् शिष्यको अत्यन्त सदाचारी होना चाहिये।

प्रथमं गन्धादिलिप्तायां भुवि उल्लिख्य संकल्प्य वा पद्माधारं चतुरस्रं पद्मत्रयं पद्ममध्ये वागीशीं वामदक्षिणयोः गणपतिं गुरू च पूजयेत् । आधारपद्मे व्याख्येय–कल्पदेवताम् । ततः सामान्यार्घपात्रयोगेन चक्रं तर्पयेत् । ततो व्याचक्षीत सूत्रवाक्यपटलग्रन्थम्, पूर्वापराविरुद्धं कुर्वन् तन्त्रावृत्तिप्रसङ्ग-समुच्चय-विकल्पादिशास्त्रन्यायौचित्येन पूर्वं पक्षं सम्यक् घटयित्वा सम्यक् च दूषयन्, साध्यं साधयन्, तात्पर्यवृत्तिं प्रदर्शयन्, पटलान्तं व्याचक्षीत, नाधिकं, तत्रापि वस्त्वन्ते वस्त्वन्ते तर्पणं, पूजनम् इति यावद् व्याख्यासमाप्तिः । ततोऽपि पूजयित्वा विद्यापीठं विसर्ज्य उपलिप्य अगाधे तत् क्षेपयेत् ।

इति व्याख्याविधिः

पहले सुगन्धित द्रव्यसे उपलिप्त चौकोर भूमिमें पद्मके आधारका उल्लेख कर अथवा संकल्पसे ही पद्माधार बनाकर तीन पद्म रखे। बिचले कमलमें वागीश्वरी देवीकी पूजा होनी चाहिये। बाँयें और दाहिने कमलोंमें गणेश और गुरुदेवकी पूजा होनी चाहिये। आधार कमलोंमें गणेश और गुरुदेवकी पूजा होनी चाहिये। आधारकमलमें व्याख्येय कल्प देवताका पूजन करना चाहिये। सामान्य अर्घपात्रके द्वारा चक्रतर्पण करना चाहिये।

इतना कर लेनेपर सूत्र, वाक्य, पटल आदिकी व्याख्या करनी चाहिये। पूर्व और ऊपरमें अविरोध दिखलाते हुए तन्त्र, आवृत्ति, प्रसङ्ग, समुच्चय और विकल्प आदि शास्त्रगत न्यायोंके औचित्यको देखते हुए पूर्वपक्षको पूर्णतया चरितार्थ करते हुए, पुनः उसको अच्छी तरह खण्डित करते हुए, साध्य अर्थकी सिद्धि करते हुए, तात्पर्य वृत्तिका प्रदर्शन करते हुए पटलका निष्कर्षपूर्ण व्याख्यान करना चाहिये। न तो अधिक न कम। वस्तु तत्त्वकी व्याख्याके अन्तमें तर्पण और पूजन। व्याख्याको समाप्ति तक नित्य यही क्रम रहना चाहिये। विद्यापीठकी पूजा और विसर्जन पुनः उस भूमिका उपलेपन और पूजा द्रव्योंका विसर्जन, इसके उपरान्त अगाध जलमें प्रक्षेपण अवश्यकर्त्तव्य हैं।

यह व्याख्याकी विधि है।

यहाँ अन्य सारी बातें सामान्यतया परम्परागत ही हैं। ग्रन्थोंकी व्याख्या होती है। सूत्रोंकी व्याख्या तथा उनके भाष्यका पूर्वापर संयोजन-पूर्वक अध्यापन होता है। पूर्वपक्ष उपस्थापन, उसका खण्डन, उत्तर पक्षका समर्थन, तात्पर्य का सम्यक् स्फोरण, साध्यकी सिद्धिका प्रदर्शन सब कुछ आज भी होता है। आजकल जो नहीं हो रहा है—वह है चौकोर आधार पर तीन पद्मोंको स्थापना, उनमें वागीश्वरी देवी शारदा गणेश और गुरुकी स्थापना, व्याख्येय देवताकी स्थापना और इसका पूजन-अर्चन ! जिस युगमें यह होता रहा होगा, वह श्रद्धा और आस्थाका ही युग रहा होगा। यह विद्यालयोंमें सम्भव नहीं है। व्यक्तिगत रूपसे घर पर शिष्यको पढ़ानेके समय यह किया जा सकता है। इस प्रसङ्गमें १-तन्त्र २-आवृत्ति ३-प्रसङ्ग ४-समुच्चय, और ५-विकल्प इन ५ पारिभाषिक शब्दों पर विचार आवश्यक है। १—देहली दीपन्यायसे दोनों ओर लगनेवाला तर्क तन्त्र कहलाता है। २—भोजन पात्र में है और भोक्ताका हित साधक है-ऐसे सन्दर्भको आवृत्ति कहते हैं। ३-अनिष्टका उपस्थित होना प्रसङ्ग है। जैसे सीताके प्रसङ्गमें मारीच ४—अनेक क्रियाओं और कारकोंका एक स्थान पर आ जाना समुच्चय है। ५—शब्द ज्ञानसे प्रतीत हो पर वस्तु तत्त्वसे रहित हो, वह विकल्प कहलाता है। यहाँ तक व्याख्या विधि का वर्णन है।

अथसमयनिष्कृतिः

यद्यपि तत्त्वज्ञाननिष्ठस्य प्रायश्चित्तादि न किञ्चित् तथापि चर्यामात्रादेव मोक्षभागिनः, तान् अनुग्रहीतुम् आचारवर्त्तनीं दर्शयेत्। अतत्त्वज्ञानी तु चर्यैकायत्तभोगमोक्षः समयोल्लङ्घने कृते प्रायश्चित्तम् अकुर्वन् वर्षशतं क्रव्यादो भवतीति प्रायश्चित्त-विधिःवक्तव्यः, तत्र स्त्रीवधे प्रायश्चित्तं नास्ति अन्यत्र तु बला-बलं ज्ञात्वा अखडां भगवतीं मालिनीम् एकवारात् प्रभृति त्रिलक्षान्तम् आवर्त्तयेत् यावत् शङ्का विच्युतिः भवति, तदन्ते विशेषपूजा, तत्रापि चक्रयागः, स हि सर्वत्र शेषभूतः। इति समयनिष्कृतिविधिः !

यद्यपि तत्त्वज्ञान निष्ठ व्यक्तिको प्रायश्चित्त आदि कोई विधान नहीं है तथापि चर्या मात्रके आधारपर जो मोक्षके इच्छुक हैं, उनको अनुगृहीत करनेके लिये आचार व्यवहार दिखाना चाहिये। जो अतत्त्वज्ञानी हैं और चर्या मात्रसे भोग और मोक्ष दोनोंका मिलना सम्भव मानते हैं, उन्हें समय (नियम) के उल्लङ्घन पर प्रायश्चितकरना ही चाहिये। न करने पर सौ वर्ष क्रव्याद होना पड़ता है। यह प्रायश्चित विधि उसे बतानी चाहिये।

स्त्रीवधमें प्रायश्चित नहीं है। दूसरी जगह बलाबलका विचार करना चाहिये और जानकर अखण्ड भगवती मालिनीकी एक बार से लेकर तीनलाखतक आवृत्ति होनी चाहिये, जब तक संशय दूर न हो जाये। इसके अन्तमें विशेषपूजा उसमें भी चक्रयाग। सर्वत्र शेषभूत है। यह समय निष्कृतिकी विधि है।

तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिये किसी प्रकारके प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं होती। उसकी ज्ञानकी अग्निसे सारी दोषराशि दग्ध हो जाती है। सर्वप्रथम-तत्त्वज्ञानी की यह स्थिति स्पष्टतया सर्वविदित है। द्वितीय श्रेणीके लोग चर्याको प्रधान मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि, आचार जितना ऊँचा होगा मोक्ष उतनी ही सरल होगा। गुरु ऐसे आचार शील व्यक्तिके ऊपर कृपा करता है, चर्याका प्रदर्शन करता है और भविष्यत् मार्गका निर्देश करता है।

तीसरी श्रेणीके वे लोग हैं, जो तात्त्विक ज्ञानसे अपरचित हैं। उनके अनुसार भोग मोक्ष सबकुछ व्यवहारके ही अधीन है—उनको प्रायश्चित करना चाहिये। इनलोगों द्वारा प्रायः दीक्ष्यके लिये आचरणीय नियमके उल्लंघनकी निष्कृति प्रायश्चित्तसे ही होती है। प्रायश्चित न करने पर सौ वर्ष क्रव्याद होना पड़ता है। यह किसीका शाप नहीं है। समयसे चूकनेपर मनुष्य कुसंस्कारोंसे जकड़ जाता है। जैसे मांस भोजी क्रूर क्रव्याद उच्छृङ्खल और आचारहीन होकर दुष्परिणाम भोगता है, उसी तरह इसे भी गिरना पड़ सकता है—यह बात उसे अच्छी तरह समझा देना चाहिये।

स्त्रीकेवधमें (या स्त्रीद्वारावध में) प्रायश्चित नहीं होता है। प्रत्यक्षतः यह मत नितान्त अनुचित है। सिद्धान्ततः तो न कोई मारता है न कोई मरता है। किन्तु प्रायश्चित्तके प्रकरणमें यह लिखना कि, औरतको मार

डालनेमें प्रायश्चित नहीं होता असंगत है। स्त्रीवध घोर पाप है। इस शास्त्रमें जहाँ स्त्रियाँ देवी रूप मानी गयीं हैं, ऐसा क्यों लिखा गया—यह विचारणीय है। जो हो हमेशा पाप बड़ा है या छोटा, उसके अनुसार प्रायश्चित निर्धारित है। बड़े पापमें भगवती मालिनीकी तीन लाख तक आवृत्ति होती है—इससे पापका निराकरण होता है। छोटे प्रायश्चित्तके रूपमें तो एक बार पाठसे भी काम चल जाता है। संशय रहित होना अर्थात् मनका शुद्ध और शक से रहित होना आवश्यक है। इसके अन्तमें विशेषपूजा होनी चाहिये, चक्रयाग होना चाहिये, जो सबके बाद किया जाता है। यह समय निष्कृति विधि है।

अथ गुरुपूजाविधिः

सर्वयागान्तेषु उपसंहृते यागे अपरेद्युः गुरुपूजां कुर्यात्। पूर्वं हि स विध्यङ्गतया तोषितो न तु प्राधान्येन, इति तां प्राधान्येन अकुर्वन् अधिकारबन्धेन बद्धो भवति इति तां सर्वथा चरेत्। तत्र स्वस्तिकं मण्डलं कृत्वा तत्र सौवर्णं पीठं दत्त्वा, तत्र, समस्तमध्वानं पूजयित्वा तत्पीठं तेन अधिष्ठाप्य तस्मै पूजां कृत्वा तर्पणं, भोजनं, दक्षिणाम्, आत्मानमिति निवेद्य नैवेद्योच्छिष्टं प्राश्य वन्दित्वा स्वयं प्राश्य चक्रपूजां कुर्यात्। इति गुरुपूजाविधिः।

सभी यागोंके अन्तमें उपसंहार यागके रूपमें दूसरे दिन गुरुदेव की पूजा करनी चाहिये। सर्व प्रथम तो विधिके अंगरूपमें उनका समादर किया गया था, जिससे वे तुष्ट थे ही पर प्रधानतः उनकी पूजा नहीं हुई थी। दूसरे दिन प्रधानतः उन्हींकी पूजा होनी चाहिये। यह न करने पर शिष्य अधिकार रूपी बन्धनसे स्वयंको बँधा अनुभव करता है। इसलिये गुरुपूजा आवश्यक है। सर्वथा इसका आचरण करना चाहिये।

उसकीविधिका संक्षिप्त संकेत करते हैं—१-स्वस्तिक मण्डल निर्माण २-सुवर्ण पीठ प्रदान ३-छः अध्वापूजन ४-उसी पीठ पर गुरुदेवका अधिष्ठापन, ५-पूजन ६-तर्पण ७-भोजन और ८-दक्षिणा अन्तमें शिष्य द्वारा ९-आत्मनिवेदन, उनके द्वारा छोड़े भोजनका स्वयं प्राशन और ५-चक्रपूजन। यह गुरुपूजाकी पद्धति है।

गुरु पूजाका प्राधान्य होना चाहिये। यज्ञकी प्रक्रियाके क्रममें गौण रूपसे नहीं। इसीलिये सभी यज्ञोंके अन्तमें दूसरे दिन प्रधान रूपसे गुरुपूजा करनी चाहिये। ऐसा न करना अपने बनाये नियमोंको स्वयं तोड़नेके समान है। नियम अधिकारके बन्धनके समान होते हैं। कानून होते हैं। इनका पालन कर कानूनमें बँध जाना अथवा कानूनी दाँवपेचमें फँस जानेके समान है। इसलिये परब्रह्म रूप गुरुकी प्रधानतया पूजा होनी ही चाहिये।

पूजाके विधानका निर्देश और उसका क्रम भी यहाँ बताया गया है। सबसे पहले स्वस्तिक मण्डल बनाना चाहिये। उसमें सुवर्ण पीठ रखकर उसपर सभी अध्वाओंका पूजन कर लेना चाहिये। उसी पीठपर गुरुदेवको विठलाकर उनकी पूजा करनी चाहिये। यह नौ प्रकारकी होती है। इसका अन्तिम रूप आत्मनिवेदनका है। इसके बाद गुरुदेवके भोजनके बचे हुए प्रसाद प्राशनकी प्रार्थना, वन्दन और ग्रहण करना चाहिये। तदन्तर चक्रपूजाकी जाती है। यह गुरुपूजाको विधि है।

नित्यं नैमित्तिकं कर्म कुर्वञ्शाठ्यविवर्जितः।
विनापि ज्ञानयोगाभ्यां चर्यामात्रेण मुच्यते॥
सिवणाहु सच्छन्दु, तत्त्वकोणबिअप्प इच्छ।
चरि आमित्ति णजिणजण हुकिअ भवरोअ चिइच्छ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे शेषवर्त्तन प्रकाशनं नाम विंशमाह्निकम् ॥२०॥

नैमित्तिक या नित्य हो कर्म रहित-कार्पण्य।
विना ज्ञान या योगके चर्या मुक्ति वरेण्य॥

संस्कृत छाया—

शिवनाथः स्वच्छन्दः तत्त्वको नव्याात्मा स्वेच्छः।
चर्यामृतेन येन ज्ञानानुभूतिकृतः भवरोगस्य च विच्छेदाय॥

हिन्दी—

विश्वनाथ स्वच्छन्द तत्त्वमय नितनव चिन्मय शक्त।
चर्याके अमृतसे उसका अनुभव होता है सुव्यक्त॥
चाह रहा है शिवमय होना जो साधक चिन्तक या भक्त।
करे दूर भवरोग स्वयम् वह बन चिन्मय चेतन अनुरक्त॥

नित्य या नैमित्तिक कोई कार्य हो, उसे कृपणता-रहित उदार भावसे सन्पन्न करना चाहिये। चर्याका जीवनमें बड़ा महत्त्व है। जो साधक ज्ञानवान् नहीं होता अथवा योग साधन नहीं जानता—चर्याके द्वारा भी वह मोक्षका अधिकारी हो जाता है।

शिव विश्वनाथ हैं, स्वच्छन्द हैं, तत्त्वमय हैं, विश्वात्मा हैं। स्वेच्छा से ही विश्वका निर्माण करते हैं। चर्या रूप अमर व्यवहारसे जो उसे अनुभूत कर लेता है, उसका यह भवरोग नष्ट हो जाता है। भव रोगके नष्ट होने पर ही उसकी प्राप्ति सम्भव है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा विरचित तंत्रसारके शेषवर्तन-प्रकाशन नामक बीसवें आह्निक का डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा विरचित नीर-क्षीर-विवेक महाभाष्य सम्पूर्ण शुभं भूयात् ॥२०॥

एकविंशमाह्निकम्

एवं समस्तं नैमित्तिकं कर्म निरूपितम् । अधुना अस्यैव आगमस्य प्रामाण्यम् उच्यते । तत्र संविन्मात्रमये विश्वस्मिन् संविदि च विमर्शात्मिकायां, विमर्शस्य च शब्दनात्मिकतायां सिद्धायां, सकलजगन्निष्ठवस्तुनः तद्गतस्य च कर्मफलसन्बन्ध-वैचित्र्यस्य यत् विमर्शनं तदेव शास्त्रम् इति परमेश्वरस्वभावाभिन्न एव समस्तः शास्त्रसंदर्भो वस्तुतः एकफलप्रापकः एकाधिकार्युद्देशेनैव, तत्र तु परमेश्वरनियतिशक्तिमहिम्नैव भागे रूढिः लोकानाम् इति ।

इस प्रकार सारे नित्य और नैमित्तिक कर्म निरूपित हुए। अब इसी का आगम-प्रामाण्य कहा जा रहा है। इस प्रसङ्गमें संविन्मात्रमय विश्वमें और स्वयं संवित्में विमर्शात्मकताकी और विमर्शकी शब्दात्मकताकी सिद्धि हो जाने पर सारे संसारमें निष्ठ वस्तु तथा वस्तुगत कर्म-फल वैचित्र्यका जो विमर्श है—वही शास्त्र है। इस प्रकार परमेश्वरके स्वभावसे अभिन्न ही यह सारा शास्त्रसन्दर्भ वस्तुतः एक फलप्रदान करने वाला है। एक अधिकारीके उद्देश्यसे ही। परमेश्वरकी नियति शक्तिके माहात्म्यसे ही अंश-अंशमें विभिन्न रूढ़ि लोकमें व्याप्त है।

पीछेके प्रकरणमें नित्य और नैमित्तिक कार्यों का विश्लेषण किया गया है। यह विश्लेषण जिस शास्त्र या आगमिक सिद्धान्तोंके अनुसार हुआ है अथवा उनका निरूपण जिस आगम और विमर्शके आधार पर हुआ है, उसके प्रामाण्यका विश्लेषण भी आवश्यक है। शैवागमके इस शास्त्रके कुछ मुख्य सिद्धान्त हैं। सर्वप्रथम इसमें यह माना जाता है कि १-सारा विश्व संवित् तत्त्वमय है। २-इस विश्वमें और संविद्में भी विमर्श नामक शक्ति है—विमर्शात्मकता है। ३-विमर्शमें शब्दन क्रिया विद्यमान रहती है।

४-शब्दन व्यापार परावागात्मक होता है। ५-सारे विश्वमें दृश्यमान वस्तुसत्ता भी विमर्शव्यापारसे ओत प्रोत है। ६-वस्तु गत कर्मफलसे सन्बन्धित सारी विचित्रता भी विमर्शमय है।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि, संवित्, विश्व, विमर्श, वस्तु, वस्तुनिष्ठ कर्मफल की विचित्रताके सारे–आयाम विशेषतः जहाँ विमृष्ट किये जाते हैं—वहीं शास्त्र है। यह बात भी स्वतः सिद्ध हो जाती है कि, शास्त्रका सारा सन्दर्भ परमेश्वरके 'स्व' भावसे बिलकुल अभिन्न है। संविद्विमर्श परमेश्वरकी शक्ति है। विमर्शन व्यापारसे वस्तु रूप मेय जगत्की उत्पत्ति होती है। अतः जगत् भी, मेय वेद्य ज्ञेय आदि माता, वेदिता और ज्ञाताके अतिरिक्त कुछ नहीं है। माता, वेदिता और ज्ञाता सब परमेश्वर ही है। इसलिये इस आगम और परमेश्वरमें अभेद सम्बन्ध है। इस शास्त्रका सारा सन्दर्भ ही समस्त पुरुषार्थोंका साधक है। इसका उद्देश्य ही शिव प्रतिपत्ति है। एकमात्र वही अधिकारी है, इस शास्त्र का, जो परम शिव तत्त्वकी उपलब्धिकी लालसासे उल्लसित हो। यों तो शास्त्र अनेक हैं। उनमें भी लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, अंश अंश में प्रवृत्ति परिलक्षित होती है पर यह ध्यान देने की बात है कि, इसमें भी परमेश्वर की नियति शक्ति ही कारण है।

केचित् मायोचितभेदपरामर्शात्मनि वेदागमादिशास्त्रे रूढाः, अन्ये तथाविध एव मोक्षाभिमानेन सांख्यवैष्णवशास्त्रादौ, परे तु विविक्त शिव-स्वभावामर्शनसारे शैवसिद्धान्तादौ, अन्ये सर्वमय-परमेश्वरतामर्शनसारे मतङ्गादिशास्त्रे, केचित्तु विरलविरलाः समस्तावच्छेदबन्ध्यस्वातन्त्र्यानन्द–परमार्थसंविन्मय–परमेश्वर-स्वरूपामर्शनात्मनि श्रीत्रिकशास्त्रक्रमे, केचित्तु पूर्वपूर्वत्यागक्रमेण लङ्घनेन वा इत्येवमेकफलसिद्धिः एकस्मादेवागमात्। भेदवादे-ऽपि समस्तागमानाम् एकेश्वरकार्यत्वेऽपि प्रामाण्यं तावत् अव–स्थितम्, प्रामाण्य निबन्धनस्य एकदेशसंवादस्य अविगीततताया अनिदन्ताप्रवृत्तेश्च तुल्यत्वात् परस्परबाधो विषयभेदात् अकिञ्चित्करः।

कुछ विद्वान् माया योग्य भेद परामर्शरूप वेद और आगम आदि शास्त्रोंमें रूढ़ होते हैं। कुछ दूसरे लोग उसी प्रकार (भेद परामर्श) वाले मोक्ष आदिके अभिमानसे सांख्य और वैष्णव आदि (शास्त्रोंमें रूढ़ होते) हैं। अन्य सिद्धान्तवादी विश्वातीत शिवके आमर्शको प्रमुखता देनेवाले शैव सिद्धान्तमें आस्था रखते हैं। कुछ दूसरे विचारक सर्वमय परमेश्वरके आमर्शको प्राधान्य देने वाले मतङ्ग आदि शास्त्रमें रूढ़ हैं। एक सिद्धान्तवादी सर्वावच्छेदशून्य स्वातन्त्र्यशक्तिसम्पन्न आनन्दपरमार्थ संविन्मय परमेश्वर स्वरूपके आमर्शको मानने वाले त्रिक शास्त्रक्रममें और कुछ लोग पूर्व पूर्वका परित्याग करते हुए अथवा एक तरहसे लाँघते हुए की तरह अपनेको रूढ करते हैं। इस प्रकार एक आगमसे एक उद्देश्यकी सिद्धि हो जाती है।

समस्त आगमोंके भेदवादका भी एकेश्वरकार्यत्वमें ही प्रामाण्य है। प्रामाण्यनिबन्धन एकदेशसंवाद अविगीत होता है तथा इदन्ताके विरुद्ध अनिदन्तामें प्रवृत्ति होती है। ये दोनों बातें एक तरहसे तुल्य हैं। विषय-भेदसे (दृष्ट) परस्पर बाध अकिंचित्कर (होता है)[1]।

स्वाध्यायमें संलग्न, अध्येता, विचारक, मनीषी और जीवनमें श्रेयस्-की आकांक्षा रखनेवाले लोग अपनी अपनी प्रवृत्ति और मतिके अनुसार विभिन्नमतवादोंमें विश्वास करते हैं। कुछ अपने स्तरके अनुसार और कुछ विषय भेदकी भ्रान्तिके अनुसार अपना पथ चुनते हैं और उसीमें आरूढ रह कर आत्मिक तृप्तिका अनुभव करते हैं। उनमें से कुछ सिद्धान्तों का और उनमें रूढ मतवादियोंका विवरण यहाँ उपस्थित किया गया है। यह संकेत भी कर दिया गया है कि, ये सारी प्रवृत्तियाँ, ये सारी रूढ़ियाँ और ये सारे स्तर परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य शक्तिके कारण ही दृष्टि गोचर होते हैं।

मतवादोंमें रूढियोंका क्रम इस प्रकार है[2]—

१—वेदों और विभिन्न आगमोंके अनुसार भेदका परामर्श मायाके कारण होता है। इस प्रकार मायामें भेदकर्तृत्व जान लिया गया है। 'अर्थात् ईश्वर

---

१. तं० ३५।३६-४४   २. तं ३५।२६-२७

एक है' इस अद्वैत स्थितिमें द्वैतका दर्शन मायाके माध्यमसे होता है। ये शास्त्र मायोचित भेद परामर्शक माने जाते हैं। जिनके मनमें यह बात बैठ जाती है' वे इसी मतवादमें आरूढ हो जाते हैं।

२–सांख्य और वैष्णव मतोंकी प्रस्थापना करने वाले शास्त्रोंके अनुसार मोक्षकी अलग अलग स्थिति है। अलग अलग मान्यता है। कोई सायुज्य, कोई सारूप्य, कोई प्रकृतिविजय और कोई पुरुषत्वोपलब्धिको ही मोक्ष मानकर अपने सिद्धान्तकी स्थापना करता है। कुछ साधक या भक्त या विचारक इस स्थितिमें ही तृप्ति का अनुभव करते हैं। उनकी आस्था वहीं टिक जाती है।

३–कुछ लोगोंके विचार और भी विलक्षण होते हैं। विविक्त (असम्पृक्त, ऐकात्म्य-प्रतीक, परमपावन और परम विवेकमय) परमशिव, जिसका स्वातन्त्र्य ही 'स्व' भाव है, उसके आमर्श वाले शैव सिद्धान्तकी ओर ही उनकी रुझान होती है।

४-शिव सर्वमय है। वही परमेश्वर है। सर्वमयता ही उसकी परमेश्वरता है, इस प्रकारका आमर्श, मतंग या मत आदि शास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य है। ऐसे शास्त्रोंकी विचार धारासे प्रभावित लोग उसीमें विश्वास करते हैं।

५- कुछ लोग त्रिकदर्शनमें आस्था रखते हैं[१]। इस दर्शनमें समस्त अवच्छेद (भेद) से रहित, स्वातन्त्र्य और आनन्द ही परमशिवके चरम-परम गुण हैं तथा संविद् शक्ति सम्पन्न परमेश्वरका आमर्श ही प्रतिपाद्य है। इस सिद्धान्तमें आस्था रखनेवालोंकी संख्या बहुत कम है। फिर भी त्रिक शास्त्र समस्त शास्त्रोंका सिरमौर है। क्रमशः विचार-विमर्श और मनीषा-मन्थनके उपरान्त यहाँ तक व्यक्ति पहुँच पाता है।

६-कुछ विचारकोंकी प्रवृत्ति और भी विचित्र होती है। वे एक मतवादसे दूसरे मतवादोंकी दौड़ लगाते हैं। कभी एक को मानते हैं, कभी उसे छोड़ दूसरेका समर्थन करने लगते हैं। कभी तो नियमोंका उल्लङ्घन भी करते रहते हैं। एक प्रकारकी अस्थिर वृत्ति या मधुकरवृत्तिके ये आनन्द वादी लोग एक नयी आस्थाको जन्म देते हैं। कभी विचारोंका आक्रमण और कभी अनाक्रमण।

१.तं.३५।३२-३६

७ निष्कर्षतः किसी भी एक आगमसे किसी एक फलकी उपलब्धि होती है—यह निश्चित है। नैयायिक लोग परमाणुवादी माने जाते हैं। ये भेदवादी परम्परामें आते हैं। यद्यपि भेदवाद यहाँ स्वीकृत है किन्तु यह भी तथ्य है कि, सभी आगमोंका प्रामाण्य एकमात्र ईश्वरके कर्तृत्वके आधार पर ही निर्भर है। ईश्वर ही एकमात्र कारण हैं। सारा 'इदम्' का विस्तार कार्य है। कार्य कारणमें रहता है। इसलिये समस्त कार्य ईश्वर द्वारा हो प्रमाण और प्रमेय रूपसे प्रमाताका बोध कराते हैं।

किसी एक देशमें, किसी एक अंशमें किसी एक वस्तुमें जब कोई मत स्थापित करना होता है, तो वहाँ प्रमाणकी आवश्यकता होती है। क्योंकि सारी बातें प्रामाण्यसे ही निबन्धित होती हैं। प्रामाण्यके आधार पर ही उसमें अविगीतता, निर्दोषिता या अविरोध भावना सम्पन्न होती है। इदन्ता-के आधार पर ही अनिदन्ताकी प्रवृत्तिका जागरण होता है। 'इदं' का स्वरूप निर्धारित है। प्रतीत होने लगता है कि, दीख पड़ने वाले इस देश और नामसे विभूषित वस्तुका यह रूप नहीं है-कुछ दूसरा ही है। ऐसी अवस्थामें सारे भेद (विषय गत) और उनसे प्रभावित बाध व्यर्थ हो जाते हैं।

ब्रह्महनन—तन्निषेधवत् संस्कारभेदः संस्कारातिशयः तदभावे क्वचित् अनधिकृतत्वम् इति समानम् आश्रम-भेदवत् फलोत्कर्षाच्च उत्कर्षः, तत्रैव उपनिषद्भागवत्, भिन्नकर्तृत्वेऽपि सर्वसर्वज्ञ-कृतत्वमत्र सम्भाव्यते, तदुक्ततदतिरिक्त-युक्तार्थयोगात्, नित्यत्वेऽपि आगमानां प्रसिद्धिः तावत् अवश्योपगम्या, अन्वयव्यतिरेकाध्यक्षादीनां तत्प्रामाण्यस्य तन्मूलत्वात्। 'सत्यं रजतं पश्यामि' इति हि सौवर्णिकादिपरप्रसिद्ध्यैव, प्रसिद्धिरेवागमः। सा काचित् दृष्टफला 'बुभुक्षितो भुङ्क्ते' इति बालस्य प्रसिद्धित एव तत्र तत्र प्रवृत्तिः, नान्वयव्यतिरेकाभ्यां तदा तयोः अभावात्।

ब्रह्महत्या और उसके निषेधकी तरह संस्कार भेद (होता है)। संस्करातिशय भी (होता है) संस्कारोंमें अतिशयके अभावमें अनधि-कृतत्व (होता है)। आश्रम भेदकी तरह यहाँ समानता है। फलोत्कर्षसे

उत्कर्ष (स्वाभाविक है। वहीं उपनिषद्भागवत् (भेद है) भिन्नकर्त्तृत्वमें भी सर्वमय सर्वज्ञका कर्त्तृत्व ही सम्भावित है। तदुक्त और तदतिरिक्त (दोनों प्रकारके कथनों) के योगके कारण (वही एककर्त्ता सिद्ध है)।

नित्य होने पर भी आगमोंकी प्रसिद्धि तो अवश्य ही स्वीकरणीय है। अन्वय, व्यतिरेक और प्रत्यक्ष सबका प्रामाण्य प्रसिद्धि मूलक ही है। 'सत्यतः रजत ही देखता हूँ' यह उक्ति पारखी जौहरीके प्रामाण्यके (ऊपर ही निर्भर है)। प्रसिद्धि ही आगम है। प्रसिद्धि कहीं दृष्टफल वाली होती है)। 'भूखा व्यक्ति ही भोजन करता है, (क्योंकि भोजन करनेकी प्रवृत्ति भूखसे होती है) इस तरह कहीं भी अबोधकी या बालककी या रोगीकी प्रसिद्धि (प्रामाण्य) के आधार पर ही होती है। अन्वय और व्यतिरेक युक्तिके आधार पर नहीं होती क्योंकि वहाँ उस समय इन दोनोंका (अन्वय-व्यतिरेक भावका) अभाव ही रहता है[1]।

एक व्यक्ति संस्कार हीन है। वह ब्रह्महत्याके समान जघन्य अपराध कर डालता है। इस स्थितिमें संस्कार भेद स्पष्ट है। दुष्ट संस्कार-के कारण वह हत्या करता है। संस्कारमें अतिशय अर्थात् उत्कर्षकी स्थितिमें ही ब्रह्महत्या जैसे पापोंका निषेध संभव है। संस्कारोंका अपकर्ष और उत्कर्ष समाजको प्रभावित करता है। यदि संस्कारोंमें उत्कर्ष न हो, तो अधिकारपूर्वक कोई कार्य नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार भेदवादमें एक प्रकारकी समानता दृष्टिगोचर होती है। चाहे वह शास्त्रीय भेद हो, विचार भेद हो, सामाजिक भेद हो, सर्वत्र अपकर्ष और उत्कर्षकी स्थिति समान है।

एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रमसे गृहस्थ आश्रममें, उससे भी वानप्रस्थमें और उससे भी आगे संन्यास आश्रममें प्रवेश करता है। यहाँ भेद भी है। फलका अपकर्ष और उत्कर्ष भी समान रूपसे दृष्टिगोचर हो रहा है। उपनिषद्का उदाहरण भी दिया जा सकता है। वेदोंकी त्रैगुण्यविषयता का उद्घोष स्वयं भगवान् कृष्ण करते हैं किन्तु उपनिषद् विद्याका जो दर्शन पक्ष है—वह कर्मकाण्डसे बहुत ऊपर है। यहाँ भी फलोत्कर्ष जन्य उच्चता स्पष्ट है।

---

१. तं० ३५।२-१८

जहाँ कर्त्तृत्वमें भेद है, वहाँ अन्ततोगत्वा एककर्त्तृक अभेद भी दृष्टिगत होता है। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाता है। कुम्भकारमें भी कर्त्ता छिपा बैठा है। सभी पदार्थ अन्ततोगत्वा एकही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार गहराईसे विचार करने पर भेदमें भी अभेद मुस्कराता हुआ पदार्थको चमत्कारपूर्ण कर देता है।

कर्त्ताके भिन्न होनेसे तथा फलके भिन्न होनेसे वास्तविक कर्त्तृत्वमें कोई अन्तर नहीं आता। क्षिति, जल, पावक, गगन समीर सभी कार्य हैं। इनका निर्माता कौन है ? शास्त्रीय दृष्टिसे और मतवादोंकी दृष्टिसे अनेक उत्तर हो सकते हैं किन्तु अन्ततः 'सर्वज्ञपूर्व' का सिद्धान्त मानना ही पड़ता है। भेदवाद व्यवहारके अनुकूल है। सभी लोग भोग, अपवर्ग अथवा इनके कारणोंकी खोजमें और इनके उपयोगकी अंशांशिकतामें देश कुल आदि भेद व्यवहार में आनन्द ले रहे है[1]। बचपनसे लेकर जीवनपर्यन्त व्यवहार भूमिपर विचरण करनेवाले सन्त इसी लिये सर्वोत्कर्ष सम्पन्न शैव (त्रिक) दर्शनरूप आदि शास्त्रका अनुगमन करते हैं। शिवशास्त्रोंमें जिन सिद्धान्तोंकी व्याख्या है, उनके अतिरिक्त भी स्वतन्त्र विचार व्यक्त किये जाते हैं। पर इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। सत्य अपनी जगह स्पष्ट है। यह भी स्पष्ट है कि, सैकड़ों शास्त्रोंकी अपनी प्रसिद्धि और प्रामाणिकता है। इनके अलग-अलग कर्त्ता हैं, इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यह शाश्वत रूपसे चली आने वाली परम्परा है। इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

जहाँ तक अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाणोंका[2] प्रश्न है—सबका प्रामाण्य प्रसिद्धिमूलक ही है। चाहे हम अन्वयव्याप्तिसे उसे समझें या व्यतिरेक वृत्तिसे समझें; सर्वत्र प्रसिद्धिके अनुसार ही अभ्युपगम किया जाता है। धरा को धरा मानकर ही व्यवहार चलता है, शिव मानकर नहीं। पर पार्थिव पूजनमें मृत्तिका लिङ्ग ही साक्षात् शिव हो जाता है। यह प्रसिद्धिका चमत्कार है।

कोई जब यह कहता है कि, 'सचमुच मैं चाँदी ही देख रहा हूँ, तो वहाँ उसके रजतदर्शनमें उसकी प्रामाणिकता बिलकुल नहीं। जौहरी रत्नका पारखी होता है। रत्नके पहचाननेमें वह प्रमाण है। उसमें ही

१. तं० ३५।१५ २. ३५।१८

प्रामाण्य है। उसीकी बात मानकर कोई रत्न खरीदता है। इसी तरह चाँदी और गिलटकी परख सौर्वणिकमें होती है। उसके कथनानुसार ही रजतकी सत्यता प्रामाणिक होती है।

इससे सिद्ध होता है कि, प्रसिद्धि ही आगम है। कई चमकीले सफेद पदार्थोंकी परख करते समय किसी समर्थ प्रमाताने यह निर्धारित कर दिया कि, इस प्रकारके विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न पदार्थ 'रजत' संज्ञासे विभूषित किये जा सकते हैं। यही प्रसिद्धि आगम बन गयी। यहाँ भी परतः प्रामाण्य ही माना जायेगा, स्वर्णकार ही इसके लिये प्रमाण है। यही बात 'भूखा व्यक्ति भोजन करता है' इस उदाहरण पर भी चरितार्थ होती है। अन्तर इतना ही है कि, यहाँ प्रसिद्धि दृष्टफला है। भूखा भोजन करता है-यह तो ठीक है पर बालक तो भोजन देखते ही मचल पड़ता है। अतः भोजन और भूखमें अनुमानकी गुंजाइश नहीं रहती है। बालककी प्रवृत्ति ही दृष्टिफला है। वह भूखा नहीं है। देखा-भोजन परोसा जा रहा है और वह तैयार। यहाँ यह नियम या अनुमान कि, भूखा ही भोजन करता है—असंगत होगा। यदि बालकको यह पता लग जाये कि, यह पदार्थ मालपुआ है—तो वह अन्वय-व्यतिरेकी सिद्धान्तके चक्करमें नहीं पड़ेगा। अवश्य खायेगा। इसलिये ऐसे स्थलोंमें प्रसिद्धिको ही आधार माना जा सकता है। अन्वय व्यतिरेकको नहीं क्योंकि वहाँ अन्वय-व्यतिरेककी चरितार्थता ही नहीं है बल्कि दोनोंका अभाव है।

यौवनावस्थायां तद्भावोऽपि अकिंचित्करः, प्रसिद्धिं तु मूलीकृत्य सोऽस्तु कस्मैचित् कार्याय, काचित् शिवसमानत्वफलदा, काचित् ऐक्य पर्यवसायिनी। सा च प्रत्येकम् अनेकधा। इत्येवं बहुतरप्रसिद्धिपूर्णे जगति यो यादृशो भविष्यन् स तादृशीमेव प्रसिद्धिं बलादेव हृदयपर्यवसायिनीम् अभिमन्यते—इति रिक्तस्य जन्तोः अतिरिक्ता वाचो युक्तिः। तासां कांचन प्रसिद्धिं प्रमाणीकुर्वता अभ्युपगन्तव्यमेव आगम प्रामाण्यम्, इति स आगम आश्रयणीयो यत्र उत्कृष्टं फलम् इत्यलमन्येन[1]।

---

१. तं० १६/२४, ३०–४१।

युवावस्थामें अन्वयादि अनुमानकी स्थितिका रहना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। प्रसिद्धिके आधार पर किसी कार्यमें उसकी उपयोगिता हो भी सकती है। प्रसिद्धियाँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। कुछ तो शिव-समानत्व रूप फल देने वाली हैं। कुछ ऐक्यमें पर्यवसान करने वाली हैं। ये भेद भी अनेक प्रभेद वाले है।

इस प्रकार बहुत बहुत प्रसिद्धियोंसे परिपूर्ण जगत्में जो जैसा होना चाहेगा, वह उसी प्रकारकी प्रसिद्धिको स्वभावतः आग्रहपूर्वक हृदय पर्यवसायिनी मान लेता है। यह रिक्त जन्तु की अतिरिक्त वाचोयुक्ति है। इन प्रसिद्धियोंमें से किसी एक प्रसिद्धिको प्रमाणित करने वालेके द्वारा आगम प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ता है। (उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध है कि) वही आगम आश्रयणीय है, जिससे उत्कृष्ट फलकी प्राप्ति होती है। किसी अन्यकी समालोचनासे अलम्।

युवावस्थामें यदि कोई भोजन कर रहा हो, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि, इसे भूख लगी है किन्तु अनुमानका फल क्या है ? एक तरहसे यह व्यर्थ ही है। अन्वय-व्यतिरेककी चरितार्थता भी मूलतः प्रसिद्धि पर ही आधारित है। किसी कार्यको सिद्धि-उपसिद्धिके लिये इनका उपयोग हो तो अच्छा ही है।

प्रसिद्धियोंकी अनेक विधायें होती हैं। दृष्टफला प्रसिद्धिकी चर्चाकी गयी है। कुछ अदृष्टफला भी होती हैं। जैसे जड़भरतका वैराग्य, विदेह भाव या परमहंस वृत्ति ! यहाँ फलवत्ताका कोई स्थान नहीं। शिव समान बन जाना भी एक फल है। इस तरह कोई प्रसिद्धि ऐसा फल भी देती है। कोई प्रसिद्धि शिवसे ऐक्यकी सिद्धि कर देती है। यह प्रसिद्धियोंकी विशेषता ही है। इनके प्रत्येकके अनेक अन्य भेद हो सकते हैं।

यह सारा जगत् ही प्रसिद्धियोंसे परिपूर्ण है। जैसे साहित्य आदि शास्त्रोंमें हंसका नीर-क्षीर-विवेक, चक्रवाकका रात्रि वियोग। इसी तरह सभी शास्त्रों या आगमोंमें प्रसिद्धियोंका वर्णन है। अपनी रुचिके अनुसार लोग उन्हें अपनाते हैं। जो जैसा फल देता है—उसी फलके अनुसार लोग उधर प्रवृत्त होते हैं। इस प्रकार त्रिकका सर्वोपरि महत्त्व सिद्ध है। किन्हीं अन्य शास्त्रोंकी चर्चासे अब विराम लेना ही श्रेयस्कर है।

संवित्प्रकाशपरमार्थतया यथैव
भात्यामृशत्यपि तथेति विवेचयन्तः ।
सन्तः समस्तमयचित्प्रतिभाविमर्श—
सारं समाश्रयत शास्त्रमनुत्तरात्म ॥

संवित् चित्प्रकाशमय निश्चित करती यथा प्रकाश विमर्श
साधक उसी तत्त्वका चिन्तन करते अनुसन्धान सहर्ष ।
संवित्-समचैतन्य विमर्शक शास्त्र अनुत्तर ही निर्दोष
इसका ही आश्रय लो, करते सदा मनीषी जन उद्घोष ॥

संवित् प्रकाश-परमार्थतया स्वयं प्रकाशका प्रसार करती है तथा सर्व-विमर्श करती है, उसीका चिन्तन सत् पुरुष करते हैं । 'ऐसा करते हुए सर्वमय विश्वात्मा चिन्मयके प्रतिभा विमर्शका रहस्योद्घाटन करनेवाले अनुत्तरशास्त्रका ही आश्रय ग्रहण करें ।

विषय और आह्निकका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार अपनी अनुभूतियोंका अमृत उड़ेल रहे हैं। उनका कहना है कि, संवित् शक्ति सर्वोत्कृष्ट शक्ति तत्त्व है। वह प्रकाश परमार्थमयी है । अतएव (निरन्तरं भाति) अर्थात् हमेशा प्रकाशका प्रसार करती है। प्रकाशका सबसे बड़ा धर्म है—विमर्श । चूंकि वह प्रकाशमयी है। अतएव विश्वका-स्वात्मका विमर्श भी करती है।

यह कैसे होता है, उस परतत्त्वमें इच्छा, क्रिया और ज्ञान एक साथ कैसे रहते हैं—सत्पुरुष इसका विवेचन करते हैं । निरन्तर संवित्की इन विशेषताओंका अनुसन्धान करते हैं, मनन और चिन्तन करते हैं। ऐसा करनेके लिये स्वाध्याय आवश्यक है। स्वाध्याय किस शास्त्रका किया जाय, ताकि प्रकाश और विमर्शके तात्त्विक रहस्यका उद्घाटन हो सके—संवित्—स्वातन्त्र्यको जाना जा सके ? यह स्वाभविक जिज्ञासा स्वयम् उठ खड़ी होती है ।

इसका उत्तर देते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि, तत्त्व विवेचक विज्ञजन अनुत्तर (नास्ति उत्तरं यस्मात्) शास्त्रका आश्रय लें (जिस शास्त्रमें इसी विषयकी विशेषतः व्याख्या है) यह शास्त्र सर्वमय चित्प्रतिभा[1] अर्थात्

१. तं० १३।१५६-१६०

प्रकाश और विमर्श शक्तितत्त्वका भी आकलन करने वाला सार-रहस्य शास्त्र है। इसके स्वाध्यायरूपी आश्रयसे परम तत्त्व सरलतया हस्तामलकवत् सिद्ध हो सकता है।

जिस्स बद्धपसिद्धि घडिए बवहारे सोइ अस्मि नीसंको।
तह होहि जहुत्तिण पसिद्धिरूढिये परमसिवो ॥

संस्कृत छाया—

निजदृढप्रसिद्धिघटिते व्यवहारे लोके अस्मि निःशङ्कः।
तथा कृते भवति कोऽपि जनोत्तीर्णप्रसिद्धिरूढः परमशिवः॥

इतिश्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यं विरचिते तन्त्रसारे आगम प्रामाण्य प्रकाशनं नाम एकविंशमाह्निकम् ॥२१॥

हिन्दी पद्यानुवाद—

दृढप्रसिद्धिसंभूत सदा व्यवहारशुद्ध सामाजिक जीव,
शङ्कारहित सतत निश्चित वह बनता है सरसी–राजीव।
विश्वोत्तीर्ण–प्रसिद्धि रूढ हो गहरी दो जीवन की नींव,
पा लो अनायास परमेश्वररूप परमशिव अपना पीव॥

प्रसिद्धिको ही आगम कहते हैं। जिस आगममें हमारी रुचि है, वहीं प्रवृत्ति होगी। वहाँ भी प्रवृत्तिकी दृढ़ता आवश्यक है। इस दृढ़ताके साथ प्रसिद्धिके अनुकूल होनेवाले व्यवहारसे लोग निर्भयभावसे जीवन-यापन करते हैं, ऐसे लोग सामान्य जनके स्तरसे ऊपर उठ जाते हैं। वे जनोत्तीर्ण प्रसिद्धियोंमें आरूढ हो जाते हैं और परमशिवरूपताको प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ निम्नलिखित बातोंका निर्देश है—

१–व्यवहार प्रसिद्धिके अनुकूल रहना चाहिये। तथा निःशङ्क विचरण करना चाहिये।

२–ऐसे व्यक्ति 'जनोत्तीर्ण' कहलाते हैं। वे सामान्य स्तरसे ऊपर उठ जाते हैं।

३—प्रसिद्धियोंमें वह आरूढ रहता है और इस लक्ष्यकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है और साक्षात् परमशिव बन जाता है।

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य विरचित तंत्रसारके शेषवर्तन-प्रकाशन नामक २१वें आह्निकका डॉ० परमहंस मिश्र द्वारा विरचित नीर-क्षीर-विवेक महाभाष्य सम्पूर्ण शुभं भूयात् ॥२१॥

द्वाविंशमाह्निकम्

अथ समस्ता इयम् उपासा समुन्मिषत्तादृशदृढवासनारूढान् अधिकारिणः प्रति श्रीमत्कौलिकप्रक्रियया निरूप्यते, तत्र उक्तं योगसंचारादौ—

आनन्दं ब्रह्म तद्देहे त्रिधौष्ठ्यान्त्य–व्यवस्थितम् ।
अब्रह्मचारिणस्तस्य त्यागादानन्दवर्जिताः ॥
आनन्दकृत्रिमाहारवर्जं चक्रस्य याजकाः ।
द्वयेऽपि नरके घोरे तस्मादेनां स्थितिं भजेत् ॥

तदनया स्थित्या कुलयागः । स च षोढा--बाह्ये, शक्तौ, स्वदेहे, यामले, प्राणे संविदि च। तत्र च उत्तर उत्तर उत्कृष्टः । पूर्वः पूर्वस्तद्रुच्यर्थम् ।

कौलिक-प्रक्रियाके अनुसार इस समस्त उपासनाका निरूपण उन अधिकारियों के लिये किया जा रहा है, जिनके हृदयमें (प्रसिद्धिके अनुकूल) उसीप्रकार की दृढवासना में रूढ रहनेकी दृढताका समुन्मेष हो चुका है। योग संचार (नामकग्रन्थ) आदिमें ही कहा गया है कि-

'आनन्द ही ब्रह्म है। वह शरीरमें तीन प्रकारसे ओष्ठ्य वर्गके अन्तिम (वर्णमें) 'म' में अवस्थित है। उसके त्यागसे अब्रह्मचारी व्यक्ति आनन्द वर्जित हो जाते हैं। ऐसे लोग कुल शासनके अनुसार पशु हैं। आनन्द कर तीन 'म' रूपी आहारसे रहित चक्रके याजक[1] द्वयमें भी घोर नरकके भागी होते हैं। इसलिये इस स्थितिका आनन्द ले।,

तो इस परिस्थितिके अनुसार कुलयाग होता है। वह छः प्रकारसे होता है—१ बाह्यमें, २–शक्तिमें, ३–स्वदेहमें, ४–यामलमें ५–प्राणमें और ६–संविद्में। इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट हैं। पूर्व पूर्वके याजककी रुचिके लिये निर्दिष्ट हैं।

---

१. तं० २९/१०६-१०७, २८/१८६-१८७

कौलिक प्रक्रिया असाधारण प्रक्रिया है। यह सबके लिये नहीं है। अधिकारी व्यक्तिके लिये ही गुरु इसका उपदेश करते हैं। अधिकार केवल निर्विकल्प वृत्तिके महात्मा और ज्ञानीको ही प्राप्त है। अपनी वृत्तिमें अपनी इच्छामें यदि कोई प्रतिक्षेपकी स्थिति उत्पन्न हो और उस समय भी संविद् अद्वैतमें मन रमा रहे, तो अधिकारकी परीक्षा हो जाती है।

ऐसे अधिकारी सिद्धपुरुषमें संविद्के अद्वैत आनन्दमें निरन्तर रमे रहनेकी वृत्तिका उन्मेष हो गया होता है। वह ऐकात्म्यकी दृढ़ वासनाकी स्थिति मानी जाती है। उस अवस्थामें आरूढ़ व्यक्ति लिये ही इस उपासनाका विधान है। यहाँ इसका निरूपण इसी उद्देश्यसे किया जा रहा है। योग संचार नामक ग्रन्थमें इस विषयका इस प्रकार उल्लेख किया गया है—

'आनन्द ब्रह्म है अर्थात् आनन्द ब्रह्ममय होता है'[1]। वह इस शरीरमें तीन प्रकारसे विलसित होता है—वह तीन स्थिति है 'म' कार। 'म' का तात्पर्य मद्य, मांस और मैथुनसे है। इन्हीं तीन स्थितियोंमें आनन्दवादका उल्लास परिलक्षित होता है। मद्य शिवामृत है। मांससे धातु प्रवर्द्धित होता है। मद्य और मांस उपकारक तत्त्व हैं। मैथुन फलतत्त्व है। आनन्द ही चूँकि ब्रह्म है और ब्रह्मका आचरण करने वाला ब्रह्मचारी माना जाता है। इसलिये मद्य, मांस और मैथुनका सेवन करने वाला ही ब्रह्मचारी माना जाता है।

जो इनका सेवन लोभके कारण (पैसा बचानेको भावनाके कारण) अथवा मानसिक विचिकित्साके कारण नहीं करते, वे लोग सचमुच अब्रह्मचारी ही हैं। क्योंकि वहाँ आनन्दरूपी परब्रह्मका और ब्रह्मरूप आनन्दका अभाव हो जाता है। जहाँ ब्रह्मका ही अभाव है, वहाँ उसका आचरण कैसे होगा और ऐसा व्यक्ति ब्रह्मचारी हो नहीं सकता। इसीलिये यह स्पष्ट सिद्ध है कि, आनन्द प्रदान करने वाले इन तीन (मद्य, मांस और मैथुन रूपी तीन मकारोंका उपयोग नहीं करते अर्थात् (चक्रयाग तो करते हैं किन्तु आनन्द प्रदाता तीन मकारोंका प्रयोग नहीं करते) वे

१. तं० २९।९७

दो कारणोंसे घोर रौरव नरकमें गिरते हैं अर्थात् नरक-भागी होते हैं। वे कारण है—१— विहित आदेशको न करना और २—अविहितका करना। इससे शास्त्र विधिका अपमान होता है। इसलिये कुलमार्गमें प्रवेश पा लेने वाले व्यक्तिको स्वात्म स्थित आनन्दकी अभिव्यंजना करनेवाले इन पदार्थोंका सेवन आनन्दोपलब्धिके लिये आवश्यक आवश्यक है। इसे लालचसे नहीं, किसी दुराग्रहसे नहीं अपितु आनन्दके लिये तो अवश्य करना चाहिये।''

कुल याग करनेका यह दिशा सन्दर्भ है। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कुल याग प्रक्रियाकी प्रस्थापना की गयी है। यह छः प्रकारका होता है। १—बाह्यमें २—शक्तिमें ३—स्वदेशमें ४—यामलमें, ५—प्राणमें ६—संविदमें[1]। बाह्य यागसे तृप्ति होती है और विकास होता है। चक्रानु-चक्रके प्रवेशकी प्रेरणा मिलती है। शक्तिका आकलन होता है। बाह्यसे उत्कृष्ट शक्तियाग इससे उत्कृष्ट अपने देहमें, उससे उत्कृष्ट यामलमें, यामलसे उत्कृष्ट प्राणमें और प्राणसे उत्कृष्ट चक्रयाग संविद् शक्तिमें होता है। इस प्रकार ये उत्तरोत्तर उत्कृष्ट माने जाते हैं। पहलेके ५ अपनी अपनी रुचिके अनुसार अपनानेके योग्य हैं।

सिद्धिकामस्य द्वितीयतुर्यपञ्चमाः सर्वथा निर्वर्त्याः। षष्ठस्तु मुमुक्षोः मुख्यः, तस्यापि द्वितीयाद्या नैमित्तिके यथा-सम्भवम् अनुष्ठेया एव विधिपूर्णार्थं च। तत्र बाह्यम् स्थण्डिलम्, आनन्दपूर्णं वीरपात्रम्, अरुणः पटः, पूर्वोक्तमपि वा लिङ्गादि। तत्र स्नानादिकर्त्तव्यानपेक्षयैव पूर्णानन्दविश्रान्त्यैव लब्धशुद्धिः प्रथमं प्राणसंविद्देहैकीभावं भावयित्वा संविदश्च परम-शिवरूपत्वात् सप्तविंशतिवारं मन्त्रमुच्चार्य मूर्धवक्त्रहृद्गुह्य-मूर्त्तिषु अनुलोम-विलोमाभ्याम् विश्वाध्वपरिपूर्णता परमेश्वरे अपरत्वे परापरत्वेऽपि च।

---

१. तं० २९।७

सिद्धि चाहनेवालेके लिये दूसरे, चतुर्थ और पञ्चम अनिवार्यतः करणीय हैं। छठाँ मुमुक्षु द्वारा निर्वर्त्य है। वह भी नैमित्तिक पर्व आदिमें द्वितीय आदिका यथासम्भव अनुष्ठान करे। बाह्य यागमें स्थण्डिल, आनन्दपूर्ण वीरपात्र, अरुण वस्त्र और पहले वर्णित लिङ्ग आदि (आते हैं)।

स्नान करनेसे ही शुद्धि होती हैं—इसकी अपेक्षा न करते हुए पूर्णानन्दमें विश्रान्तिसे ही शुद्धिको पा लेने वाला साधक पहले प्राण, संविद् और देह इनका ऐकात्म्य भाव भावित करे[1]। पुनः संविद् शक्ति चूंकि परमशिव रूप है। इसलिये २७ बार मन्त्रका उच्चारणकर मूर्धा, मुख, हृदय, गुह्य और[2] मूर्त्तियोंमें अनुलोम-विलोम पद्धतिसे विश्वाध्वा की परिपूर्णता, तीनों स्थितियोंमें, चाहे वह अपरत्वमें हो, परापरत्व दशा हो या परत्वकी स्थिति हो पूर्णतः स्वतः सिद्ध है।[3]

साधना सिद्धिके लिये ही की जाती है। सिद्धिकी इच्छा भी स्वाभाविक है। सिद्धिके लिये जो साधनामें संलग्न है। उसे दूसरे, चौथे और पाँचवें अर्थात् शक्ति, यामल और प्राण याग की प्रक्रिया अपनानी चाहिये। छठाँ अर्थात् शक्तियाग केवल मुमुक्षु के लिये उपयोगी है। नैमित्तिक कार्यकी पूर्त्तिके लिये भी उपर्युक्त याग अनुष्ठेय हैं। इन्हें मुमुक्षु भी कर सकता है। निष्काम साधक भी विधियोंका अनुष्ठान इसलिये करता है कि, विधिकी पूर्ति आवश्यक है।

जहाँ तक बाह्य कुल यागका प्रश्न है, वह चार पदार्थों पर आधृत है। १—स्थण्डिल, शिवामृतसे भरा हुआ वीरपात्र, लाल कपड़ा और लिङ्ग। इसमें स्थण्डिल और लिङ्गकी चर्चा पहले भी हो चुकी है।

जहाँ तक शुद्धिका प्रश्न है, वह केवल स्नानसे ही नहीं होती। इस यागकर्ममें भी स्नान शुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। व्यक्ति जिस क्षण परमानन्द सन्दोह समुद्रमें विश्रान्त हो जाता है। उस अवस्थामें प्राण, संविद् और देहका एकीभाव सिद्ध हो जाता है। उस ऐक्य भावका भावन करना चाहिये। यह अनुभव करना चाहिये कि, संविद् परमशिवसे

---

१. तं० २९।१२३ २. तं० ३०।१२-१४ ३. तं० ३१।९८, ३३।३०

अतिरिक्त नहीं है। प्राक् संविद् प्राणे परिणताके अनुसार प्राण-संविद् एक रूप हैं। प्राण और संविद् दोनोंका आधार यह देह है। इसका यह त्रिक सदा भावयितव्य है।

ऐसी अवस्थामें अर्थात् शिवसे अभिन्न भावकी प्रौढ़ और दृढ़ अनुभूतिकी दशामें भी मन्त्रोंके उच्चारणकी उपेक्षा नहीं की जाती है। मन्त्र चूँकि मननात्मक होता है। इसलिये मननके क्षणको महनीय बनानेके लिये २७ बार मूल मन्त्र जप करना चाहिये। इसके बाद मूर्धा (शिर), मुख, हृदय, गुह्य और मूर्त्तिमें न्यास करनेका विधान है। मन्त्रन्यास भी करन्यास और अङ्गन्यास रूपसे किया जाता है। यह अनुलोम ढङ्गसे कर लेने पर पुनः विलोम भावसे भी न्यास होना चाहिये। न्यासका परिणाम अध्वाओंकी अभावात्मक स्थितिको परम भावमयतामें परिणत करना होता है। यह तभी हो सकता है, जब पूर्ण परमेश्वरमें ही व्यक्ति न्यस्त हो सके। परमेश्वरकी तीन अवस्थाओंकी अनुभूति साधकको निरन्तर रहती है। वह पर है, अपर है और परापर भी है। साधक बाह्य, शक्ति, स्वदेह[1], यामल, प्राण और संविद् की उत्तरोत्तर उत्कर्षकी पराकाष्ठाको प्राप्त करनेके लिये भावात्मक रूपसे जागरूक रहता है।

कुल यागकी छः प्रकारकी भेदवादिताका संकेत ऊपर किया जा चुका है। अभी तक बाह्यका परिवेश परिभाषित किया जा रहा है। बाह्यकी शुद्धि कैसे होती है ? कुल यागके छः स्तरोंमें संविद्का उत्तरोत्तर उत्कर्ष कैसे सिद्ध हो जाता है तथा संविदैक्यकी सिद्धिमें भी मन्त्रोंका न्यास कैसे होता है, इन बातोंका निर्देश किया जा चुका है। अब उन्हीं बातोंका स्पष्टीकरण किया जा रहा है कि, सत्ताइस (२७)बार मन्त्रका क्यों उच्चारण किया जाता है और उनका अनुलोम विलोम न्यास क्यों किया जाता है—

तथाहि—माया-पुं-प्रकृति-गुण-धी-प्रभृति धरान्तं सप्तविंशति तत्त्वानि; कलादीनां तत्रैव अन्तर्भावात्। विद्याशक्तावपि परापरत्वे ब्रह्मपञ्चकस्य सद्यस्त्वाजातत्वभवोद्भवत्वादीनां धर्माणां सप्तविंशतिरूपत्वमेव उक्तं श्रीमल्लकुलेशादिपादैः।

---

१. मा० वि० तन्त्र १२।१०–२३।

परत्वेऽपि पञ्चशक्तिः हि परमेश्वरः, प्रतिशक्ति पञ्चरूपता, एवं पञ्चविंशतिः शक्तयः। ताश्च अन्योन्यम् इत्येवं सप्तविंशतिरूपया व्याप्त्या संविदग्नेः शिखां बुद्धिप्राणरूपां सकृदुच्चारमात्रेणैव बद्धां कुर्यात्, येन परमशिव एव प्रतिबद्धा तद्व्यतिरिक्तं न किञ्चिदभिधावति।

परमेश्वरके अपररूपमें माया, पुरुष, प्रकृति, गुण, बुद्धि, इन्द्रियाँ, विषय और महाभूत में २७ तत्त्व हैं,

इन्हीं में पाँच कंचुक भी अन्तर्भूत हैं। विद्याशक्तिमें भी परत्व और अपरत्व विद्यमान हैं। तथा ब्रह्मपञ्चक (मूलाधार-ब्रह्मा, स्वाधिष्ठान-विष्णु, मणिपूर-रुद्र, अनाहत-ईश्वर, विशुद्ध-सदाशिव) इन पाँचोंमें सद्योजातत्व भवत्व और उद्भवत्त्व आदि धर्मोंका सत्ताइस रूपत्व श्रीमल्लकुलेश आदि ग्रन्थोंमें प्रतिपादित है।

जहाँ तक परत्वका विमर्श है—उसमें भी पाँच शक्तियोंसे समन्वित परमेश्वर (वर्णित) है। प्रतिशक्ति पंचरूपता (के द्वारा) २५ शक्तियाँ (निश्चित) हैं। वे भी परस्पर अनुद्भिन्नविभागावस्थामें (दो स्थितियों के कारण) २७ हो जाती हैं। वे अपनी व्याप्तिसे बुद्धि प्राणरूप संविद् अग्निकी शिखाको तत्काल उच्चारण मात्रसे ही बद्धकर देती हैं। इसलिये मन्त्रोंको २७ बार उच्चारण करना चाहिये) जिससे संविद्शक्ति प्रभावित हो सके। परिणामतः प्राण बुद्धि रूप संविदग्निशिखा परमशिवमें प्रतिबद्ध हो सके और उसके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं न जा सके।

सत्ताइस २७ बार ही मन्त्रोच्चारण क्यों किया जाय? इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकरणमें दिया गया है। इस दर्शनकी मान्यता है कि, मूल-तत्त्व ३६ हैं। ९, ५, ३ और १ परतत्त्वका भी अलग-अलग वर्णन यहाँ प्राप्त है।[२] इनमेंसे २७ तत्त्वोंका शरीरसे साक्षात् सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। वे तत्त्व हैं—१–माया, १–पुरुष, १ प्रकृति, ३ गुण १० इन्द्रिय

१. त्रिपुरारहस्ये १४/६५–७८ २. स्वच्छन्दतन्त्र, पटल ५।२+१६, ६९–७०

५ विषय और ५ महाभूत (क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा) कला आदि ५ कंचुक मायाके अन्तर्गत ही आते हैं। इसलिये उनकी पृथक् गणना नहीं की गयी है। इन तत्त्वोंको परमेश्वरका अपररूप माना जाता है। प्राण, संविद् और शरीर इन तीनोंमें शरीर अपर, प्राण परापर और संविद् पर परमेश्वरके रूपमें परिगणित हैं। शरीरसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले ये उक्त २७ तत्त्व हैं। इन्हीं तत्त्वोंको परिमार्जित करनेके लिये २७ बार मन्त्र जपका विधान है। इससे शिर, मुख, हृदय, गुह्य और शरीरस्थ चक्रदेवमूर्त्तियोंका परिष्कार सम्भव है।

परमेश्वरके परापर रूपमें भी २७ अंकका महत्त्व स्वीकृत है। परापरतत्त्वकी प्रतीक विद्या है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश और सदाशिव इन पाँचों शिव स्वरूपोंका आकलन होता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध चक्रोंके यही अधिष्ठाता देवता हैं। इनके अलग-अलग बीज हैं, जिनके माध्यमसे चक्रभेदनकी प्रक्रिया पूर्ण होती है।[1] इन पाँच देवोंको 'ब्रह्मपञ्चक' भी कहते हैं। विभिन्न परिस्थितियोंके सन्दर्भमें इनके विभिन्न रूप हो जाते हैं। जैसे तत्काल उत्पत्तिका मूल क्षण और उसका प्रभाव बड़ा विचित्र होता है। उसके देवता भी पृथक् होते हैं। सद्योजात, अजात, जात, भव और उद्भव आदिकी स्थितियोंमें भी इनके २७ रूप हो जाते हैं। यह अपना निजी मत नहीं है। ये श्रीमल्ल कुलेश आदि आचार्य-स्वीकृत सिद्धान्त हैं।

पर रूपमें परमेश्वर पाँच शक्तियोंसे सम्पन्न माना जाता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियोंसे सम्पन्न परमेश्वरकी पंचरूपता प्रसिद्ध है। प्रतिशक्ति पाँच-पाँचके क्रमसे २५ तात्त्विक शक्तियाँ मानी जाती हैं। पर रूप चूँकि प्रमाता (शक्तिमान्) का होता है। इसलिये शक्तिमान्‌की शक्तियोंका मेयरूप अपर और प्रमाण रूप परापरांश होता है।[2] ये सभी शक्तियाँ दो रूपोंमें आकलित होती हैं। १—अनुद्भिन्न विभागा और २—उद्भिन्नविभागा। यह ध्यान देनेकी बात है कि, विभागोंमें विभक्त होनेकी एक ऐसी अवस्था होती है, जहाँ तत्त्वोंका एकत्त्व उल्लसित रहता है। वह परा संविद्‌की अवस्था कहलाती है। वही इस इदमात्मक स्वात्मविस्तारको देखती है, दिखाती है, शक्तिका प्रदर्शन करती है और

१. मा० वि० ८।१२ २. तं० १०।८

स्वयं प्रकाशित रहती है। जिस शक्तिके द्वारा भेद और अभेदका शीशेमें प्रतिम्बित हाथी की तरह प्रकाशन होता है, वह परापर शक्ति कहलाती है और जो अपरा तथा परापराको स्वयं धारण करती हुई चलती है, वही पराशक्ति है। इसीको श्रीमन्मातृसद्भाव-कर्षणी भी कहते है। उस समय इसमें विभाग भासित नहीं रहते। इसीलिये इसे (अ+उद्भिन्न+विभागा) एकात्मिका शक्ति कहते हैं। यह २५ और ५ सब एकत्वमें समाहित रहता है। इस प्रकार २५ शक्तियाँ भी उद्भिन्न और अनुद्भिन्न दो भागोंको मिलाकर २७ प्रकारकी मानी जाती हैं।

इन २७ रूपोंकी स्थिति उसो परा संविद्में होती है। वह परा संविद् भी इनमें व्याप्त रहती है। परा संविद् एक प्रकारकी आगकी लपलपाती लपट है—अग्निकी सुहानी शिखा है। बुद्धि और प्राण उसी संविद् की शिखामें शाश्वत निवास करते हैं। चर्याक्रममें शिखा बन्धन आवश्यक माना जाता है। मूलमन्त्रका एक बार या तीन गाँठोंके साथ तीन बार उच्चारण कर शिखा बाँधी जाती है। दीक्षाके समय संविद् शिखाका बन्धन अनिवार्यतः आवश्यक होता है। इस बन्धनका परिणाम बड़ा दूरगामी होता है। इससे संविद् परमशिवसे बँध जाती है। जिस प्रकार बँधा हुआ मतङ्ग (हाथी) खूँटेसे ही बँधा रह जाता है, उसी प्रकार संविद् परमशिवसे आबद्ध हो जाती है। इधर-उधर दौड़-धूपकी चञ्चलता समाप्त होती है, परमानन्दकी उपलब्धिका माध्यम यह शिखा बन जाती है।

तथाविधबुद्ध्यधिष्ठितकरणचक्रानुवेधेन पुरोवर्त्तिनो यागद्रव्यगृहदिगाधारादीनपि तन्मयीभूतान् कुर्यात्। ततोऽर्घपात्रमपि शिखाबन्धव्याप्त्यैव पूरयेत् पूजयेच्च, तद्विप्रुड्भिः स्थण्डिलान्यपि तद्रसेन वामानामाङ्गुष्ठयोगात् देहचक्रेषु मन्त्रचक्रं पूजयेत् तर्पयेत् च। ततः प्राणान्तः। ततः स्थण्डिले त्रिशूलात्मकं शक्तित्रयान्तमासनं कल्पयेत्। मायान्तं हि सार्णे औकारे च शक्तित्रयान्तमासनं कल्पयेत्। मायान्तं हि सार्णे औकारे च शक्तित्रयान्तं तदुपरि याज्या विमर्शरूपा शक्तिः—इत्येवं सकृदुच्चारेणैव आधाराधेयन्यासं कृत्वा तत्रैव आधेयभूतायामपि संविदि विश्वं पश्येत्, तदपि च संविन्मयम्।

इस प्रकारकी बुद्धिसे अधिष्ठित करण (इन्द्रिय) चक्रके अनुवेधसे पुरोवर्त्ती यागके सभी द्रव्य, गृह, दिग् और इनके आधार आदि पदार्थोंको भी तन्मयींभावसे (दिव्य) कर देना चाहिये। तत्पश्चात् अर्घपात्रको भी शिखाबन्धकी व्याप्तिके द्वारा पूजना चाहिये और व्याप्तिसे पूरित करना चाहिये। अर्घपात्रकी लघुकणिकाओंसे वेदीकी और अर्घपात्रके अमृतरससे वाम हस्तकी अनामिका और अंगूठेकी मिलित मुद्रासे शरीरके चक्रोंमें मन्त्रचक्रकी पूजा करनी चाहिये। तर्पण भी करना चाहिये। उसके बाद प्राणमें (पूजन और अर्पण होना चाहिये)।

इसके बाद वेदी पर तीन शक्तियोंके लिये शिशूल[1] रूप आसनकी कल्पना करनी चाहिये। माया तक शक्तित्रयके आसनकी परिकल्पना 'सौ' में होनी चाहिये। शक्तित्रयके अन्तमें उसके ऊपर विमर्श रूप शक्ति (ं) याज्य है। इस प्रकार सकृत्-सकृत् प्राणोच्चारके क्रमसे (शरीरमें ही) आधार आधेय न्यास करनेके बाद वहीं आधेयरूप संविद्में समस्त विश्वका दर्शन करना चाहिये क्योंकि सारा विश्व ही संविन्मय है[2]।

तन्त्रसाहित्यका सिद्धान्त है—'षट्त्यागे सप्तमे लयः[3]। अर्थात् छः के त्याग हो जाने पर सातवेंमें विलय हो जाता है। साधारण लोग भी 'अ' 'उ' और 'म' कलाओंसे परिचित हैं। योगमार्गका थोड़ा जानकार भी विन्दु, नाद और व्यापिनी स्थितियोंको जानता है। इन छः कलाओंसे बढ़ते हुए—इनके स्तरको छोड़ते हुए सातवें शक्तिमय संवित्में प्रवेश हो जाता है।

इसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश, सदाशिव और शिव स्तरोंको पारकर परमशिवमें विलय हो जाता है। इसी क्रमका नाम तन्त्र दर्शनमें 'प्राणोच्चार' या 'हंसोच्चार' है। इसी तथ्यको बाह्ययागके इस प्रसङ्गमें उजागर किया गया है। पहले शिखाबन्धनरूप बाह्यचर्याको परमशिवकी चिन्मयतामें मिला दिया गया। अब क्रमशः बाह्यको आभ्यन्तरिक दिव्यतासे देदीप्यमान बना लेनेकी प्रक्रियाका उपक्रम कर रहे हैं। करण

---

१. तं० ५/८३ २. स्वच्छन्द तन्त्र पटल ४/२३६-२४५

३. स्वच्छन्द तन्त्र पटल ४/२४६-२६७

चक्र इन्द्रियोंका समूह है। बुद्धि परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य शक्तिसे अनुप्राणित तत्त्व है। बुद्धि इन इन्द्रियोंमें अधिष्ठित है। इन्द्रियोंसे ही यज्ञकी (जीवन यज्ञकी भी) सारी क्रिया सम्पन्न होती है। यज्ञ हो रहा है। सामने (आचार्य ओर शिष्य दोनोंके) यज्ञ के सामान रखे हैं, घर है, दिशायें और उनके आधारभूत सारे पदार्थ हैं। इस स्थितिमें बुद्धिकी तीक्ष्णतासे इन सबका अनुवेध किया जाना चाहिये। इनमें परमेश्वर आवेशका आकलनकर सबको परमशिवमय मानकर ही इस बाह्यताको अभिनव भावनाके द्वारा परमशिवरूपमें ही देखना चाहिये।

अर्घपात्र शिवामृतसे भरा होता है। शिखा रूप निष्कल मन्त्रसे शिखा बन्धको परमशिवमें बाँध दिया जा चुका है। कहीं कहीं शिखाको काटकर हवन कर देनेका भी विधान है[1]। तथ्य यह है कि, परमशिवकी तन्मयता भी हवनके ही समान है। इसी तन्मयताकी व्याप्तिसे अर्घपात्रका पूजन तर्पण करना चाहिये। इस मनोवैज्ञानिक अर्थात् भावनात्मक प्रयोगसे अर्घपात्रका आसव शिवामृत शक्तिसे भर जाता है। अमृतकी कुछ बूदोंसे, लघुलघु अमृतफुहारसे ही वेदिका पवित्र हो जाती है।

इसके बाद बायीं अनामिका और अंगूठेके अग्रभागके जोड़नेसे बनी मुद्रासे शरीरके सभी चक्रोंका स्पर्श, पूजन और तर्पण आवश्यक है। छहों चक्रोंके पूजन तर्पणके बाद प्राणका तर्पण आवश्यक है। सब पदार्थोंमें संविन्मयताकी व्याप्तिके इस क्रममें प्राणको कैसे छोड़ा जा सकता है? पहले तो प्राण रूपमें ही संवित् परिणत हुई थी। इस प्रकार बाह्य पदार्थों, शरीरके चक्रों ओर अर्घपात्र सहित प्राण तकमें संवित् शक्तिकी व्यापकताका आकलन और अनुभावन किया गया।

अब स्थण्डिलमें त्रिशूलका आकलन आवश्यक है। यह स्थण्डिलशब्द बड़ा भ्रामक है। यज्ञवेदी भी स्थण्डिल ही है और योग प्रक्रियामें आज्ञा चक्रके अनुवेधनके उपरान्त जब योगी या साधक विन्दु अर्धचन्द्र, नाद, नादान्तकी स्थितियोंको पारकर जिस बिन्दुस्तरपर बैठता है, वह भी स्थण्डिल ही हैं। वहाँ त्रिशूलकी कल्पनाका अर्थ है, इन्हीं तीन शक्तियोंकी स्थापनाका यौगिक विधान। वहाँ प्राण भी पानी भरता है। अभी तक मायाका क्षेत्र ही पार किया गया। अब उसके ऊपर चलना है। उस भूमि

---

१. स्व० पटल ४/२१५-२१९

पर जहाँ मायान्त और शक्तित्रयान्त वातावरण है। उस भूमि पर पहुँचनेके लिये एक बीजात्मक निर्देश दिया गया है। यह रहस्य गुरुदेवसे जानना चाहिये, तभी उसमें शक्तिपातकी दिव्यता उतरती है। 'स' वर्ण महत्त्वपूर्ण वर्ण है। बिन्दु ही विसर्गके क्रममें विसर्जनीयस्य सः' पाणिनीय सूत्रके अनुसार स् के रूप परिणत होता है। इसका अर्थ है—सृष्टिका सीत्कार, विश्वोल्लासकी वेग शीलताका प्रतीक और सूक्ष्मसे स्थूलकी अभिव्यक्तिका आधार। इसी प्रकार 'औ' का अर्थ भी बड़ा रहस्य गर्भ है। 'अ' का अर्थ है अनुत्तर शिव। उ का अर्थ है—उन्मेष। अनुत्तर शिवमें जब विश्वका उन्मेष होता है, तब 'अ' और 'उ' को मिलाकर गुणवत्ताकी शक्तिसे 'ओ' बनता है। जब पुनः 'अ' रूप अनुत्तर 'ओ' से मिलता है, तो वृद्धि हो जाती है—और 'औ' कारकी निष्पत्ति होती है। 'स्' तथा 'औ' को मिलानेसे 'सौ' बीज वर्ण बनता है। माया और उक्त तीनों शक्तियों के ऊपरी स्तर पर इस बीजका प्रयोग केवल आकलन का विषय है। मायाका, मायान्तका और शक्तित्रयान्तका अलग-अलग स्तर, उनका आसन, और उनकी अनुभूतियोंसे ऊपर उठकर अब साधक एक नये यज्ञका सूत्रपात करता है। यह यज्ञ है विमर्शयाग। वहाँ विमर्श शक्तिका अधिष्ठान होता है। विमर्श प्रकाशरूप परमेश्वरकी पराशक्तिका नाम है। विमर्श प्रकाशका स्वभाव (ं) होता है। प्रकाशकी अपनी शक्ति होता है। विमर्श याग असामान्य स्थिति है। यह सच है कि, स्थूल शरीरके आधार पर ही यह सम्भव है किन्तु इसकी स्तरीय[1] इयत्ताका आकलन महत्त्वपूर्ण है। यह 'अभाव' और कारण त्यागकी प्रक्रिया है।

इस प्रकार बीजमन्त्रका उच्चारण तथा एक दूसरेको आधार मानते हुए आधेयपर मन्त्रसे न्यास करते-करते हम इतने ऊपर आ जाते हैं कि, विश्व हमसे बहुत दूर छूट जाता है। किन्तु यह ध्यान देनेकी बात है कि, विश्वको छोड़नेमें हमारा सिद्धान्त छूट जाता है। हम यह मानकर चलते हैं कि, यह सारा उल्लास, यह विश्वका सारा विलास परमेश्वरके अतिरिक्त नहीं है। इसीलिये शास्त्र कहता है कि, न तो कुछ यहाँ ग्रहण करना है और न किसीका त्याग करना है। इस प्रकार आधेयका न्यास करते हुए तथा नीचे-नीचे आधार बनाते हुए परम आधेय संवित् तक

---

१. स्व० तन्त्र पटल ४।२६८।२७९, २९०

पहुँचते हैं। अब विमर्शकी व्यापकताके नाते आधेय संवित् तक पहुँचते हैं। विमर्शकी व्यापकताके नाते आधेय संवित्में भी विश्वका दर्शन करानेकी शक्तिका सूत्रपात हो जाता है। गुरुदेवके अनुग्रहसे, आत्मतत्त्वके उल्लाससे तथा शक्तिकी शक्तिमत्तासे योगी सिद्धिकी इस दार्शनिक संवित्तिवेदिका पर विराजमान हो जाता है। विश्वको देखनेकी बातसे अन्यथा नहीं लेना चाहिये क्योंकि विश्व संवित्शक्तिके अतिरिक्त है ही क्या ? मोर पंखके चित्र मोरके अंडेके अतिरिक्त कुछ अलगकी वस्तु नहीं है। संविद् रूप ही है। अतः विश्व दर्शन भी संविद्का ही दर्शन है।

इत्येवं विश्वस्य संविदा तेन च तस्याः सम्पुटीभावो भवति। संविद उदितं तत्रैव पर्यवसितं यतो विश्वं, वेद्याच्च संविदुदेति तत्रैव च विश्राम्यति इति एतावत्त्वं संवित्तत्त्वं सम्पुटीभावद्वयात् लभ्यते। तदुक्तम्—'सृष्टिं तु सम्पुटीकृत्य' ... इति। ततो गन्धधूपासवकुसुमादीन् आत्मप्रह्वीभावान्तान् अर्पयित्वा स्वविश्रान्त्या जप्त्वा उपसंहृत्य जले निक्षिपेत्।

इति बाह्ययागः

इस प्रकार विश्वका संविद्के द्वारा और संविद्का विश्वके द्वारा सम्पुटीकरण हो जाता है। विश्व संवित् तत्त्वसे उदित होता है। उसीमें पर्यवसित भी होता है। साथ ही वेद्य विश्वसे संवित्का उदय होता है और वह वेद्यमें ही विश्रान्त हो जाती है।

इस प्रकार संवित्तत्त्व दो संपुटोंसे संपुटित होता हुआ प्राप्त होता है। कहा भी गया है—'सृष्टिको संपुटितकर' इत्यादि। इसके बाद गन्ध, धूप आसव और फूल आदिको आत्मभाव भावित करके 'स्व'(आत्म) को ही अर्पित करे। स्वात्मविश्रान्तिमें ही जप करके सब बाह्य उपकरणोंका उपसंहरण करके जलमें फेंक देना चाहिये।

यह बाह्य याग विधि पूर्ण हुई।

विश्व और संवित् दोनोंका एक दूसरेसे उत्पन्न होनेका क्रम एक विचित्र सम्पुटको जन्म देता है। संविद्से विश्व निकलता और संवित्को चारोंसे घेर कर फिर उसीमें विश्राम कर जाता है। साथ ही वेद्य

विश्वसे संवित् निकलती है और उसे घेर कर विश्व में ही विश्रान्त हो जाती है। इस दो प्रकार की सम्पुट की स्थितिसे संवित् तत्त्वका सुन्दर आकलन होता है। यह केवल ग्रन्थकारका ही मत नहीं अन्य शास्त्रोंमें भी इसकी चर्चा है।

इसके बाद पूजाकी सारी सामग्रियोंका अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अर्पण कर देना चाहिये। वस्तुतः सारा सम्भार आत्माके अतिरिक्त अन्य नहीं है। गन्ध धूप दीप आसव कुसुम आदि सभी पदार्थोंको अर्पित करनेका अधिकार किसने दिया है आपको कि, आप बिना उनकी स्वीकृति-के किसीको अर्पित कर सकेंगे। इसलिये सबमें पहले आत्म भावनकी विनम्रभावना अनिवार्यतः आवश्यक है। तब उसमें स्वत्वका अधिकार आता है। अर्पण भी आत्मभावमें ही होना चाहिये। इसीलिये यहाँ स्वात्मविश्रान्तिकी चर्चा की गयी है। सर्वतोभावेन अपनेमें अपने द्वारा रम जानेका दिव्य आनन्द सबसे मुख्य बात है। वही जप है। स्वात्ममें विश्रान्तिका महाभाव ही जप है। इतने आध्यात्मिक उत्कर्षपर पहुँचकर अब उपसंहार किया जा सकता है। उसी समय सारी बाह्यक्रिया पूरी हो जाती है। अब केवल यह प्रश्न रह जाता है कि, इन सामानोंका क्या किया जाय? उसका समाधान कर रहे हैं कि इन सबको जलमें डाल दिया जाना चाहिये। जलके अन्तरालमें अर्थात् अप् तत्त्वमें स्वयम् अग्निका साक्षात् निवास होता है। समुद्रमें बडवाका अधिष्ठान तो सर्व प्रसिद्ध ही है। इसी लिये सामग्रियोंका जलमें निक्षेप कर देनेके बाद बाह्यविधिका कोई कार्य शेष नहीं रह जाता है।

यह बाह्य यागका संक्षिप्त विधान है।

अथ शक्तौ, तत्र अन्योन्यं शक्तिता लासा-वीराणाम् उभयेषाम् उभयात्मकत्वेन प्रोल्लास-प्रारम्भ सृष्टयन्तशिवशक्ति-प्रबोधे परस्परं व्यापारात्, परमेशनियत्या च शुद्धरूपतया तत्र प्राधान्यम्, एतेन च विशिष्ट चक्रस्यापि शक्तित्वं व्याख्यातम्। तत्र शिखाबन्धव्याप्त्यैव पूजनं शक्तित्रयान्तमासनं कोणत्रये मध्ये विसर्गशक्तिः इति तु व्याप्तौ विशेषः एवं स्वदेहे तत्रैव चक्रे ततो ब्रह्मरन्ध्राद्यनुचक्रेषु।

शक्तिमें शक्तिमत्ता और उसके उल्लास एवं वीरभावके साधकोंका कुलयाग [कैसे सम्पन्न होता है—इसका वर्णन किया जा रहा है]

शक्तिसे वीर और वीरोंसे शक्तिके समुल्लासकी अन्योन्याश्रयता प्रसिद्ध है। पहले प्रोल्लास, फिर प्रारम्भ फिर सृष्टि और सृष्टिके अन्त पर्यन्त शिवशक्तिके जागरणके व्यापारमें भी अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परमेश्वर शिवकी नियति शक्तिके द्वारा और शुद्धताके द्वारा वहाँ प्राधान्य है। इससे विशिष्ट चक्रकी शक्तिमत्ता भी व्याख्यात हुई। शिखा बन्धनकी व्याप्तिसे ही यहाँ भी पूजन तथा शक्तित्रयान्त आसन, कोणत्रयमें और मध्यमें विसर्गशक्ति, यह व्याप्तिमें विशेष है। इस प्रकार स्वदेहमें और देह स्थित चक्रोंमें और उनसे ऊपर उठकर ब्रह्मरन्ध्र आदि अनुचक्रोंमें भी व्याप्तिका वैशिष्टय ध्यातव्य है।

शक्तियाग—कुलयाग छः प्रकारका कहा गया है। बाह्ययागके वर्णन-के बाद इस शक्ति यागका वर्णन यहाँ अभिप्रेत है। शक्ति और वीर भाव-का एक दूसरेसे रहस्यात्मक सम्बन्ध है। परमशिवकी विमर्शमयी अहं स्फुरत्तामें 'अहं' के स्वातन्त्र्यको धारण करनेवाला और परमेश्वरके पराक्रमगुणमें स्वयं पराक्रम रखनेवाला साधक 'वीर' कहलाता है। 'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुभवः' इस शिव सूत्र में वीर्य शब्दके प्रयोग में वीरभावका ही प्राधान्य है। विविधम् ईरयति विश्वैचित्र्यम् इस विग्रह के अनुसार शब्द रूप शिव भी वीर कहे जाते हैं। गगनचन्द्रिका नामक ग्रन्थमें आये इस 'ईरणेन विविधेन वीरतां योऽक्षरगणः प्रपद्यते' पद्यके अनुसार तथा श्री प्रभाकौल ग्रन्थकी उक्ति 'वामे वीराः समाख्याताः'के अनुसार 'वीर' शैव साधक साक्षात्भैरव रूप ही हो जाता है। इसीलिये वीर परभैरव और वीरा स्वातन्त्र्यमयी प्रधान शक्तिको कहते है[1]।

वीर और वीराकी परभैरव और स्वातन्त्र्यक्तिकी अन्योन्याश्रता विचारका विषय है। इनकी पारस्परिक शक्तिसे ही सृष्टिका प्रोल्लास सम्भव है। उल्लास उन्मेषको कहते हैं। उन्मेष शक्तिसे ही सृष्टि समुद्रकी लहरें उल्लसित होती हैं। उल्लासके बाद ही प्रारम्भकी अवस्था आती है। सृष्टिकी अन्तिम सीमाका आकलन भी परभैरव प्रमाता ही कर सकता

१. महार्थमंजरी का० ३५

है। प्रोल्लास और सृष्ट्यन्तमें ही शिवशक्तिका प्रबोध सम्भव है। यही शक्तिमत्ताका लास है। इसकी शक्ति वीरा है। दोनोंका पारस्परिक विमर्श-व्यापार सृष्टिका प्रधान हेतु बनता है।

परमेश्वर सर्वत्र व्याप्त है। नियति भी सबमें अनुस्यूत है। प्रत्येक अणु अणु कणकण सूक्ष्म स्थूल सबमें परमेश्वरकी सत्ता विद्यमान है। उस सत्तामें शुद्ध शक्ति रूपसे उसका वीरभाव भी विद्यमान है। यही शुद्धि है। शुद्ध-शक्ति रूपसे उसका प्राधान्य भी है। इस विशिष्ट विश्लेषणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, चक्रों अनुचक्रोंमें सर्वत्र उभयात्मक व्याप्ति समान रूप-से उल्लसित है।

जहाँ तक पूजनका प्रश्न है—यह कौलिकी प्रक्रियामें अभिनवरूपसे सम्पन्न होता है। जितने वेद्य रूप अमृतसे मधुमान कुलद्रव्य हैं—वे ही पूजाके साधन हैं। अपने चित्तको चषक बनाकर उसमें महाभावका अमृत भर देना अनुभूति-सिद्ध है। समस्त विश्ववर्त्तीभाव बाहर विभिन्न प्रकारसे स्फुरित होते हैं। वे ही इन्द्रियों द्वारा जब ग्रहण किये जाते हैं तो, वे क्षण-भर चित्तचषकमें ठहरते ही हैं। इसके बाद परभैरव भावमें वे अनुप्रविष्ट हो जाते हैं।[1] यही क्रम अपना लेना एक प्रकारकी पूजा हो जाती है, जो शिखाबन्धकी व्याप्ति (जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।) पर्यन्त उल्लसित होती है। इस तरह शरीर-पीठकी पूजा होनी चाहिये। जैसे पीठ पर मध्यमें भगवान्‌को सिंहासनासीन करते हैं, उसी तरह हृदयरूपी व्योममें स्वात्मरूप महाप्रकाश-सुषमित परमेश्वरकी प्रतिष्ठाका आकलन करना चाहिये। परम शिव हृदयमें विराजमान हैं। इन्द्रियोंकी देवियाँ उनको घेरकर बैठी हुई हैं। चित्तके चषकमें वेद्यसुधा लहरा रही है। वृत्तिके अर्घ्यके बर्त्तनमें उसे भर लिया गया है। विमर्शरूपी वाणीके अमृतसे पवित्र मन्त्रसे उसका संस्कार किया जा चुका है। उसी अमृतसे परमशिवकी पूजा सिद्ध साधक करता है।

शरीररूपी पीठमें कमरके दोनों ओरसे गले तक, दोनों बाहुमूलोंसे नाभि तक दो त्रिभुजोंमें छः कोण होते हैं। ६ चक्र तो प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त भी चक्रों अनुचक्रोंकी कल्पना की गयी है। महाचक्रनायक

---

१. 'भावाः वृत्तिषु ताश्चित्ते, चित्तं सविदि, सा परे' श्रीमहानय प्रकाश

भैरव माने जाते हैं। द्वादश अरा वाला विश्व चक्र है :—एकवीर, यामल, त्रिशक्ति, चतुरात्मक, पञ्चमूर्त्ति, षडात्मा, सात और आठ धातुओंसे विभूषित, नव रसात्मा दशदिक्शक्तिमान्, एकादश स्वरूपवाला और १२ आदित्योंसे देदीप्यमान वह महाचक्रनायक परमेश्वर ही है।[१] परभैरव पर्यन्त स्वातन्त्र्यशक्तिवाला यह मूर्तिचक्र है। दक्षिण नेत्र प्रकाशचक्र और वाम नेत्र आनन्दचक्र है। इन सबमें और ब्रह्मरन्ध्र आदि अनुचक्रोंमें भी शिखाबन्ध व्याप्तिपर्यन्त वही पूजनविधि अपनायी जाती है।

अथ यामले—

शक्तेर्लक्षणमेतत् तद्वद्भेदस्ततोऽनपेक्ष्य वयः।
जात्यादींश्चासङ्गात् लोकेतरयुगलजं हि तादात्म्यम्॥
कार्यहेतुसहोत्थत्वात्त्रैधं साक्षादथान्यथा।
क्लृप्तावतो मिथोऽभ्यर्च्या तर्प्यानन्दान्तिकत्वतः॥

श्लोकार्थ—शक्तिका लक्षण यह है कि, तद्वान् होकर अभेद हो। वयकी अपेक्षा न कर साथ ही जाति आदिके भावको सामने न लाकर असङ्गभावसे लोक और लोकेतर दोनोंका तादात्म्य हो जाये।

कार्य, कारण और कार्यकारणोभय भेदसे उठने वाले तीन भेद साक्षात् और असाक्षात् रूपसे कल्पित हैं। अतः (शिवशक्ति) परस्पर (यामलभावसे) पूजनीय और तर्पणीय हैं। आनन्दका सन्निधान होने से।

यामल यागके पहले यामल स्वरूपपर विचार करना आवश्यक है। विश्व संकोच और विकाससे परिपूर्ण है। यह ज्ञत्व और कर्तृत्वशक्तियोंका चमत्कार है। प्रकाश और विमर्शका सामरस्य है। उन्मेष और निमेषकी परम्परा है। एक ओर परभैरवके स्वातन्त्र्यका उत्कर्ष है और दूसरी ओर जड़ घट आदि पदार्थोंका स्फुरण है। 'अ' और 'ह' का मेलापक है जिससे 'अहम्' भावका उदय होता है। शिव और शक्तिका उल्लास है। स्वच्छता और मालिन्यका महोत्सव है। सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष और चिति तथा जड़का सङ्गम है। यह सभी भगवान् भूतभावनका यामलरूप ही है।

---

१. द्वादशार महाचक्रनायको भैरवः········। महार्थमंजरी का० ३५।

यामल यागमें अभेद और अद्वयवादका अनिवार्य आकलन होता है। शिव ही शक्तिरूप स्वातन्त्र्यसे संवलित है। संसारमें भी यही स्थिति होनी चाहिये। वय (उम्र) और जाति (जन्मके अनुसार कल्पित भेद) की अपेक्षा व्यवहारमें लौकिक और अलौकिक दोनोंका समन्वय अनिवार्य है। तादात्म्यके अभावमें कोई व्यवहार चल नहीं सकता।

यह जगत् कार्यरूप है। इसका कारण विमर्शशक्ति है। कहीं-कहीं कार्य-कारण सहभाव ही शक्ति बनकर सामने आता है। इसप्रकार ये तीन शक्तियाँ प्रमुख हैं। कुछ अन्य विभाग भी कल्पित किये जा सकते हैं। अतः कार्य, कारण और उभयात्म तीन प्रकारकी शक्तियोंके तादाम्य-बोधको जागृतकर इनकी अर्चना करनी चाहिये, उनका तर्पण करना चाहिये। इस प्रकारका व्यवहार-सिद्ध जीवन ही यामल यागका प्रतीक बन सकता है।

चक्रमर्चेत्तदौचित्यात् अनुचक्रं तथानुगम् ।
बहिः पुष्पादिनान्तश्च गन्धभुक्त्यासवादिभिः ॥
एवमानन्द-सन्दोहि-तत्तच्चेष्टोच्छलत्-स्थितिः ।
अनुचक्रगणश्चक्र-तादात्म्यादभिलीयते ॥

औचित्यका ध्यान रखकर पहले चक्रकी पूजा उसके बाद अनुचक्रोंकी पूजा होनी चाहिये। बाह्य पूजा फूल आदिसे आन्तरिक पूजा गन्धसे, भोज्य पदार्थोंसे और शिवामृतरस (आसव) से होती है।

इसप्रकार आनन्दके सन्दोह (राशि राशि) को प्रदान करने वाली उन उन यौगिक चेष्टाओं द्वारा (अथवा अर्चना या उपासना द्वारा) एक उच्छलनकी स्थिति होती है। उस दशामें) अनुचक्रोंके समुदाय चक्रोंकी तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं और उनमें अभिलीन हो जाते हैं।

चक्र शब्द आवर्त्त, भ्रमि, हंस, रथ चक्र, सेना, कुम्भचक्र और देश आदिके अर्थमें व्यवहृत होता है। मातृका चक्रका प्रयोग शिवसूत्रमें हुआ है। तन्त्रशास्त्रमें इस शब्दका प्रयोग श्रीपीठ, पञ्चवाह शक्तिचक्र[1], नेत्रचक्र, गुरुचक्र, मूर्तिचक्र, आनन्द और प्रकाशचक्र और वृन्द चक्र अर्थमें हुआ है। हठयोग प्रक्रियामें छः शिवचक्र और अनेक अनुचक्रोंका वर्णन है। बुद्धि, मन, दस इन्द्रियाँ मिलकर १२ चक्र होते हैं।

१. तं० ११/२८-२९।

अपना शरीर ही श्रीपीठ चक्र है। प्रमाताका आद्यस्पन्द, शक्ति प्रमाणरूप इन्द्रिय स्पन्द, वस्तु विषय स्पन्द और प्रमेयस्पन्द इन स्पन्दोंकी अभिव्यक्तिके प्रतीक आकाश, अप्, तेज, वायु और पृथिवीके पञ्चवाहोंका चक्र प्रसिद्ध है। इसीप्रकारके वाह अर्थात् परमेश्वरके स्फुरणकी धारायें पाँच-पाँचके क्रमसे शाश्वतरूपसे बह रही हैं। जैसे व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी और भूचरी। इसीप्रकार—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया, परा, सूक्ष्मा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप ५ वाक्, विमर्श, विन्दु, नाद, स्फोट और शब्द रूप पाँच वागात्मक क्रम भी पञ्च-वाह चक्रका ही स्वरूप है। शक्तितत्त्व छः चक्रोंवाला होता है। समना और इच्छा, क्रिया एवं ज्ञानके अनुलोम-विलोमभावके कारण ये भेद होते हैं। दाहिना नेत्र प्रकाश और बाँया आनन्दचक्र माना जाता है। ये दोनों नेत्र सूर्य और सोम रूप माने जाते हैं। मूर्तिचक्र मोहात्मक होता है। साथ ही मोहको प्रत्यभिज्ञासे उच्छिन्न भी करता है। इन चक्रोंके अतिरिक्त शरीरमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र प्रधानरूपसे उपासनामें उपयोगी हैं। इसके बाद ही ब्रह्मरन्ध्र और इन्द्रिय आदि अनुचक्रोंका क्रम आता है।

यागके औचित्यको ध्यानमें रखकर इन चक्रों और अनुचक्रोंका अनुवर्त्तन करना साधकका कर्त्तव्य है। गुरुदेव ही इसके साक्षी होते हैं। कहा जाता है कि, अधिकाधिक विधानसे किसी विकृतिकी सम्भावना नहीं होती। इसलिये अन्तर्यागके अतिरिक्त बहिर्यागमें गन्ध-पुष्प धूप-दीप और नैवेद्यका तन्त्रसाधक विरोध नहीं करता। ध्यानमें रखना चाहिये कि, आनन्दकी राशि प्रवाहित करने वाले चक्रों और अनुचक्रोंमें पृथक्ताका नहीं अपितु तादात्म्यका ही महत्त्व है। इसीलिए चक्रोंके माध्यमसे चिदैक्यकी दृढ़ताका ही अनुसन्धान करना चाहिये।

निजनिज भोगाभोग-प्रविकासमयस्वरूप-परिमर्शे।
क्रमशोऽनुचक्रदेव्यः संविच्चक्रं हि मध्यमं यान्ति॥
अनुचक्रदेवतात्मकमरीचिगण–पूरणाधिगतवीर्यम्।
तच्छक्तितद्वदात्मकमन्योन्यसमुन्मुखं भवति॥
तद्युगलमूर्ध्वधाम–प्रवेश–सस्पन्द–जात–संक्षोभम्।
क्षुभ्नात्यनुचक्राण्यपि तानि तदा तन्मयानि न पृथक्तु॥

अपने अपने भोग अभोगके प्रविकाससे संयुक्त 'स्व' का परामर्श होता है। परामर्शकी इस अवस्थामें क्रमशः अनुचक्रकी देवियाँ संवित् चक्रकी मध्यम भूमिमें प्रवेश करती हैं।

अनुचक्रकी देवताओंकी दिव्य किरणोंके समूहसे भरेपूरे शक्ति-शक्तिमान् पारस्परिक आनन्दसे एक दूसरेकी ओर उन्मुख होते हैं।

शक्तिशक्तिमान्के यामलभावके तादात्म्यकी अवस्थामें ऊर्ध्वधाममें प्रवेश होता है। उससे एक आनन्द-स्पन्द होता है। इस उच्छलनको एक प्रकारका क्षोभ मानते हैं। इस अवस्थामें अनुचक्रभी तन्मय हो जाते हैं और उनका पार्थक्य समाप्त सा अनुभूत होता है।

इन श्लोकोंमें भी स्वात्म स्वरूपके परामर्शका ही वर्णन किया गया है। साधकको अपने अन्तरमें निहारना आवश्यक है। वह देखे कि, किस प्रकार इस भोग और अभोगका विकास होता है और उसमें हमारी क्या स्थिति है ? वास्तवमें सारे चक्रों और अनुचक्रोंका अनुप्रवेश संवित्में ही होता है। संवित् ही पहले प्राण रूपमें परिणत होती है और ये सारे पञ्चवाही प्राण उसीमें समाहित होते रहते हैं।

साधनाके स्वरूपकी अन्तः प्रक्रियाका यहाँ विवेचन किया गया है। यद्यपि विना गुरुके इसकी सच्ची राह नहीं मिलती फिर भी परामर्शमें यह आकलन और अनुभूति तो साधकको होनी ही चाहिये कि, हमारे पीठ-शरीरमें जितनी भी चक्र और अनुचक्रात्मक शक्तियोंका समुल्लास हो रहा है, वह किसप्रकार संवित्के प्रकाशसे तादात्म्यभाव प्राप्त कर रहा है।

इस एक दूसरेकी ओर उन्मुख होने की स्थितिमें चिन्मय धाममें प्रवेशके क्षणमें एक प्रकारका आनन्दवाही प्रस्पन्द होता है। उसे हम क्षोभ कह सकते हैं। यह क्षोभ बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। सारे चक्रों और अनु-चक्रोंको क्षुब्ध कर देता है। उसी समय पार्थक्य प्रथा समाप्त हो जाती है और चिदैक्यका चमत्कार प्रस्फुरित हो उठता है[१]। इडा, पिंगला और सुषुम्नाके त्रिशूल धामका ऊर्ध्व स्थान पारमेश्वर प्रकाशके परामर्शका आदि स्थान है। वहाँ अनुप्रवेश साधकके सौभाग्यका विषय है।

---

१. तन्त्रसार प्र० पृ० ३३-३४ तं० ५।५४-६७।

इत्थं यामलमेतद् गलितभिदासंकथं यदैव तदा ।
क्रम तारतम्ययोगात् सैव हि संविद्विसर्गसंघट्टः ॥
तद्ध्रुवधामानुत्तरमुभयात्मकजगदुदारमानन्दम् ।
नो शान्तं नाप्युदितं शान्तोदितसूतिकारणं परं कौलम् ॥
अनवच्छिन्नपदेप्सुस्तां संविदमात्मसात् कुर्यात् ।
शान्तोदितात्मकद्वयमथ युगपददुदेति शक्तिशक्तिमतोः ॥

इस प्रकार शक्ति शक्तिमान् चक्र अनुचक्रों और देव देवियोंका यह यामलभाव आकलित होता है । इस अवस्थामें भेदविगलन हो जाता है । तभी क्रम और तारतम्यके योगसे संविद् और विसर्गका संघट्ट होता है ।

वह ध्रुवधाम है । वही अनुत्तर है । उभयात्मक है । वह उदार जगदानन्द है । उसकी शान्त संज्ञा ठीक नहीं । वह मात्र उदित भी नहीं है, अपितु शान्तोदित अवस्थाको उत्पन्न करने वाला महाकौल भाव है ।

अनवच्छिन्नपदको चाहने वाला, उस परा संवित् शक्तिको आत्मसात् करता है । शक्ति और शक्तिमान्के अन्तरालमें शान्तोदितात्मक यह द्वय एक साथ ही उदय होता है ।

अन्तः स्थित चक्र और बाह्य स्थित चक्र यह सभी स्वात्मरूप परमेश्वर के कल्लोल हैं । 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं' के अनुसार यह जगत् चक्र उसकी शक्ति है । और शक्तिमाँश्च महेश्वरः के अनुसार शक्तिमान् शिव हैं । इन दोनोंका विश्वाकार रूप ही यामल रूप है । इसकी दो कोटियाँ होती हैं । परमशिवके स्वातन्त्र्य पर्यन्त प्रथम कोटिका आकलन है और दूसरी कोटि अत्यन्त जड घट पाषाण आदि तक स्फुरित होती है । जैसे अ के साथ ह मिलकर विन्दुके वैभवसे 'अहम्' रूप यामल वाङ्मय पुरुषका आकलन होता है, उसी प्रकार शिवशक्तिका मेलापक रुद्रयामल कहलाता है । एक अवस्था गलित-भिदा है और दूसरी अवस्था तारतम्य क्रमके अनुसार संवित् शक्तिका विश्वविसर्ग है ।

इस प्रकार अनुत्तर ध्रुवधाममें अनुप्रवेशके लिये साधकको जगत्-का उदार आनन्द भी अनुप्रेरित करता है। उस धामको हम शान्त या शान्तोदित कुछ भी कहें—वहीं परम धाम है। वस्तुतः वही कौल अनुभूति है।

उस अखण्ड पदको प्राप्त करनेकी आकांक्षा साधक-हृदयों स्वाभाविकरूपसे उत्पन्न होती है। इसके लिये संविद्के उक्त विराट् स्वरूपका परामर्श करना चाहिये। इसके बाद उसे आत्मसात् करना चाहिये। शक्तिमान्का स्वरूप ऊपर वर्णित है। जिस तरह उसमें स्वातन्त्र्यपरामर्श की ऊर्ध्वकोटि और अत्यन्त जड़त्वमें दूसरी कोटिका आकलन है; उसी प्रकार एक ओर शान्त और दूसरी ओर उदित, इन दोनो कोटियोंका आकलन आवश्यक है। विश्वविसर्गमें ये दोनो साथ ही उदीयमान होती हैं।

स्वात्मान्योन्यावेशात् शान्तान्यत्वे द्वयोर्द्वयात्मत्वात्।
शक्तिस्तुतद्वदुदितां सृष्टिं पुष्णाति नो तद्वान् ॥
तस्यां चार्यं कुलमथ तया नृषु प्रोक्तयोग-संघट्टात्।
अथ सृष्टे द्वितयेऽस्मिन् शान्तोदितधाम्नि येऽनुसंदधते ॥
प्राच्यां विसर्गसत्तामनवच्छिदिते पदे रूढा।
उदितं च मिथोवक्त्रात् मुख्याद्वक्त्रे प्रगृह्यते च बहिः ॥

शान्त (विश्वोत्तीर्ण) और उदित (विश्वमय) प्रमाताका अन्योन्य आवेश (महत्त्वपूर्ण है) और उनका द्वयभाव भी (स्पृहणीय है) शक्ति शक्तिमान्की विश्वमय सृष्टिको पुष्ट करती है। शक्तिमान् नहीं।

शक्तिमें आर्य (आचार्य) कुल (शिव-विश्वमय) है। उन्हींके द्वारा मनुष्योंमें योग संघट्टका उपदेश होता है। शक्तिशक्तिमान्के इस द्वितयमें अर्थात् शान्तोदित धाममें जो विसर्ग सत्ताका अनुसन्धान करते हैं, वे अनवच्छिन्न परमपदमें आरूढ होते हैं। मुख्य वक्त्रसे कही गयी (उपदेशकी विधा) बाहर (बाह्ययागके लिये) ग्रहणकी जाती है।

परमेश्वरकी स्वातन्त्र्य रूपा विमर्श शक्ति ही माहेश्वर आचार्योंकी 'शक्ति' है। सांख्योंकी परा प्रकृति है। सौर मतवादियोंकी महारञ्जनी शक्ति है। सौगतोंकी तारा है। वेदवादियोंकी गायत्री है। हिरण्य गर्भ—मतवादियोंकी श्रद्धा है। अज्ञानियोंकी मोहिनी माया है। वही पाशुपतमत-वादियोंकी 'शान्ता' है।

जब शान्ता और उदिता दोनोंका आवेशक्रम साधक पार कर लेता है-तब वह तटस्थ द्रष्टा बन कर देख सकता है कि, शान्त शक्ति ही इस उदित सृष्टिका पोषण कर रही है। तद्वान् अर्थात् शक्तिमान्का यह कार्य नहीं होता है।

सारे उपदेश, सारी चर्या और यौगिक व्यवहारका निदर्शन वस्तुतः कुल दर्शन है। इसके अनुसार शान्त, उदित और शान्तोदित स्थितियोंकी सारीबातें साधकों, शिष्यों और जिज्ञासुओंके सामने खोलकर रख दी जाती हैं। बिरले ही इनका अनुसन्धान करते हैं। ऐसे खोजी जिज्ञासु साधक अपनी लगनसे अखण्ड विसर्गसत्ताके रहस्यका साक्षात्कार कर लेते हैं।

उदित शान्तका दूसरा पक्ष है। 'उदित' सृष्टि होती है। शिवके सद्योजात और वाममुखमें उदित सृष्टि चक्रको बाहर भी अर्थात् इस स्थूल अवस्थामें भी रहस्यके उल्लासकी दृष्टिसे देखना चाहिये।

तृप्तं देवीचक्रं सिद्धिज्ञानापवर्गदं भवति ।
शान्ताभ्यासे शान्तं शिवमेति यदत्र देवताचक्रम् ॥
शून्यं निरानन्दमयं निर्वृति-निजधामतोऽघं च ।
रण रणक रसान्निजरस-भरितबहिर्भाव चर्वणरसेन ॥
आन्तरपूर्णसमुच्छलदनुचक्रं याति चक्रमथ तदपि ।
उच्छलति प्राग्वदिति त्रिविधोऽन्वर्थो विसर्गोऽयम् ॥
एतद्विसर्गधामनि परिमर्शनतस्त्रिधैव मनुवीर्यम् ।
तत्तद् संविद्गर्भे मन्त्रस्तत्तत्फलं सूते ॥

तृप्त देवी चक्र सिद्धि, ज्ञान और अपवर्ग प्रदान करता है। शान्तके अभ्याससे देवताचक्र शान्त शिवभावको प्राप्त करता है। शून्य निरानन्द-मय निर्वृतिमय निजधाम सा अमूल्य पद प्राप्त होता है। नादके अनुर-णनके समान 'स्वात्मा' का भरापूरा आनन्द चर्वणरसमय अवस्थामें बाहर भी (अनुरणित) होता है। चक्रोंमें स्थित अन्तर उच्छलद् आनन्द बाहर अनुचक्रोंमें भी (हिल्लोलित होता है) जाता है।

विसर्ग तीन प्रकारसे अन्वर्थ ग्रहण करता है—१-उन्मेष २-उच्छ-लन और ३—अनुप्रवेश या संहार। यही भाव ऊपरके श्लोकमें है—१—निजरसभरित बहिर्भाव २-अन्तरपूर्ण समुच्छलन और ३—अनुचक्र प्रवेश। यह तीन प्रकारसे उल्लसित होता है।

विसर्गधामके उक्त तीन परामर्शोंके कारण मन्त्रोंमें भी यही तीन परामर्श सम्भव हैं। उक्त सारा व्यापार संविद्में सम्पन्न होता है। मन्त्रके फल भी (संविद्गर्भानुसार तीन प्रकारके ही) होते हैं।

इन चारों श्लोकोंमें मुख्यतया ५ विषयोंकी ओर संकेत किया गया है।

१— देवी चक्रकी तृप्तिसे साधनामें सिद्धि मिलती है, ज्ञानका प्रकाश प्राप्त होता है और अपवर्ग उपलब्ध हो जाता है।

२—शान्त (विश्वोत्तीर्ण परमेश्वरकी अनुभूतिका) अभ्यास करने पर समस्त करणचक्र अपने आप शान्त हो जाते हैं।

३— विसर्ग तीन प्रकारका होता है। पहला प्रकार है—शून्य और निरा-नन्द मय वह स्थान जिसमें अभी उच्छलन नहीं है। वह विन्दु जहाँसे विसर्ग होने वाला है। वही परमनिर्वृति मय निज धाम है।

दूसरा प्रकार है—आन्तरिकपूर्ण समुच्छलन। आनन्द अब देवी चक्रोंसे चल पड़ता है और तीसरा प्रकार जब वह अनुचक्रोंमें भी लहराने लगता है।

४—इस विसर्ग धाममें प्रभावित मन्त्रराशिमें एक अभिनव वीर्य (वीरस्य भावः) तेज भर जाता है। उनमें इसी प्रकारके तीन परामर्श होते हैं।

५—यह साराका सारा उच्छलन, यह आनन्दमय उल्लास, यह मन्त्र-चमत्कार संवित्स्वातन्त्र्यके गर्भमें सम्पन्न होता है। परिणामतः मन्त्र-प्रयोक्ताको मन्त्र प्रयोगके समय इसका ध्यान रखना चाहिये।

कोणत्रयान्तराश्रित-नित्योदित–मङ्गलच्छदे कमले ।
नित्याविर्युतं नालं षोडशदलकमल–सन्मूलम् ॥
मध्यस्थ–नाल-गुम्फित–सरोज-युगघट्टनक्रमादग्नौ ।
मध्यस्थ पूर्णशशधर–सुन्दरदिनकर–करौघसंघट्टात ॥
त्रिदलारुणवीर्यकला–सङ्गान्मध्येऽङ्कुरसृष्टिः ।
इति शशधरवासरपतिचित्रगुसंघट्टमुद्रया झटिति ॥
सृष्ट्यादिक्रममन्तः कुर्वंस्तुर्ये स्थितिं लभते ।
एतत्खेचरमुद्रावेशेऽन्योन्यं स्वशक्तिशक्तिमतोः ॥

त्रिशूलके तीनों कोणोंके मध्य भागमें स्थित मङ्गलमय पत्रोंवाले कमलसे शाश्वत सम्बन्धित नालमें ही षोडशदल कमल सुशोभित है। इससे नीचे नालमें ही दो कमलोंका संघटन होता है। उसमें अग्निका उद्दीपन है। यहीं चन्द्र सूर्य रश्मियोंका भी परस्पर मिश्रण है। इसके फलस्वरूप तीन दलोंमें अरुण वीर्य कलाके सङ्गसे मध्यमें अङ्कुरकी सृष्टि होती है।

सोम सूर्यकी चित्र-विचित्र सृष्टिमें संघट्ट मुद्राके द्वारा आत्म-विकास करते हुए सृष्टिके समस्त क्रमको आत्मसात् करते हुए तुरीय धाममें स्थिति प्राप्त हो जाती है। एक प्रकारकी यह खेचरी मुद्राका आवेश है। शक्ति और शक्तिमान्के पारस्परिक स्वात्मीकरणका आनन्द उपलब्ध करना चाहिये।

यह पूरा सन्दर्भ शरीरस्थ चक्रोंका है। शिखासे नखकी ओर जैसे एक सहृदय साहित्यकार नायिकाके सौन्दर्यका दर्शन करता है, उसीप्रकार एक गुरु साधकके शरीरमें सहज भावसे प्राप्त प्राकृतिक वरदानोंका रहस्य खोलता है।

षड् और त्रिकोणको चर्चा पहले अनेकशः की जा चुकी है। सहस्रदल कमल पर विराजमान देवी; समना, उन्मना और व्यापिनीके त्रिकोणोंकी मङ्गल मरीचियोंसे प्रकाशमान है। वे कमल पत्र जिन पर देवी शोभित

हो रही है, मङ्गल रूप हैं। उससे नित्य लगा हुआ 'नाल' नादान्त, नाद, निरोधिनी, अर्धचन्द्र और विन्दुसे होते हुये हाकिनी शक्तिके सहारे ब्रह्म-रन्ध्रसे षोडश दल वाले विशुद्ध चक्र तक पहुँचता है।

विशुद्धमें १६ दल होते हैं। वहाँसे नीचे अनाहत और मणिपूर दो ऐसे चक्र हैं, जिनमें मणिपूरमें तो स्वयम् अग्नि और उससे ऊपर अनाहतमें अग्निसखा वायु विद्यमान है। इडा और पिंगला नाडियोंसे सूर्य और चन्द्रकी किरणोंका निरन्तर सुखद मिश्रण साधकको उक्त सन्दर्भमें प्रतीत होता रहता है।

अन्तमें शषसका त्रिदल और 'व' का चौथा अमृत दल जोड़कर मूलाधार बनता है। 'व' की अमृत कलासे सिक्त 'स' के तीनों रूपोंसे 'लं' धरा बीजके माध्यमसे ब्रह्मा सृष्टिको अंकुरित हैं। सृष्टिमें अरुण रंग रज और वीर्यका मिश्रण अनिवार्य हो है।

इतनेका साक्षात्कार करने वाला साधक संघट्ट मुद्रासे (षडर-मुद्रासे) सबको आत्मसात् कर तुरीयधाममें अनुप्रवेश कर लेता है। खेचरी मुद्रामें सिद्ध हो जाता है तथा शक्तिमानके रहस्यको जान लेता है।

पानोपभोगलीला-हासादिषु यो भवेद्विमर्शमयः।
अव्यक्तध्वनिरावस्फोटश्रुति—नाद—नादान्तैः ॥
अव्युच्छिन्नाहत—परमार्थै—र्मन्त्रवीर्यं तत्।
गमनागमविश्रान्तिषु कर्णे नयने द्विलक्ष्मसम्पर्के ॥
तत्सम्मीलनयोगे देहान्ताख्ये च यामले चक्रे।
कुचमध्यहृदयदेशादोष्ठान्ते कण्ठगं यदव्यक्तम् ॥
तच्चक्रद्वयमध्यगमाकर्ण्य क्षोभविगमसमये यत्।
निर्वान्ति तत्र चैव योष्टविधो नादभैरवः परमः ॥

(खेचरी मुद्राकी सिद्धिमें तथा शक्ति-शक्तिमान्के आवेशकी दशामें अर्थात् सामरस्यकी दशामें) पान, उपभोग, लीला और हास्य आदिमें जो विमर्श होता है—वह अव्यक्त-ध्वनि-राव-स्फोट-श्रुति-नाद-नादान्त क्रमसे अव्युच्छिन्न अनाहतमें ही परमार्थतः अन्तर्भूत होता है। यह सब मन्त्र वीर्यका ही वैभव है।

श्वासके आगम-निर्गम, प्राण और अपानक्रममें, प्राणोंकी विश्रान्तिके क्षणोंमें, कानोंसे, आँखोंसे विषय सम्पर्क करनेसे, स्त्री-पुरुष सम्पर्कमें, सम्मीलनमें, देहान्त दशामें और यामल स्थितिमें (मन्त्र वीर्यका अनुभव करना चाहिये) ।

कुच (दोनों स्तनोंके) मध्यके हृदय देशसे ओष्ठोंके अन्त तक जो कण्ठमें गतिशील अव्यक्त चैतन्य है, वह दो चक्रोंके बोचमें परनादगर्भ विमर्शका उल्लास करता है। ये दो चक्र प्रतीक रूपसे दोनों द्वादशान्त हैं (जो ७२ अंगुलकी सीमामें उल्लसित हैं) इनके बीच गमागम व्यापार-का नाद योगी सुनता है। उसे सुनकर हो विमर्शकी पूर्णता होती है। क्षोभके विगमके समय यह अनुभव होता है कि, वहाँ आठ प्रकारका नाद रूप परम भैरव निर्वात अवस्थामें उल्लसित है।

शरीरको साधन धाम कहते हैं। इसकी सार्थकता भी इसीमें हैं। इस भौतिक व्यापारमें चिन्मयताका चमत्कार जब उजागर हो जाता है, तब यह जीवन धन्य हो उठता है। आवेश एक ऐसी ही दशा है। साधक समावेशकी उच्चभूमि पर पहुँचकर जो कुछ भी करता है, वह नये और विलक्षण विमर्शोंसे भरा होता है।

उसका रसास्वादन, उसका उपभोग, उसकी लीला, उसका हास्य सब सामान्यजनोंके इन व्यापारोंसे विलक्षण होते हैं। परमेश्वरका आमर्श चित्स्वभावतामात्र परनाद गर्भ होता है। उसी तरह शक्ति और शक्ति-मान्के समावेशसे आविष्ट साधकके आमर्श विमर्शमें आठ प्रकारके परम-नादभैरव उल्लसित होते हैं। ये क्रमशः १—अव्यक्त, २—ध्वनि, ३–राव, ४—स्फोट, ५—श्रुति, ६—नाद, ७—नादान्त और ८—अनाहत हैं।

प्राण और अपानके छोड़ने ओर लेनेमें, प्राणकी विश्रान्तिमें, श्रवणमें, दर्शनमें, मैथुन व्यापारके सम्पर्कमें, श्वासोंके संघट्टनमें, देहका अन्त, जहाँ श्वास समाप्त होते हैं 'द्वादशान्त' कहलाता है। उन शक्तियोंका पारस्परिक यामलभाव अनुभूतिका विषय है। इन आठ अवस्थाओंका उल्लास भी परभैरवभावकी सत्ताका ही स्फुरण है।

कुचमध्य एक निर्देशात्मक शब्द है। हृदयके कई अर्थ होते हैं। इस-लिये शरीरचक्रकी ओर इंगित करनेके लिये इस शब्दका प्रयोग किया गया है। अनाहत चक्रका 'यं' बीज वाय्वात्मक होता है। यह मणिपूर और

विशुद्धके बीचमें उल्लसित है। इन दोनोंके बीचमें ओष्ठ और कण्ठके अन्तरालमें यह अव्यक्त रूपसे विद्यमान है। इसका सुनना भी विचित्र है। इसकी अक्षुभित अवस्थामें और क्षुभित अवस्थामें भी नादभैरवका ही उल्लास स्पष्ट है।

ज्योतिर्ध्वनिश्च यस्मात् सा मान्त्री व्याप्तिरुच्यते परमा।
एवं कर्मणि कर्मणि विदुषः स्याज्जीवतो मुक्तिः॥
तज्ज्ञः शास्त्रे मुक्तः परकुलविज्ञानभाजनं गर्भः।
शून्याशून्यालयं कुर्यादेकदण्डेऽनलानिलौ।
शूलं समरसीकृत्य रसे रसमिव स्थितम्॥
त्यक्ताशङ्को निराचारो नाहमस्मीति भावयन्।
देहस्था-देवताः पश्यन् ह्लादोद्वेगादि चिद्घने॥
कर्णाक्षिमुखनासादि चक्रस्थं देवतागणम्।
ग्रहीतारं सदापश्यन् खेचर्य्या सिद्ध्यति ध्रुवम्॥

ज्योति और ध्वनि यह एक ही मान्त्री व्याप्तिके दो पहलू हैं। इसका परामर्श कर्ममें (व्याप्त रहने पर भी) विज्ञको जीवन्मुक्त (करनेमें सक्षम) है। इस (विज्ञान) का ज्ञाता शास्त्रमें (पारङ्गत होता है और) मुक्त (हो जाता) है। इस अवस्था में (समावेशमें) रहते हुए पुरुष यदि धर्मपत्नीसे सम्पर्क करता है और गर्भ रह जाता है तो, वह गर्भ परम कौलिक विज्ञानवेत्ता बन जाता है।

योगमार्गका आश्रय लेकर, मेरुदण्डको लम्बवत् रखते हुए और पिंगलाको सुषुम्नाके साथ ऊर्ध्व दण्डायमान करना चाहिये। शून्य और अशून्यका आलय वही सुषुम्नावाही मेरुदण्ड है। (इस स्थितिमें पहुँचा हुआ योगी) शूल-सामरस्य करे और जैसे जलमें मिलकर जल ही होता है, उसी तरह आत्मसत्ताको परमात्म सत्तामें मिला दे।

इस दशामें शङ्कातङ्ककलङ्क धुल जाता है। आचारकी सीमा टूट जाती है। यह मैं नहीं हूँ–यह भाव स्थिर हो जाता है। साधक देह स्थित करण आदि देवोंका द्रष्टा बन जाता है। उसके ही आह्लाद और

उद्वेग सब उसे नहीं छूते। चिद्घनके उल्लास बन जाते हैं। कान, आँख, मुख, नाक आदि अङ्ग चक्रस्थ देवरूप हो जाते हैं। जो साधक इनके ऊपर अधिकार कर लेता है अथवा तटस्थ द्रष्टा बनकर देखनेका बल प्राप्तकर लेता है, वह निश्चय ही खेचरी मुद्रासे सिद्धि प्राप्तकर लेता है।

इन पद्योंमें साधनाका स्वरूप दिग्दर्शित है। ज्योति, सिद्धि और नादसिद्धि यह योगके विषय हैं। मान्त्री व्याप्ति भी नादविज्ञानका विषय है। वस्तुतः वाक् प्रकाशरूपा होती है। संवित् स्वातन्त्र्यकी यह परावस्था है। जीवनके सारे व्यवहार निभाते हुए भी उस दशाकी अनुभूतिसे भूषित साधक जीवन्मुक्त है—यह निश्चय है। इस पुरुषसे रहनेवाला गर्भ भी कौलिक विज्ञानका जानकार होकर ही जन्म लेता है।

प्राण-अपान, इडा, पिंगला और सुषुम्ना, मेरुदण्ड[1], शून्य-अशून्य शूल[2] और सामरस्य यह सभी योगप्रक्रियाके प्रसिद्ध शब्द हैं। गुरुद्वारा इनकी जानकारी कर प्रत्येक साधक जीवन रसको महारसमें मिला सकता है।

शङ्का और वितर्क, आचार और विधि निषेधका भाव, मैं और मेरे पनका भाव ये जागतिक भौतिकभाव हैं। इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। शरीरकी करण देवियोंको देखना और उनको अपनी पकड़में रखना, प्रसन्नता और उद्वेग आदि भावोंको चैतन्यके उल्लासके रूपमें समझना तथा खेचरी मुद्राकी सिद्धि परम कौलिकके लिये सरल हो जाते हैं।

श्वभ्रे[3] सुदूरे झटिति स्वदेहं संपातयन् वासमसाहसेन।
आकुञ्च्य हस्तद्वितयं प्रपश्यन् मुद्रामिमां व्योमचरी भजेत॥

इत्येष यामल यागः॥

उक्तव्याप्तिके प्राणे विश्वमये प्रोक्तसंविद्व्याप्त्या तर्पणान्न-गन्धधूपादिसमर्पणेन उपोद्बलनं प्राणयागः विश्रान्तिरूढिषु संविद्यागः प्रागेव निरूपितः।

---

१. मा० वि० ७।१६ २. मा० वि० ८।८१।
३. तं०५।८३

श्वभ्रकुहर, सुषिर, विवर, बिल, छिद्र और रन्ध्र आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। डर अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। योग शास्त्र में पात शब्दका भी सामान्य अर्थ नहीं है। शाम्भवसिद्धोमें व्योमेशीशक्तियोंका उल्लास भी उनका पात ही माना जाता है। शक्तिपात है क्या ? शक्तिका पात ही तो है।

अपना शरीर ही पीठ है। इसमें शिवशक्तिकी ५ धारायें बहती हैं। १–व्योमेश्वरी या व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिग्चरी, गोचरी और भूचरी। सारे प्रपञ्चका वमनकरने वाली (वाम=वमन) व्योम वामेश्वरी कहलाती है। 'स्व'[1] (बोध रूप प्रमाता) में संचरण करनेके कारण वह वाहात्मक शक्ति 'खेचरी' कहलाती है। दिक् (अन्तःकरण) में चरणसे दिक्चरी है। इसी तरह 'गो' (इन्द्रियों) और 'भू' विषयोंमें रमने वाली शक्तियाँ गोचरी और भूचरी हैं। सर्वसामान्यमें रहनेवाली विशेषकर अखण्ड प्रमाताकी शक्ति ही व्योम वामेश्वरी है। बोधमयी शक्ति खेचरी होती है।

वृन्दचक्रके धाम, मुद्रा वर्ण, कला, संविद् पात और अनिकेत स्थितियों में दूसरे स्थानपर मुद्रा आती है। मुद्रायें ५ हैं। उनके बन्धका प्रकार है:– मृदु आसन, बाहुओं को आधा मोड़कर रखना, व्योममें अपने मनका प्रक्षेप, चिन्मय भावमें लय हो जाना, स्थूलताके प्रभावसे जड हुई दृष्टिका संहार आदि। वामेश्वरी और खेचरी वाच्य वाचक आदि सारे विकल्प रूपी विक्षोभोंको विलुप्तकर देने वाली तथा सुषुम्नाकी सीमाको पारकर स्वात्मसंविद्से तादात्म्य स्थापित कराने वाली मुद्रायें हैं।

उक्त सन्दर्भमें ही प्रथम श्लोक चरितार्थ है। महाविवरमें अपने अस्तित्वका प्रक्षेप ध्यान की ही स्थिति है। देह पातका अर्थ स्थूल जड़ दृष्टिका निराकरण है। सहज भाव ही असाहस है और ध्यान स्थितिही वहाँ निवास है। हाथोंका आकुञ्चन मुद्रा बन्धके अनुसार ही है। इस प्रकारकी साधनासे स्वात्म-परमात्मका यामल भाव पूर्ण हो जाता है।

इस महाव्याप्तिमें (विशेष+आप्ति-प्राप्ति में) प्राण विश्वमय बन जाता है। साधक सीमित स्वमें नहीं समा पाता है और सर्व ही उसका 'स्व' बन जाता है। इस अवस्थामें भी तर्पण अन्न, गन्ध, धूप आदिका समर्पण इनका उपोद्बलन करना प्राण याग है।

१. स्व० तं० १०।१२३७

इस अवस्थामें योगी जो अन्न ग्रहण करता है, जिस गन्धका प्रयोग करता है, धूप आदिसे जो वासित करता है—जिन पदार्थोंसे तृप्त होता है, वह लोक व्यवहारकी तरह नहीं होता। वह सब प्राण याग बन जाता है। उसकी तृप्तिसे विश्व-प्राण तृप्त हो जाते हैं। जहाँ तक संविद् यागका प्रश्न है—उसका निरूपण पहले ही किया जा चुका है।

इत्येवम् एतेभ्यो योगेभ्योऽन्यतमं कृत्वा यदि तथाविध-निर्विचिकित्सतापवित्रितहृदयः शिष्यो भवति, तदा तस्मै तद्याग-दर्शनपूर्वकं तिलाज्याहुतिपूर्वकनिरपेक्षमेव पूर्वोक्त-व्याप्त्या अनुसन्धानक्रमेण अवलोकनया दीक्षां कुर्यात्। परोक्ष-दीक्षादिके नैमित्तिकान्ते तु पूर्व एव विधिः। केवलम् एतद्यागप्रधानतया इति। गुरु शरीरे सप्तमः कुलयागः सर्वोत्तमः। सोऽपि प्राग्याग-साहित्येन सकृदेव कृतः सर्वं पूरयति इति शिवम्।

इसप्रकार इन यागोंमें अन्यतम (याग) कर यदि उसी तरहकी निर्विचिकित्सासे पवित्रित हृदय शिष्य हो जाता है, तो उसके लिये उस यागका दर्शन कराकर तिल घीकी आहुति दिलाकर निरपेक्ष (भावसे ही) पूर्वोक्त व्याप्तिके अनुसार अनुसन्धान क्रमसे देखते हुए दीक्षा करनी चाहिये।

परोक्षदीक्षादिमें नैमित्तिकके अन्तमें तो पहली विधि ही, केवल इस यागकी प्रधानता स्वीकारपूर्वक ही (मान्य है।) गुरुके शरीरमें सातवाँ कुलयाग ही सर्वोत्तम याग है। वह भी पहले (वर्णित) यागों सहित एक बार भी करने पर सब पूर्ण कर देता है। अतः ॐ नमः शिवाय।

कुल यागको छः भागोंमें बाँटकर इस अध्यायमें समझाया गया है। १—बाह्ययाग, २—शक्तियाग, ३—स्वदेहयाग, ४—यामलयाग, ५-प्राण-याग और ६—संविद्याग। इनमें पूर्वसे उत्तर उत्तर उत्कृष्ट हैं। इन यागोंमें सबसे उत्तम याग संविद् याग है। इसके करलेने पर शिष्य या साधक विचिकित्सा (संदेह, संशय, तर्क कुतर्क, अनास्था, अविश्वास आदि) से रहित हो जाता है। हृदय उसका अत्यन्त पवित्र हो जाता है। वह शास्त्र और गुरुके अनुशासनसे सन्तुष्ट हो जाता है।

ऐसे शिष्य दीक्षाके अधिकारी होते हैं। उन्हें दीक्षा देनी चाहिये। दीक्षाके पहले यागोंका स्वरूप शिष्यको दिखलाना आवश्यक है। याग सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों तरह सम्पन्न होते हैं। तिल और घी की आहुतिसे शक्तिचक्र आप्यायित होता है। इसके बिना भी आप्यायित करनेकी विधि है। सारी विधियोंको अपनाकर गुरु शिष्यके उत्कर्षक्रमको अनुसन्धान पूर्वक देखते हुए उसे आगे बढा दे और इस योग्य बना दे कि, उसे दीक्षा दी जा सके।

नैमित्तिकान्त परोक्ष दीक्षामें पूर्वोक्त सारे नियम और विधान ही स्वीकृत हैं। जैसी दीक्षा वैसा याग। इसका ध्यान रखना चाहिये। इन सब यागविधियोंके अतिरिक्त और सर्वोत्कृष्ट कुल याग है। वास्तवमें ऊपर कथित संविद्याग तो कुल यागका ही सर्वोत्तम विभाग है। इसीलिये इसे सप्तम कहा गया है। कहना चाहिये मूल याग। यह गुरु शरीर रूपी सर्वोत्तम पीठपर होना चाहिये। कुल षडध्व-स्फार रूप समस्त वेद्यके उल्लासको कहते हैं[1]। इसमें याग साहित्य भी आवश्यक है। साहित्य शब्दसे भाषाका साहित्य नहीं अपितु सारी विधियोंकी सहितताका भाव गृहीत है। किसी विधिसे करें—कुलयाग सारे अभावोंको भर देता है। अधूरे जीवन यज्ञको पूरा कर देता है। ॐ नमः शिवाय ॐ नमः शिवाय ॐ नमः शिवाय !

बाहोरि सत्तिदेहिणि अदेह इजामिलि पाणबुद्धिगुरुबोधइ ।
जो अणु संविदि सन्धि अरोहइ सो परइक्कुल लद्धणि सोहइ ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचिते तन्त्रसारे कुलयाग
प्रकाशनं नाम द्वाविंशमाह्निकम् ॥२२॥

इत्थं षडर्धक्रमसम्प्रदायं, सप्रत्ययाप्रत्ययभिन्नमाप्य
श्रीशम्भुनाथात्करुणारसेन स्वयं प्रसन्नादनपेक्ष्यवृत्त्या ॥
काश्मीरिकोऽभिनवगुप्तपदाभिधानः श्रीतन्त्रसारमकरोदृजुना क्रमेण
यत्तेन सर्वजन एष शिवं प्रयातु लोकोत्तरप्रसर शांभवतन्त्रसारम् ॥

कृतिस्तत्रभवच्छ्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य श्रीमदभिनवगुप्तपादानाम् ।
श्रीस्वात्मसंविदभिन्न रूपशिवार्पणं भूयात्, समाप्तं चेदं
तन्त्रसाराख्यं शास्त्रम् !

●

१—महार्थमंजरी का० ५८

संस्कृत छाया—

बाह्ये, शक्तिदेहे, स्वदेहे, यामले, प्राणे, बुद्धौ गुरुबोधतः।
यः अणुः संविदि सन्दधते, सः परमे कुलधर्मे शोभते॥

हिन्दी पद्यानुवाद—

बाह्य, शक्ति, शरीर, यामल, प्राण, बुद्धि समेत।
बोधमय पर स्वात्म संविद्से सदा समवेत॥
करे अनुसन्धान शिवका अणु बने अनिकेत।
परमकौलिकका यही कुलधर्म कुल-संकेत॥

शुभधराका स्वर्ग, सुन्दर देश यह कश्मीर
विज्ञ अभिनव गुप्तकी यह भू प्रकृति-प्राचीर।
मत-कुल-क्रम-त्रिक-नियममय शास्त्र रच मतिधीर
सिद्ध उसने कर दिया यह क्षीर है यह नीर।
रचा तन्त्रालोक पहले किया फिर संक्षिप्त
नाम रखा स्वयम् उसका तन्त्रसार सुदीप्त।
प्राप्तकर शिवका अनुग्रह स्वयं रह निरपेक्ष
सरल शिवताप्रद लिखा यह शास्त्र शिव सापेक्ष।
सुभग सहृदय-हृदयका शृंगार यह त्रिक तन्त्र
सदा स्वाध्यातव्य शिव-पद-प्रद परमप्रिय मन्त्र॥

श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यविरचित तन्त्रसारके 'कुलयाग प्रकाशन' नामक
बाइसवें आह्निकका डा॰ परमहंस मिश्र विरचित
नीर-क्षीर-विवेक-नामक महाभाष्य
सम्पूर्ण शुभं-भूयात्॥

वाराणसी—गुरुवार ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा २०४४ वैक्रमाब्द